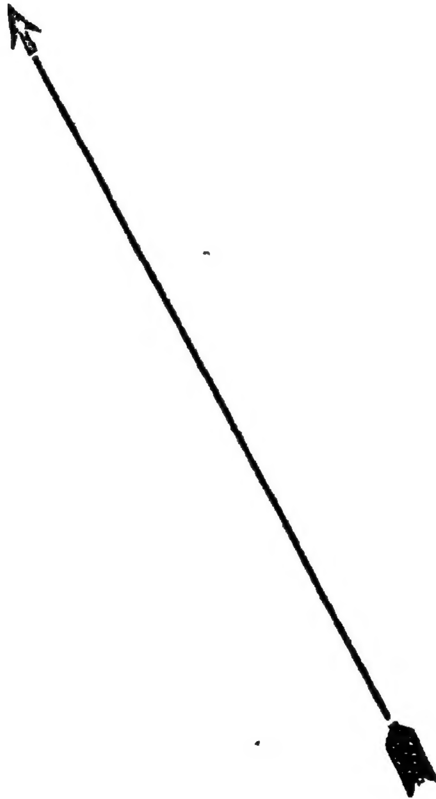





मूलचन्द किसनदास कापड़िया
मुद्रक
'जैन विजय' प्रेस-सूरत।

प्राक्कथन।

जिस समय 'पंचाध्यायी' का संपादन और प्रकाशनका कार्य चालू था उस समय स्वर्गीय श्रीयुक्त पं० हजारीलालजी न्यायतीर्थ दो वर्ष तक हमारे पास थे, उसी समय हमने और उन्होंने मिलकर सागारधर्मामृतका अनुवाद प्रारम्भ किया था। परन्तु 'पंचाध्यायी' का काम समाप्त हो जानेपर वे कारंजासे नातेपूते चले गये, इसलिये उस कामको बीचमें ही स्थगित कर देना पड़ा। पंडितजीके सहयोगसे केवल छह अध्यायके मूल श्लोकोंका अन्वयार्थ मात्र हो पाया था। अनन्तर उनका स्वर्गवास हो जानेसे और इस कामकी पूर्तिका अनुकूल अवसर न मिलनेसे यह काम बीचमें ही छोड़ देना पड़ा था। गत वर्ष श्रीयुक्त पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थकी प्रेरणासे हमने इस कामको फिरसे हाथमें लिया।

स्वर्गीय श्रीयुक्त पं० हजारीलालजी पहले किये हुए छह अध्यायके अन्वयार्थको नातेपूते लेते गये थे, जो उनके स्वर्गवास होनेके अनन्तर वहीं वहांके पंचोंके स्वाधीन था, जो श्रीयुक्त ब्र० गवजी जीवराजके मार्फत नातेपूतेके पंचोंके अनुग्रहसे हमें पुनः प्राप्त हुआ, उसका उपयोग लेकर हमने शेष अध्यायोंका अन्वयार्थ, सब श्लोकोंका भावार्थ, प्रत्येक श्लोककी उत्थानिका और विषयप्रवेश आदि संस्कृत टीकाके अनुसार लिखकर इस हिन्दी टीकाको पूरा किया।

इससे पहले यह ग्रन्थ चार बार छप चुका है, परन्तु सबमें संस्कृत टीका होनेसे इसमें हमने संस्कृत टीका नहीं जोड़ी है।

इसका प्रकाशन श्रीमान् सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया सूरतने किया है। हमें इस कार्यमें समय समय पर चि० पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री अमरावती और नरेन्द्रकुमारजी हिसीकर कारंजाका सहयोग मिलता रहा है। अतः हम उपर्युक्त सज्जनोंके अत्यंत आभारी हैं।

हमें इस बातका अत्यन्त दुःख है कि इस ग्रंथकी टीकाके प्रारम्भमें पूरा सहयोग देनेवाले हमारे परम मित्र स्वर्गीय पं० हजारीलालजी इस समय नहीं हैं। यदि हम उनके सहयोगसे इसे पूरा करते तो हमें और भी आनन्द होता।

विषय गहन है और ग्रंथ पांडित्यपूर्ण है, इसलिये जहाँ कहीं त्रुटि रह गई हो वहाँ विद्वान् पाठक आगमानुकूल उसका संशोधन करके स्वाध्याय करें।

महावीर ब्रह्मचर्याश्रम
कारंजा.
ता. २०-८-४०

नम्र—
देवकीनन्दन।

निवेदन।

सर्वाङ्गीण गृहस्थधर्म और मुनिधर्मको बतानेवाले यदि कोई शास्त्र जैनसमाजमें हैं तो वह विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमें लिखित विद्वद्वर्य पंडित आशाधरजी कृत **अनगारधर्मामृत** और **सागारधर्मामृत** ही हैं। अनगारधर्मामृतमें मुनिधर्मका और सागारधर्मामृतमें गृहस्थधर्मका विस्तृत कथन है। इन दोनों ग्रन्थराजोंमें अनगारधर्मामृत मूल (संस्कृत टीका सहित) माणिकचन्द्र दि०जैन ग्रन्थमाला द्वारा तथा भाषावचनिका सहित सेठ नाथारंगजी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकट हो चुका है और सागारधर्मामृत संस्कृत टीका सहित कईवार प्रकट हो चुका है। तथा **श्री पं० लालारामजी जैन शास्त्रीकृत** हिन्दी टीका सहित पूर्वार्ध और उत्तरार्द्ध अलग २ हमने वीर सं० २४४१ और वीर सं० २४४२ में प्रकट किये थे, उनके खतम हो जानेसे कई वर्षोंसे उनकी दूसरी आवृत्तिकी मांग हो रही थी इसलिये हम पुनः प्रकट करनेवाले थे कि हमें मालूम हुआ कि जैनसमाजके धुरंधर विद्वान् और श्री० स्वर्गीय वादिगज-केशरी न्यायवाचस्पति पं० गोपालदासजी वरैयाके अनन्यतम शिष्य **श्री० व्याख्यानवाचस्पति पं० देवकीनंदनजी सिद्धांतशास्त्री** कारंजा इस सागारधर्मामृतकी नवीन टीका बना रहे हैं, अतः इसवार वही प्रकट की जाय तो वह दि० जैन समाजको अधिक उपयोगी होगी। ऐसा विचार करके इस विषयमें उक्त विद्वान पंडितजीसे पत्रव्यवहार किया तो आपने इसे प्रकट करनेकी हमें सहर्ष स्वीकारता दी। यहाँ तक कि इसके परिश्रमका कुछ भी पुरस्कार लेना भी पंडितजीने उचित न समझा। फिर हमने इस महत् कार्यको छः माह हुए प्रारंभ किया था जो आज पूर्ण होकर पाठकोंके समक्ष आ रहा है।

इसके प्रारंभमें इस ग्रन्थके रचयिता **विद्वद्वर्य पं० आशाधरजी**का विस्तृत परिचय जैनसमाजके महान् साहित्यसेवी विद्वान् **पं० नाथूरामजी प्रेमी**से नये सिरेसे लिखाकर प्रकट किया है। तथा इसके अतिरिक्त प्रारंभमें सागारधर्मामृतके आठों अध्यायोंका सारांश व विस्तृत विषय-सूची और अन्तमें अकारादि क्रमसे श्लोकसूची भी, जो इस ग्रन्थके टीकाकार श्री० पं० देवकीनंदनजी शास्त्रीने परिश्रमपूर्वक तैयार कर दी है वह भी प्रकट कर दी है, जिससे सोनेमें सुगंधिकी कहावत चरितार्थ हो गई है। सारांश यह है कि इस ग्रन्थराजको जहाँतक होसका, सर्वांगसुंदर बनानेका प्रयत्न किया गया है।

अंतमें इस ग्रन्थराजकी निःस्वार्थ टीका कर देनेवाले जैनसमाजके धुरंधर विद्वान् **पं० देवकीनंदनजी सिद्धांतशास्त्री**का और मूल ग्रन्थकर्ता विद्वद्वर्य श्री० पं० आशाधरजीका विस्तृत परिचय तैयार कर देनेवाले जैन साहित्यसेवी **श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी**का हम हार्दिक आभार मानकर यह भावना भाते हैं कि भाषा टीकामय इस ग्रन्थराज द्वारा जैनसमाजमें सच्चे गृहस्थधर्मके पठनपाठन व पालनका प्रचार हो और शीघ्र ही इस ग्रन्थकी दूसरी आवृत्ति प्रकट करनेका सौभाग्य प्राप्त हो।

निवेदक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

—प्रकाशक।

सूरत-वीर सं० २४६६
आश्विन वदी ५
ता: २१-९-४०

विषय–प्रवेश।



पहला अध्याय।

ग्रन्थनाम।

पंडितप्रवर आशाधरजीने धर्मामृत नामका ग्रन्थ बनाया। उसके अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत इस प्रकार दो भेद हैं। जिनमेंसे प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरा भाग सागारधर्मामृत है। इसमें ग्रन्थकारने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित श्रावकधर्म सम्बन्धी ग्रन्थोंका खूब पर्यालोचन करके श्रावकधर्मके सम्बन्धमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म कथन आगम, युक्ति और अनुभव द्वारा किया है। इसीलिये इसका नाम सागारधर्मामृत रक्खा गया।

मोक्षप्राप्तिके उपाय व उनका श्रावकधर्मसे सम्बन्ध।

सभी आचार्योंने मनुष्यके लिये मोक्षप्राप्ति अन्तिम साध्य बताया है और उसके साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र बताये हैं। श्रावकधर्म भी इन तीनोंके एकदेश पालनसे होता है। इसलिये ग्रन्थकारने श्रावकके लक्षणमें श्रावकको पंचपरमेष्ठीके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाला, ज्ञानामृतके पानका इच्छुक और मूल तथा उत्तरगुणोंका पालनेवाला कहा है।

मिथ्यात्वके भेद और उनके दूर करनेकी आवश्यकता।

मिथ्यात्व या अतत्त्वरुचि गृहीत, अगृहीत और संशयके भेदसे तीन प्रकारकी है। इन तीनोंके कारण सामान्यरूपसे गृहस्थकी स्थिति विपर्ययके उन्मुख रहती है और इसके कारण मनुष्य आत्मदृष्टिसे दूर है। जिस आत्मदृष्टिकी प्राप्ति या मिथ्यात्वके त्यागसे ही आत्माका उद्धार होता है। अतएव इस मिथ्यात्वके बदलनेके लिये ग्रन्थकारने आसन्नभव्यता आदि पांच कारण बतलाये हैं। उनके सन्निधानसे यह जीव सम्यक्त्व प्राप्तिके योग्य होता है। उपर्युक्त पांच कारणोंमें देशनालब्धि भी एक कारण है।

उपदेशकी दुर्लभता।

परन्तु इस कालमें सच्चे उपदेश देनेवालोंकी दुर्मिलता है और उसीप्रकार उपदेश ग्रहणकरनेवाले योग्य पात्रोंकी भी दुर्मिलता है। इसलिये सभी अवस्थामें सम्यग्दृष्टि शिष्योंका मिलना कठिन है। अतः उनके अभावमें मन्दकषायी भद्र मिथ्यादृष्टियोंको भी उपदेश देकर उन्हें सन्मार्गपर लाना चाहिये। ग्रंथकारने इस भूमिकाको भी स्वीकार किया है।

श्रावक-धर्मके ग्रहण करनेकी पात्रता किस गृहस्थमें आती है इसके लिये ग्रन्थकारने न्यायोपात्त धन आदि चौदह गुण श्रावकके लिये आवश्यक बतलाये हैं। परन्तु जबतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति या मिथ्यात्वका मन्द उदय नहीं होता तबतक इन चौदह गुणोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये प्रकारांतरसे सम्यग्दृष्टि या भद्रपरिणामी ही श्रावक हो सकता है, इससे यही सिद्ध होता है।

श्रावकधर्मके योग्य गृहस्थ।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा सल्लेखनाका आचरण संपूर्ण सागारधर्म बताया है। जो प्राणी इसका भली प्रकार आचरण करता है उसके धर्म, सुख और कीर्तिकी प्राप्तिके साथ ही साथ जीवनकी भी सफलता होती है। उक्त तेरह प्रकारके धर्मको पाक्षिक अभ्यासरूपसे, नैष्ठिक आचरणरूपसे और साधक अपने पूर्व अभ्यासके द्वारा जीवनके अन्तमें आत्मलीन होकर पालता है जिससे परमात्मपदकी साधना होती है।

श्रावकधर्म और उसका फल।

संक्षेपमें पाक्षिकके लिये अवश्य करनेयोग्य देवपूजा, दत्ति, तप, संयम और स्वाध्याय, नैष्ठिकके लिये दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाएं और साधकके लिये शरीर, आहार और ईहितके त्यागपूर्वक आत्म-मनन पूर्ण श्रावक धर्म है।

दूसरा अध्याय।

दूसरे अध्यायमें पाक्षिकाचारका कथन है। आठ मूलगुणोंका धारण, सात व्यसनोंका त्याग, देवपूजा, गुरूपास्ति और पात्रदान आदि क्रियाओंका धारण करना पाक्षिकाचार है। धर्मका मूल अहिंसा और पापका मूल हिंसा है, इसलिये पापसे मुक्त होनेके लिये जिन वचनपर श्रद्धा रखते हुए तीन मकार और पांच उदम्बरोंके खानेका त्याग करना श्रावकोंके आठ मूलगुण हैं। स्वामी समन्तभद्रने तीन मकारोंके त्याग और पांच अणुव्रतोंके धारण करनेको आठ मूलगुण बताया है। भगवज्जिनसेनने मधुत्यागके स्थानमें द्यूतव्यसनके त्यागको बतलाकर स्वामी समन्तभद्रके मतानुसार ही आठ मूलगुण बतलाये हैं। तथा किन्हीं ग्रन्थोंमें जीवदया, जलगालन, पांच उदम्बरोंका त्याग, पांच परमेष्ठीको नमस्कार, मधुत्याग, मांसत्याग, रात्रिभोजन त्याग और मद्यत्याग ये आठ मूलगुण बतलाये हैं। ग्रन्थकारने इन सबके धारण करनेका उपदेश किया है।

आठ मूलगुण।

ऐसी आदतको व्यसन कहते हैं जिससे जीव श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट होता है। उसके सात भेद हैं। इन्हें ही प्रकारान्तरसे महापाप कहते हैं। इनका यावज्जीवन त्याग किये

सात व्यसनोंका त्याग।

बिना मनुष्यकी श्रावक धर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि व्यसन सात गिनाये हैं फिर भी श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट करनेवाली और जितनी भी आदतें हों उनका भी उपव्यसनरूपसे त्याग करनेका ग्रन्थकारने उपदेश दिया है।

देवपूजा।

अरिहन्त, सिद्ध, साधु, धर्म और जिनवाणी, इनकी पूजा दर्शनविशुद्धिके प्रबल करनेका कारण है। इसलिये श्रावकको अष्टद्रव्यसे नित्यपूजा, आष्टाह्निक पूजा, महामहपूजा, कल्पद्रुमपूजा और ऐन्द्रध्वजपूजा यथाविधि करना चाहिये।

गुरूपास्ति।

जैसे राजाका मन अनुरञ्जित करना उनके साथ शिष्टाचारका व्यवहार करना लोकाचारमें इष्ट है उसीप्रकार निष्कपट और अनुवृत्ति सहित मनोवृत्तिसे गुरुके मनमें स्थान पाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। वर्तमान मुनियोंमें पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनकी उपासना करनी चाहिये। उनके सामने हंसना, खेलना और अवनीतिपनेका वर्तन आदि निषिद्ध कर्म हैं।

दत्ति।

समयिक, साधक, समय द्योतक, नैष्ठिक और गणाधिप इन पांच श्रावकोंको दान देनेयोग्य धर्मपात्र माने हैं। इनको उत्तरोत्तर गुणानुरागपूर्वक दान देना चाहिये। तथा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति स्थिर रखनेके लिये दान देना चाहिये।

धनका नानाप्रकारसे विनियोग करते हुए गृहस्थको अपने साधर्मी भाइयोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये। जिसमें एक जैनत्व गुण मौजूद है उसके बराबर दूसरा कोई धन्य नहीं है। जो जैनत्व गुणके अनुरागसे प्रेम करता है वह जैनत्वका प्रचारक होनेसे एक दिन अपनी इस सद्भावनाके कारण उसके फलस्वरूप जैनशिरोमणि होकर मुक्तिका भी अधिकारी होता है। जैनत्व गुणके प्रति प्रेम करनेके मार्गोंमें एक मार्ग अपनी कन्या जैनधर्मानुरागीको देना है। वरमें वरके योग्य इतर गुणोंके साथ साथ जिनधर्मानुराग यह भी एक गुण है। अपनी कन्या ऐसे वरको प्रदान करनेसे उसके धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। तथा इसप्रकारके कन्यादानसे गृहस्थाश्रमके प्रदानका फल प्राप्त होता है। आधानादि क्रिया-मंत्रोंका प्रचार जारी रहता है। व्रतादिका उच्छेद नहीं होता है। तथा धर्म-संतति, अक्लिष्ट रति, व्रतकी उन्नति और देवादिका सत्कार ये भी उसके फल हैं। सत्कन्याके साथ साथ पृथिवी, स्वर्ण आदिका दान भी शक्त्यनुसार करना चाहिये।

जिसप्रकार वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये संतान उत्पन्न करना और उसे गुणी बनाना मनुष्यको इष्ट है उसीप्रकार जगद्बन्धु जैनधर्मकी परम्परा चलानेके लिये जैनमुनि उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना

चाहिये और उनमें गुणोंका विकास करनेके लिये भी सतत प्रयत्न करना चाहिये। कदाचित् प्रयत्न असफल भी रहे तौ भी प्रयत्न करनेवालेको पुण्यलाभ ही होता है। उसीप्रकार जो अपने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थमें सहायता करनेवाले हैं उनका भी यथोचित अनुग्रह करना चाहिये।

असाता कर्मके उदयसे दुःखी व आजीविकाहीन व्यक्तियोंके प्रति दयाबुद्धिसे उनके साथ सहानुभूति रखते हुए उन्हें सहारा देना चाहिये। अपने आश्रितों और अनाश्रितोंके भरण-पोषणके अनन्तर ही स्वयं भोजन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त लिये हुये अपने व्रतोंका पालन करना चाहिये। व्रत लेते समय पूरा विचार करें। परन्तु लेनेके अनन्तर उनका पूरा पालन करना चाहिये। यदि अज्ञान या प्रमादसे अतीचार लगे तो उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिये। सेव्य पदार्थोंका नियम करना व्रत है। अशुभसे निवृत्ति करना व्रत है या शुभमें प्रवृत्ति करना व्रत है। इसप्रकार देवपूजा, गुरूपास्ति और दान आदि सदाचारसंपन्न पाक्षिकाचाररूप धर्ममें पाक्षिक अहिंसाको प्रमाण मानता हुआ निरपराधी जीवोंकी रक्षा करे और जहांतक बने सापराधी जीवोंकी भी रक्षा करें। संकल्पी हिंसाका त्याग करे और दर्शनविशुद्धिके लिये तीर्थयात्रादि करे। कीर्तिके संपादनके लिये प्रयत्न करे। ग्रन्थकारने पापभंजक, दूसरोंमें न मिलनेवाले असाधारण गुणोंको विस्तृत करना ही कीर्तिसंपादनका मार्ग कहा है।

तीसरा अध्याय।

प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमके तारतम्यसे देशविरतिके दर्शन आदि ग्यारह स्थान हैं। उनमेंसे पहली दर्शन प्रतिमा है। पाक्षिक अवस्थामें आठ मूलगुण और सात व्यसनोंका त्याग अभ्यासरूपसे (स्थूलरूपसे) किया गया था। यहां वही व्रतरूपसे होनेके कारण निरतिचार होता है। दूसरे शब्दोंमें मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी दार्शनिक है। अतीचार सहित मिथ्यात्वके त्यागसे निरतिचार सम्यग्दर्शन होता है। सातिचार व्यसनोंके त्यागसे न्यायवान् होता है और निरतिचार आठ मूलगुणोंके धारण करनेसे अभक्ष्यत्यागी होता है। यदि दर्शन प्रतिमाके मूलगुणोंके धारण करनेमें और सात व्यसनोंके त्यागमेंसे किसी एक गुणमें दुर्लेश्याके कारण अतीचार लग जाय तो वह नैष्ठिक न रहकर पाक्षिक हो जाता है। यही क्रम आगेकी प्रतिमाओंमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रतिमाका जो व्रत है उसका उस प्रतिमामें निरतिचार ही पालन होना चाहिये। यदि उस प्रतिमामें उस व्रतकी अतीचार सहित प्रवृत्ति हुई तो वह उस प्रतिमामें स्थिर नहीं समझा जाता है। किन्तु जितनी प्रतिमाएं उसके निरतिचार होंगी, उतनी प्रतिमाधारी ही वह श्रावक रहेगा।

दार्शनिकको अनारम्भ वधका भी त्याग कर देना चाहिये। तथा उत्कृष्ट आरम्भ भी नहीं करना चाहिये। आरम्भके कार्य स्वयं न करके जहांतक बने यत्नपूर्वक दूसरोंसे करा लेना चाहिये और व्यावहारिक शांतिके लिये अपने सम्यक्त्व और व्रतोंकी रक्षा करते हुए लोकाचारको प्रमाण माने। उसमें किसीप्रकार विसंवाद न करे। अपनी स्त्रीको धर्म पुरुषार्थमें व्युत्पन्न बनावे। क्योंकि स्त्रीके विरुद्ध व अज्ञानी रहनेसे वह धर्मसे भ्रष्ट कर सकती है। यदि उसकी उपेक्षा की जावे तो वह उपेक्षा कभी २ वैरका कारण भी बन जाती है। इसलिये प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हुए स्त्रीको धर्ममें व्युत्पन्न करना चाहिये। उसीप्रकार कुलीन स्त्रियोंको भी अपने पतिके मनोनुकूल रहकर व्यवहार करना चाहिये। जैसे देह और मनके तापकी शांतिके लिये अन्नकी जितनी आवश्यक्ता हो उतनेका ही सेवन करना चाहिये। उसीप्रकार देह और मनके तापकी शांतिके लिये ही परिमित भोग भोगना चाहिये। क्योंकि उसके अतिरेकसे धर्म, अर्थ और कामका नाश होता है। तथा योग्य पुत्रोत्पत्ति और उसे योग्य बनानेके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये।

दार्शनिकके लिये विशेष शिक्षाएं।

ये दर्शन आदि प्रतिमाएं अतीचार रहित ही होती हैं। व्रतकी अपेक्षा रखकर व्रतके एकदेश-भंगको अतीचार कहते हैं। वह एकदेश भंग कहींपर अन्तर्वृत्तिरूप एकदेशव्रतके उलंघनसे होता है। ये अतीचार अज्ञान और प्रमादसे ही होते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक व्रतका भंग हो तो वह अनाचार समझना चाहिये, अतीचार नहीं। शास्त्राशायसे सभी व्रतोंके पांच पांच अतीचार बताये हैं परन्तु अतीचार केवल पांच पांच ही होते हैं, यह बात नहीं है किन्तु और भी हो सकते हैं जिसका ग्रन्थकारने 'पंचाप्यूह्यास्तथान्यथा:' वाक्यसे निर्देश किया है। अतीचार पांच होते हैं यह समझानेकी दृष्टि है, इसलिये इसीप्रकारके और भी जितने अतीचार हों उन्हें तर्कसे समझ लेना चाहिये। जैसे बिना निंदी हुई खेती फलप्रद नहीं होती है उसीप्रकार सातिचार व्रत इष्ट फलप्रद नहीं होते हैं। प्रतिमाओंमें भी सातिचार प्रतिमा वास्तवमें प्रतिमा नहीं रहती है। ग्रन्थकारने आठ मूलगुण आदिके सब अतीचारोंका विवेचन इसी दृष्टिकोणसे किया है।

चौथा अध्याय।

चौथे पांचवें और छठे अध्यायमें व्रतप्रतिमाका वर्णन है। उसमेंसे चौथे अध्यायमें तीन शल्योंसे रहित व्रती होना चाहिये, इसका वर्णन है। क्योंकि शल्य सहित व्रत निंद्य है, परिणाममें दुःखदायक होते है। आगे उत्तरगुणोंका सामान्य रूपसे उल्लेख करके फिर विस्तारसे पांच अणुव्रत और उनके अतीचारोंका वर्णन है। श्रावकोंके पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये

बारह उत्तरगुण हैं। व्रत प्रतिमाधारी श्रावक गृहविरत और गृहनिरतके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जो श्रावक घरमें रहकर व्रतप्रतिमाका पालन करते हैं उनके मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन छह अङ्गोंसे पांच पापोंका त्याग होता है। और गृहविरत श्रावकोंके अनुमोदना, कृत, कारित, मन, वचन और काय इन नौ भंगोंसे पांच पापोंका त्याग होता है।

चारित्रसारमें रात्रिभोजन त्याग नामका छट्ठा अणुव्रत और माना है परन्तु उसका 'आलोकित पान भोजन' नामकी भावनामें अन्तर्भाव होजानेसे इन्होंने उसे अहिंसाव्रतका पोषक माना है, स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि रात्रिभोजनके त्यागसे अहिंसाव्रतकी रक्षा होती है, मूलगुणोंकी शुद्धि होती है। रात्रिभोजन त्यागको स्वतन्त्र व्रत नहीं माननेका एक कारण यह भी है कि आचार्य–परम्परा पांच पांच व्रतोंके माननेकी है। इसलिये भी इसे स्वतन्त्र व्रत न मानकर उसका अहिंसाव्रतमें ही अन्तर्भाव कर लिया है।

जैसे ज्ञान जब स्थूल पदार्थको विषय करता है तब वह स्थूल ज्ञान कहलाता है, परन्तु वह जब सूक्ष्म पदार्थोंको विषय करता है तब वह विशाल ज्ञान कहलाता है, उसीप्रकार स्थूल हिंस्य आदि आश्रवके त्यागसे अथवा स्थूल व्यक्तियोंकी दृष्टिमें जो हिंसादि हिंसादिक पतेसे माने जाते हैं उनके त्यागसे जो व्रत होता है उसे अणुव्रत कहते हैं। और सूक्ष्म हिंसादिके त्यागको महाव्रत कहते हैं।

गृहविरत श्रावक आरम्भजनित हिंसा बिलकुल नहीं करता है। और गृहरत श्रावक अनारम्भजनित (संकल्पी) हिंसाका सर्वथा त्याग करदेता है। तथा आरम्भजनित हिंसाके प्रति यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है। सारांश यह है कि अहिंसाणुव्रतमें गृहरत श्रावककी अपेक्षा त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका सर्वथा त्याग रहता है। परन्तु जिस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागना अशक्य है उसे छोड़ शेष स्थावरोंकी हिंसाका भी उसके त्याग रहता है। क्योंकि मुक्तिका कारण केवल अहिंसा ही है। इसीप्रकारसे सत्याणुव्रती भी संपूर्ण भोगोपभोगके कारण पड़नेवाले वचनोंका त्याग नहीं कर सकता है किंतु अपने भोगोपभोगके उपयोगमें आनेवाले वचनोंको छोड़कर शेष सावद्य वचनोंका त्याग करता है।

अचौर्याणुव्रती भी सर्वसाधारणके उपभोगमें आनेवाली मिट्टी, जल आदि पदार्थोंको छोड़कर अन्य सभी अदत्त पदार्थोंका त्याग करता है। पड़ा हुआ मिल जाय तो उसको भी अदत्त समझकर ग्रहण नहीं करता है। जो अपने कुटुम्बी नहीं हैं उनके मर जानेपर राजवर्चस्वसे धनके सम्बन्धमें विवाद उपस्थित नहीं करता है। सारांश यह है कि जहां प्रमादकी संभावना है वहां विना दिया हुआ तृणका लेना या दूसरेको देना चोरी है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके विषयमें भी ग्रन्थकारने यही न्याय लगाया है कि जो, अब्रह्म (मैथुन) सर्वथा त्याज्य है, ऐसा मानते हैं परन्तु उसके त्यागनेमें असमर्थ हैं वे स्वदारसन्तोषरूप ब्रह्मचर्याणुव्रतका ग्रहण करते हैं। स्वदारसन्तोषरूप ब्रह्मचर्याणुव्रतका लक्षण करते समय 'अन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ' इस पदसे यह

ध्वनित किया है कि नैष्ठिक व्रतीके स्वदारसन्तोष व्रत होता है और अभ्यासोन्मुख व्रतीके परदार-निवृत्ति नामका भी व्रत हो सकता है।

परिग्रहपरिमाण व्रतका विचार करते समय चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओंमें 'यह मेरा है' इस संकल्पको भाव परिग्रह मानकर उसके कृश करनेसे उक्त तीनों प्रकारके परिग्रहोंके कृश करनेका नाम परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है। यह त्याग देश, काल, आत्मा और जाति आदिककी अपेक्षासे पूर्ण विचार करके करना चाहिये। परिमित परिग्रहको भी यथाशक्ति कम करते रहना चाहिये। कारण परिग्रह अविश्वासजनक है, लोभवर्द्धक है और आरम्भका उत्पादक है।

पांचवाँ अध्याय।

पांचवें अध्यायमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन है। अणुव्रतोंके उपकारक व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं। जैसे खेतकी रक्षा वाड़ीसे होती है उसी प्रकार अणुव्रतोंकी रक्षा गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंसे होती है। गुणव्रत बहुधा यावज्जीवनके लिये धारण किये जाते हैं। दिग्व्रतमें दशों दिशाओंकी मर्यादा भी की जा सकती है। और एक दो आदि दिशाओंकी भी मर्यादा की जा सकती है। ~~इसलिये ये व्यापक दिग्व्रतमें दशों दिशाओंकी मर्यादा भी की जा सकती है~~ यह इस ग्रन्थकी टीकामें विशेष पाया जाता है।

श्रावकके स्वरूपमें श्रावकको 'यतिव्रतकी लालसा रखनेवाला होना चाहिये' ऐसा विशेषण दिया है। उसकी आंशिक पूर्ति दिग्व्रतके मर्यादाके बाहर सर्व पापोंके त्यागसे होती है। तत्वार्थ-सूत्रके अनुसार ग्रन्थकारने भी दिग्व्रत, अनर्थदंड त्यागव्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रतको तीन गुण-व्रत माने हैं। और सामायिक, देशव्रत, प्रोषधोपवासव्रत तथा अतिथिसंविभागव्रत इन चारोंको शिक्षाव्रत माना है।

अनर्थदंडत्यागव्रतके प्रमादचर्या आदि पांच भेद हैं। भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें ही १५ खर कर्मोंका त्याग गर्भित है। वनमें आग लगाना, तालावको सुखाना आदि पापबहुल क्रूर कर्मको खर कर्म कहते हैं।

स्वामी समंतभद्रके द्वारा वर्णित त्रसघात, बहुघात, प्रमाद, विषय, अनिष्ट और अनुपसेव्यका वर्णन भी भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें समाविष्ट किया है। एकवार भोगे जानेवाले पदार्थको भोग और वारवार भोगमें आनेवाले पदार्थको उपभोग कहते हैं। इन दोनोंका यम और नियमरूपसे त्याग इस व्रतमें किया जाता है। परन्तु स्वामी समंतभद्रने देशव्रतको गुणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रतको शिक्षाव्रत माना है।

शिक्षाप्रधान व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं। जैसे देशावकाशिक व्रतमें प्रातःकाल भी सामायिकके अनंतर दिनभरके लिये जो क्षेत्रविशेषकी अपेक्षा नियमविशेष किये जाते हैं, उससे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है। सामायिक और प्रोपधोपवासमें भी विवक्षित मर्यादातक समताभाव कायम रहनेसे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है। इसीप्रकार अतिथिसंविभाग व्रतमें भी सर्व परिग्रह-त्यागी अतिथिका आदर्श सामने रहनेसे सर्व पापोंके त्यागके प्रति आदर करनेकी शिक्षा मिलती है।

छठा अध्याय।

दूसरी प्रतिमाधारीकी दिनचर्या।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर नमस्कार मंत्रका जाप करके और प्रातर्विधिसे निवृत्त होकर श्रावकको घरके चैत्यालयमें जिनेन्द्र देवकी पूजन करना चाहिये, अनन्तर ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक नगरके मंदिरमें जाना चाहिये। वहां पूजन करे, धर्मात्माओंको प्रोत्साहन दे, स्वाध्याय करे और आपत्तिमें फँसे हुए श्रावकोंका उद्धार करे। मंदिरजीसे आकर न्याय्यवृत्तिसे अर्थ पुरुषार्थके लिये प्रयत्न करे। फिर घर जाकर मध्याह्न सम्बंधी पूजन करे और भोजन करनेकी तैयारी करते समय "अपने लिये तैयार हुआ भोजन मुनियोंको पहले दूं" इसके लिये द्वारापेक्षण करे। अनन्तर पात्र-लाभ होनेपर आहार देकर आश्रित और अनाश्रित जीवोंके भरण पोषणपूर्वक स्वयं भोजन करे। भोजनोपरांत विश्राम लेकर तत्त्वज्ञान सम्बंधी चर्चा करे। सायंकालमें वन्दनादि कर्म करके रात्रिमें योग्य कालमें थोड़ी निद्रा ले। जब मध्याह्नसमयमें भोजन करे तब ऐसी भावना करनी चाहिये कि मैं मुनि कब होऊंगा। और रात्रिमें निद्रा टूट जानेपर भी बारह भावनाओंका चिंतवन करे। वैराग्यका चिंतवन करे। और विचार करे कि इस देहको ही आत्मबुद्धिके संकल्प द्वारा मैंने अपनी आत्माको कर्मसे बांध रक्खा है, इसलिये इस बंधके कारणरूप मोहके उच्छेदके लिये मैं प्रयत्न करता हूं। बन्धसे देह, देहमें इन्द्रियां, इन्द्रियोंसे विषयग्रह और विषयग्रहसे पुनः बन्ध, इस अनादि मोहचक्रका मैं अवश्य नाश करूंगा। जो कामवासना ज्ञानियोंके संग, तपस्या और ध्यानसे भी नहीं जीती जा सकती है वह केवल इस भेदविज्ञानसे ही जीती जाती है। भेदज्ञानके लिये जिन्होंने राज्यका भी त्याग कर दिया वे धन्य हैं और इस गृहस्थाश्रममें फँसे हुए हमें धिक्कार है। मेरे अन्तःकरणमें जो स्त्री और समस्त्रीका द्वंद्व चालू है उसमें न मालूम कौन जीतता है। इस समय स्त्री ही जीतेगी क्योंकि वह मोहराजाकी सेना है। यदि स्त्रीसे मैं विरक्त होजाऊं तो परिग्रहका त्याग बहुत सरल है। प्रतिसमय आयु गल रही है, शरीर शिथिल होरहा है, इसलिये इन दोनोंमेंसे मैं किसीको भी निज पुरुषार्थकी सिद्धिमें साथी नहीं मान सकता। विपत्तियों सहित रहकर भी जिनधर्मका धारण करना अच्छा है,

किंतु सम्पत्ति सहित रहकर जिनधर्मका त्याग अच्छा नहीं। मुझे वह दिन कब मिलेगा जब मैं समता-रसका पान करूंगा। वह दिन कब आयगा जब मैं परम यति होकर समरसस्वादियोंके मध्य बैठूंगा। वह निर्विकल्प ध्यान कब प्राप्त होगा कि जिसके शरीरको ठूंठ समझकर जंगलके जानवर खाज खुजाते हैं। महा उपसर्ग सहनेवाले जिनदत्तादि श्रावकोंको धन्य है, जिनपर घोर उपसर्ग आनेपर भी जो अपने ध्यानसे च्युत नहीं हुये।

इसप्रकार दिनचर्या पालनेवाले श्रावकके गलेमें स्वर्गश्री मुक्तिश्रीकी ईर्ष्यासे माला डालती है।

सातवां अध्याय।

इसमें सामायिक आदि नौ प्रतिमाओंका स्वरूप बतलाया है। ग्यारहवींमें इतनी विशेषता है कि उसके क्षुल्लक (प्रथम) और ऐलक (द्वितीय) ये दो भेद हैं। क्षुल्लक

प्रतिमाओंका स्वरूप।

~~कमंडलु और~~ पीछी नहीं रखता है, खंडवस्त्र धारण करता है, छुरा या कैंचीसे बाल निकलवाता है वह क्षुल्लक है। एकभिक्षानियम और अनेक-भिक्षानियमके भेदसे वह दो प्रकारका है। एकभिक्षानियमवाला क्षुल्लक मुनियोंके आहार लेनेके अनन्तर आहारको निकलता है। और अनेक भिक्षानियमवाला क्षुल्लक अनेक घरोंसे भिक्षा मांगकर जहां प्रासुक पानी मिलता है वहां आहार करलेता है।

जो लंगोटी मात्र वस्त्रको धारण करता है, पीछी और कमण्डलु धारण करता है, केशलोंच करता है। और बाकीके सभी नियम एकभिक्षानियमवाले क्षुल्लकके

ऐलक।

समान पालता है उसे ऐलक कहते हैं। शास्त्रमें इसे आर्य संज्ञा दी है। परस्परमें ये सब नैष्ठिक एक दूसरेसे मिलते समय 'इच्छामि' बोलते हैं।

जो पूर्वकी दोनों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ तीनों कालोंमें निरतिचार सामायिकको करता है उसको सामायिक प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी तीनों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ निरतिचार प्रोषधोपवास व्रतको पालन करता है उसको प्रोषधोपवास प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी चारों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ सचित्त आहारादिकका त्याग करता है उसको सचित्तत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी पांचों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ दिनमें मैथुन सेवनका त्याग करता है उसको दिवामैथुनत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी छहों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ स्त्री मात्रका त्याग करता है उसको ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी सातों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ सेवा, कृषि, वाणिज्यादि गृहसम्बंधी सम्पूर्ण आरम्भोंका त्याग करता है उसको आरम्भत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी आठों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ रागद्वेषादि आभ्यंतर परिग्रहोंकी मन्दतापूर्वक क्षेत्र वास्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमेंसे आवश्यक वस्त्र और पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसको परिग्रहत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी नौ प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ आरम्भादिक पाप कार्योंमें अनुमतिका त्याग करता है उसको अनुमतित्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

जो पूर्वकी दशों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ उद्दिष्ट भोजन वगैरहका भी त्याग कर देता है उसको उद्दिष्ट त्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

इस प्रकार अनुक्रमसे पूर्व २ की प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ ही आगे २ की प्रतिमाओंका पालन करना चाहिये। क्योंकि जबतक आगे २ की प्रतिमाओंमें पूर्व २ की प्रतिमाओंके गुणोंका पालन नहीं किया जाता है तबतक आगे २ की प्रतिमाओंमें प्रतिमापना ही नहीं आसकता है। और न योग्य रीतिसे उनका पालन भी होसकता है। इसलिये ही आगे २ प्रतिमाओंमें पूर्व २ की प्रतिमाओंके गुणोंका पालन करना आवश्यक बताया गया है।

आठवां अध्याय।

सल्लेखना और समाधिमरणका स्वरूप।

इस अध्यायमें साधकका वर्णन है अर्थात् सल्लेखनाका वर्णन है। भले प्रकारसे कषाय और कायको कृश करना सल्लेखना शब्दका निरुक्ति पूर्वक अर्थ है। यदि मुनि होकर धर्मसाधनकी सामग्री मिलती हो तो सल्लेखना करनेकी श्रावकको आवश्यक्ता नहीं है। मुनिव्रतकी सामग्रीके अभावमें ही सल्लेखना करनेका विधान है। जिसका प्रतीकार करना अशक्य है ऐसे बुढ़ापा, रोग, दुर्भिक्ष आदिके उपस्थित होने पर सल्लेखना करनेका विधान है।

श्रावक व मुनि दोनों ही सल्लेखना करते हैं। जो श्रावक सल्लेखना करते हैं वे साधक कहलाते हैं। जबतक शरीर स्वस्थ रहे तबतक उसका अनुवर्तन करना चाहिये। परन्तु जब शरीरके प्रति अन्नका कोई उपयोग ही नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें वह शरीर त्याज्य है। उपसर्गके कारण अथवा निमित्त

ज्ञानसे शरीरके क्षयको देखकर या अनुमानसे निश्चित करके सल्लेखना करके अभ्यस्त अपने व्रतोंको सफल बनानेका उपदेश है।

जब इकदम मरणकी संभावना हो तो उसी समय प्रायोपगमन करना चाहिये। अर्थात् फलके समान पक कर आयुके क्षय होनेपर इकदम प्रायोपगमन करना चाहिये।

गणमध्यमें सल्लेखना की जाती है। यदि कोई पूर्वार्जित तीव्र कर्मका उदय अंतसमयमें न आवे तो व्रतोंके अभ्यास करनेवाले साधकके गणके निमित्त मिलते हुये अवश्य ही सल्लेखना सफल होती है। दूर भव्यके लिये मुक्तिके दूर होनेपर भी यत्न करना ही चाहिये। क्योंकि अशुभ कर्मके निमित्तसे नरकमें रहनेकी अपेक्षा धर्मके यत्नसे स्वर्गनिवास अच्छा है। जीवके मरण समय जैसे परिणाम होते हैं तदनुसार उसका आगेकी गतिमें गमन होता है। इसलिये मरण समयका बड़ा माहात्म्य है। यदि उससमय निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जावे तो मुक्ति होती है। अन्तसमयके सुधारनेके लिए स्वयं सावधान रहना चाहिए। संघमें जाकर निर्यापकाचार्यके सुपुर्द होजाना चाहिए और जैसी विधि परिणामोंकी शांतिके लिए वे आचार्य बतावें, साधकको करना चाहिए।

समाधिके लिए तीर्थस्थानमें जाना चाहिए। निर्यापकाचार्यकी तलाश करनी चाहिए, तीर्थ प्रस्थानके समय अथवा निर्यापकाचार्यके ढूंढ़ते समय यदि मरण होजावे तो उस साधककी समाधि भावनाके कारण सिद्ध समझी जाती है।

तीर्थकी तथा आचार्यकी तलाशको जाते समय सबसे क्षमा मांगनी चाहिए, क्षमा करना चाहिए, व योग्य क्षेत्र व कालमें विशुद्धि रूपी अमृतमें अभिषिक्त होकर पूर्व या उत्तरको मुंह करके समाधिके लिए तयार होना चाहिए।

जिन देहके दोषोंके कारण, मुनिव्रत वर्जित समझा जाता था, समाधिके समय क्षपकके लिए उन दोषोंसे सहित होनेपर भी मुनिव्रत दिया जासकता है।

आर्यिकाओंको भी आर्यिका ऐसे समयमें नग्न दीक्षारूप उपचरित महाव्रत देसकती है। जो महर्द्धिक लज्जावानोंको तथा मिथ्यात्व बंधुवालोंको साधारण स्थानमें मुनिव्रत निषिद्ध है उनको भी समाधिके समय मुनिव्रत दिया जासकता है।

समाधिमरणके समय मुनि तो पुनः २ मुनिपदकी भावना भाते ही हैं परन्तु श्रावक भी मुनिपद मांगे तथा भावना भी भावे। और ऐसी भावना भावे कि परद्रव्य ग्रहणसे मैं अनादिकालसे बंधा हूं, इसलिए मुझे मोक्ष आत्मग्रहण रूप आत्मलीनतासे हो सकता है।

पांच शुद्धि और पांच विवेकपूर्वक समाधिमरण करे। पांच अतीचारोंको टाले। निर्यापकाचार्य

क्षपकको नानाप्रकार आहार उस समय दिखावें, उनको देखकर कोई उन सबसे विरक्त होता है, कोई उनको देखकर बहुतसे छोड़कर किसी एककी चाह करता है, कोई एकाध पदार्थमें आसक्त होता है। उनमेंसे जो आसक्त होता है उसकी उस पदार्थकी तृष्णाको निर्यापकाचार्य ज्ञानाख्यानसे निवारण करे। और उसका आहार कम करके पेय पदार्थ देनेकी वृद्धि करावे। फिर पेय भी कम करवाकर गरम जलपर लावे, फिर अन्त समयमें उसका भी त्याग करावे। अथवा इतने क्रमके पूर्ण करनेका समय न हो तो इकदम उपवास देवे।

किसीको पैत्तिक रोग वगैरह हो तो उसकी अपेक्षासे, गरम जल लेनेका विकल्प किया जा सकता है, पर अन्तमें उसका भी त्याग कराकर क्षपकको संस्तरपर ले जावे और उसकी समाधिसिद्धिके लिए अनुभवी मुनियोंकी नियुक्ति करे और वहांपर उसको अध्यात्मका उपदेश देवे। "यह क्षपक अब संस्तरपर आरूढ़ होता है" इसकी सूचना संघको देवे और वह आचार्य तथा संघ क्षपकके परिणामोंकी शांतिके लिए उससे किसी ब्रह्मचारीकी मारफत क्षमा मांगे और क्षमा करे तथा कायोत्सर्ग करे तथा कानमें संवेग और वैराग्यजनक मन्त्र देवे और अन्तिम यह उपदेश देवे कि भो क्षपकराज! यह तुम्हारी अन्तिम सल्लेखना है, इसे अतीचारोंसे बचाओ, अब मिथ्यात्वका वमन करो, सम्यक्त्वको भजो, अर्हद्भक्ति करो, भावनमस्कार करो, महाव्रतोंकी रक्षा करो, इन्द्रियोंको वशमें करो, कषायोंको जीतो, जातिके समान मुनिलिङ्गकी भी ममता छोड़कर आत्मलीन हो, इत्यादि।

मुनिकी अपेक्षा—उत्तम आराधनासे मुक्ति, मध्यमसे इन्द्रादिक पदवी और जघन्य आराधनाकी सफलतासे ७–८ भवमें मुक्ति होती है। मरते समय निश्चय रत्नत्रय और निश्चय तप आराधनमें तत्परता होनी चाहिए। श्रावक भी सल्लेखनाके प्रतापसे अभ्युदय और परम्परासे मुक्ति पाता है।



सागारधर्मामृतके मूलकर्त्ता

पंडितप्रवर आशाधर

अबसे कोई ३२ वर्ष पहले जैनहितैषीमें मैंने इस महान् विद्वानका विस्तृत परिचय दिया था जो पीछेसे मेरे 'विद्वद्रत्नमाला' नामक लेख-संग्रहमें पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। कापड़ियाजीके अनुरोध करने पर पहले तो सोचा कि उक्त लेखको ही संशोधित परिवर्द्धित करके सागारधर्मामृतकी भाषा-टीकामें दे दिया जाय, परन्तु जब संशोधित करने बैठा, तब उसमें बहुतसे दोष नजर आये और ऐसी बहुत-सी नई बातें मालूम हुईं जो ठीक स्थानोंपर नहीं शामिल की जासकती थीं। इसलिये अन्तमें यही निश्चय करना पड़ा कि उसे फिरसे लिखा जाय और उसके फलस्वरूप यह निबन्ध पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता पण्डित आशाधर एक बहुत बड़े विद्वान हो गये हैं। मेरे खयालमें दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्त्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयोंपर उनका असाधारण अधिकार था। इन सभी विषयोंपर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, इतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दिखाई पड़ते हैं। और इसी कारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रन्थोंपर टीका लिखनेके लिए वे प्रवृत्त हुए। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते तो मालवनरेश अर्जुनवर्मा, राजगुरु बाल-सरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके सन्धिविग्रह-मन्त्री कवीश बिल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते। इतना बड़ा सम्मान केवल सांप्रदायिक विद्वानोंको नहीं मिला करता। वे केवल अपने अनुयायियोंमें ही चमकते हैं, दूसरों तक उनके ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच पाता।

उनका जैनधर्मका अध्ययन भी बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि अपने समयके तमाम उपलब्ध जैन साहित्यका उन्होंने अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वा-नोंके मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। वे 'आर्षं संदधीत न तु विघटयेत' के माननेवाले थे, इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मतभेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह एकता स्थापित हो सकती है, सो बतलाया है।

पण्डित आशाधर गृहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे उपरत अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्त्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्यकल्प कहकर स्मरण किया है और तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने तो उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं मुनि उदयसेनने उन्हें 'नय-विश्वचक्षु' और 'कलिकालिदास', मदनकीर्ति यतिपतिने 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट होता है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

उन्होंने अपनी प्रशस्तिमें अपने लिए लिखा है कि 'जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्' अर्थात् जो जैन धर्मके उदयके लिए धारानगरीको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में आकर रहने लगा। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजात-मञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारानगरीमें ८४ चौराहे थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके पण्डितों और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी*। वहाँ 'शारदा-सदन' नामका एक दूर दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने धारामें ही व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिसपर हरएक विद्वानको मोह होना चाहिये पण्डित आशाधरने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते देखकर उसके उदयके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया।

वे लगभग ३५ वर्षके लम्बे समयतक नालछामें ही रहे और वहाँके नेमि-चैत्यालयमें एकनिष्ठतासे जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना नालछाके उक्त नेमि-चैत्यालयमें ही हुई है। और वहीं वे अध्ययन अध्यापनका कार्य करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं, जो उन्हें धाराके 'शारदा-सदन' के अनुकरण पर ही जैनधर्मके उदयकी कामनासे श्रावक-संकुल नालछेके उक्त चैत्यालयको अपना विद्यालय बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो। जैनधर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

ऐसा मालूम होता है कि गृहस्थ रहकर भी कमसे कम 'जिनसहस्रनाम' की रचनाके समय वे संसार-देहभोगोंसे उदासीन हो गये थे और उनका मोहावेश शिथिल होगया था।+ हो सकता है कि

---

* चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने...सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविद्यसहृदयकलाकोविदरसिकसुकविसंकुले...
—पारिजातमंजरी

\+ प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः।
—जिनसहस्रनाम

उन्होंने गृहस्थकी कोई उच्च प्रतिमा धारण कर ली हो, परन्तु मुनिवेश तो उन्होंने धारण नहीं किया था, यह निश्चय है। हमारी समझमें मुनि होकर वे इतना उपकार शायद ही कर सकते जितना कि गृहस्थ रहकर ही कर गये हैं।

अपने समयके तपोधन या मुनि नामधारी लोगोंके प्रति उनको कोई श्रद्धा नहीं थी, बल्कि एक तरहकी वितृष्णा थी और उन्हें वे जिनशासनको मलिन करनेवाला समझते थे जिसको कि उन्होंने धर्मामृतके एक पुरातन श्लोकको उद्धृत करके व्यक्त किया है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

पण्डितजी मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के रहनेवाले थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर अपने चारित्रकी रक्षाके लिए वे मालवाकी राजधानी धारामें बहुत-से लोगोंके साथ आकर बस गये थे।

वे व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल जातिके थे जो राजपूतानेकी एक प्रसिद्ध वैश्यजाति है।

उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरानी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है—"रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसंमतेन राजगुरुणा मदनेन+। अर्थात् यह दानपत्र महासान्धिविग्रहिक मंत्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीं अर्जुन-वर्माके राज्यमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे और ये राजगुरु मदन भी वही हैं जिन्हें पं० आशाधरजीने काव्य-शास्त्रकी शिक्षा दी थी। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लक्षण हों।

जिस समय यह परिवार धारामें आया था उस समय विन्ध्यवर्माके सन्धि-विग्रहके मंत्री (परराष्ट्र-सचिव) बिल्हण कवीश थे। उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं जो अपनी योग्यताके कारण सल्लक्षणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मानसूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। पण्डित आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य' नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आज्ञासे निर्माण किया था। यह ग्रन्थ वि० सं० १२९६ के बाद किसी समय बना होगा। क्योंकि इसका उल्लेख सं० १३०० में बनी हुई अनगारधर्मामृत-टीकाकी प्रशस्तिमें है, १२९६ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है तो मानना होगा कि आशाधरजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे होंगे और उस समय वे बहुत ही वृद्ध होंगे। संभव है कि उस समय उन्होंने राज-कार्य भी छोड़ दिया हो।

पण्डित आशाधरजीने अपनी प्रशस्तिमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है, "रंजितार्जुन-

+ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटीका जर्नल वा० ७ और प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६-७।

भूपतिः" अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्मको प्रसन्न किया। इससे हम अनुमान करते हैं कि राजा सल्लखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्य-पद दिया होगा। अक्सर राज-कर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज-कार्य मिलते रहते हैं। पं० आशाधरजी भी कोई राज्य-पद पा सकते थे परन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनधर्मोदयके कार्यमें लग जाना ज्यादा कल्याणकारी समझा।

उनके पिता और पुत्रके इस सम्मानसे स्पष्ट होता है कि एक सुसंस्कृत और राजमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था और इसलिए भी वाल-सरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगोंने उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेमें संकोच न किया होगा।

वि० सं० १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको क़ैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और उसी समय उसने अजमेरपर भी अधिकार किया था, तभी पण्डित आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर ही होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था। यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो तो उनका जन्म वि० सं० १२३५के आसपास हुआ होगा। उनका अन्तिम उपलब्ध ग्रंथ (अनगार धर्म-टीका) वि० सं० १३०० का है। उसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं। फिर भी निदान ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई थी और उनके पिता तो उनसे भी अधिक दीर्घ-जीवी रहे।

अपने समयमें उन्होंने धाराके सिंहासनपर पाँच राजाओंको देखा—

समकालीन राजा

१ **विन्ध्यवर्मा**—जिस समयमें वे धारामें आये उस समय यही राजा थे। ये बड़े वीर और विद्यारसिक थे। कुछ विद्वानोंने इनका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक माना है। परन्तु हमारी समझमें वे १२४९ तक अवश्य ही राज्यासीन रहे हैं जब कि शहाबुद्दीन गोरीके त्राससे पण्डित आशाधरका परिवार धारामें आया था। अपनी प्रशस्तिमें इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है।

२ **सुभटवर्मा**—यह विन्ध्यवर्माका पुत्र था और बड़ा वीर था। इसे सोहड़ भी कहते हैं। इसका राज्यकाल वि० सं० १२३७से १२६७ तक माना जाता है। परन्तु वह १२४९ के बाद १२६७ तक होना चाहिए। पण्डित आशाधरके उपलब्ध ग्रन्थोंमें इस राजाका कोई उल्लेख नहीं है।

३ **अर्जुनवर्मा**—यह सुभटवर्माका पुत्र था और बड़ा विद्वान् कवि और गान-विद्यामें निपुण था। इसकी 'अमरुशतक' पर 'रससंजीविनी' नामकी टीका बहुत प्रसिद्ध है जो इसके पांडित्य और काव्यमर्मज्ञताको प्रकट करती है। इसीके समयमें महाकवि मदनकी 'पारिजातमंजरी' नाटिका वसन्तोत्सवके मौकेपर खेली गई थी। इसीके राज्य-कालमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे। इसके समयके तीन दान-पत्र मिले हैं। एक मांडूमें वि० सं० १२६७ का, दूसरा भरोंचमें १२७० का

और तीसरा मान्धातामें १२७२ का। इसने गुजरातनरेश जयसिंहको हराया था।

४ देवपाल—अर्जुनवर्माके निस्सन्तान मरने पर यह गद्दीपर बैठा।+ इसकी उपाधि साहसमल्ल थी। इसके समयके सं० १२७५, १२८६ और १२८९ के तीन शिलालेख और १२८२ का एक दानपत्र मिला है। इसीके राज्यकालमें वि० सं० १२८५ में जिनयज्ञ-कल्पकी रचना हुई थी।

५ जैतुगिदेव—(जयसिंह द्वितीय)—यह देवपालका पुत्र था। इसके समयके १३१२ और १३१४ के दो शिलालेख मिले हैं। पं० आशाधरने इसीके राज्यकालमें १२९२ में त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्र, १२९६ में सागारधर्मामृत-टीका और १३०० में अनगारधर्मामृत-टीका लिखी।

ग्रन्थ-रचना

वि० सं० १३०० तक पं० आशाधरजीने जितने ग्रन्थोंकी रचना की उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ प्रमेयरत्नाकर—इसे स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसाद वतलाया है। यह गद्य ग्रंथ है और बीच बीचमें इसमें सुन्दर पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं। अभीतक यह कहीं प्राप्त नहीं हुआ है।

२ भरतेश्वराभ्युदय—यह सिद्ध्यंक है। अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें 'सिद्धि' शब्द आया है। यह स्वोपज्ञ टीकासहित है। इसमें प्रथम तीर्थंकरके पुत्र भरतके अभ्युदयका वर्णन होगा। संभवतः महाकाव्य है। यह भी अप्राप्य है।

३ ज्ञानदीपिका—यह धर्मामृत (सागार-अनगार) की स्वोपज्ञ पंजिका टीका है। कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लापा भरमाप्पा निटवेने सागार-धर्मामृतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौरपर उसका अधिकांश छपाया था। उसीके आधारसे माणिकचन्द-ग्रन्थमालाद्वारा प्रकाशित सागारधर्मामृत सटीकमें उसकी अधिकांश टिप्पणियाँ दे दी गई थीं। उसके बाद निटवेजीसे मालूम हुआ कि उक्त कनडी प्रति जलकर नष्ट हो गई! अन्यत्र किसी भण्डारमें अभीतक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

४ राजीमती विप्रलंभ—यह एक खण्डकाव्य है और स्वोपज्ञटीकासहित है। इसमें राजीमतीके नेमिनाथ-वियोगका कथानक है। यह भी अप्राप्य है।

५ अध्यात्म-रहस्य—योगाभ्यासका आरम्भ करनेवालोंके लिए यह बहुत ही सुगम योग-शास्त्रका ग्रन्थ है। इसे उन्होंने अपने पिताके आदेशसे लिखा था। अप्राप्य है।

६ मूलाराधना-टीका—यह शिवार्यकी प्राकृत भगवती आराधनाकी टीका है जो कुछ समय पहले शोलापुरसे अपराजितसूरि और अमितगतिकी टीकाओंके साथ प्रकाशित हो चुकी है। जिस प्रतिपरसे वह प्रकाशित हुई है उसके अन्तके कुछ पृष्ठ खो गये हैं जिनमें प्रशस्ति भी रही होगी।

+ विन्ध्यवर्मा जिसकी गद्दीपर बैठा था, उस अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका यह पौत्र था।

७ इष्टोपदेश-टीका—आचार्य पूज्यपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी यह टीका माणिकचंद्र-जैन-ग्रन्थ-मालाके तत्त्वानुशासनादि-संग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८ भूपालचतुर्विंशतिका-टीका—भूपालकविके प्रसिद्ध स्तोत्रकी यह टीका अभीतक नहीं मिली।

९ आराधनासार-टीका—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रंथकी टीका है। अप्राप्य।

१० अमरकोष-टीका—सुप्रसिद्ध कोषकी टीका। अप्राप्य।

११ क्रियाकलाप—बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इस ग्रंथकी एक नई लिखी हुई अशुद्ध प्रति है, जिसमें ५२ पत्र हैं और जो १९७६ श्लोक प्रमाण है। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगका है। ग्रन्थमें अन्त-प्रशस्ति नहीं है। प्रारम्भके दो पद्य ये हैं—

> जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपं।
> अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥ १॥
> योगिध्यानैकगम्यः परमविशददृग्विश्वरूपः सतत्त्व।
> स्वान्तस्थे मैव साध्यं तदमलमनयस्तत्पदध्यानबीजं,
> चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवगुणग्राममगाढामरागं,
> तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरयति यथासत्रमासूत्रयन्तु॥ २॥

१२ काव्यालंकार-टीका—अलंकारशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकारपर यह टीका लिखी गई है। अप्राप्य।

१३ सहस्रनामस्तवन सटीक—पण्डित आशाधरका सहस्रनाम स्तोत्र सर्वत्र सुलभ है। छप भी चुका है। परन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीका अभीतक अप्राप्य है। बम्बईके सरस्वती-भवनमें इस सहस्रनामकी एक टीका है परन्तु वह श्रुतसागरसूरिकृत है।

१४ जिनयज्ञकल्प सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल मात्र तो पण्डित मनोहरलालजी शास्त्रीद्वारा सं० १९७२ में प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इसकी स्वोपज्ञ टीका अप्राप्य है। इस ग्रन्थको पण्डितजीने अपने धर्मामृतशास्त्रका एक अंग बतलाया है।

१५ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र सटीक—यह ग्रन्थ कुछ समय पूर्व माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें मराठी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुका है। संस्कृत-टीकाके अंश टिप्पणीके तौरपर नीचे दे दिये गये हैं।

१६ नित्यमहोद्योत—यह स्नानशास्त्र या जिनाभिषेक अभी कुछ ही समय पहले पण्डित पन्नालालजी सोनीद्वारा संपादित "अभिषेकपाठ संग्रह" में श्रीश्रुतसागरसूरिकी संस्कृतटीकासहित प्रकाशित हो चुका है।

१७ रत्नत्रय-विधान—यह ग्रन्थ बम्बईके ऐ० प० सरस्वती-भवनमें है। छोटासा ८ पत्रोंका ग्रन्थ है। इसका मंगलाचरण—

श्रीवर्द्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरून्।
रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायं विमुक्तये॥

१८ अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट या अष्टांगहृदयकी टीका है और अप्राप्य है।

१९–२० सागार और अनगार-धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें सागार और अनगार दोनोंकी टीका पृथक् पृथक् दो जिल्दोंमें प्रकाशित हो चुकी है।*

इन २० ग्रन्थोंमेंसे मूलाराधना-टीका, इष्टोपदेश-टीका, सहस्रनाम मूल (टीका नहीं), जिनयज्ञकल्प मूल (टीका नहीं), त्रिषष्टिस्मृति, धर्मामृतके सागार अनगार भागोंकी भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका और नित्यमहोद्योत मूल (टीका नहीं) ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और क्रियाकलाप उपलब्ध है। भरताभ्युदय, और प्रमेयरत्नाकरके नाम सोनागिरिके भट्टारकजीके भण्डारकी सूचीमें अबसे लगभग २८ वर्ष पहले मैंने देखे थे। संभव है वे वहाँके भण्डारोंमें हों। शेष ग्रन्थोंकी खोज होनी चाहिए। हमारे खयालमें आशाधरजीका साहित्य नष्ट नहीं हुआ है। प्रयत्न करनेसे वह मिल सकता है।

रचनाका समय।

पहले लिखा जा चुका है कि पण्डित आशाधरजीकी एक ही प्रशस्ति है जो कुछ पद्योंकी न्यूनाधिकताके साथ उनके तीन मुख्य ग्रंथोंमें मिलती है।

जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में, सागारधर्मामृत-टीका १२९६ में और अनगारधर्मामृत-टीका १३०० में समाप्त हुई है। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें जिन दस ग्रन्थोंके नाम दिये हैं, वे १२८५ के पहलेके बने हुए होने चाहिए। उसके बाद सागारधर्मामृत-टीकाकी समाप्ति तक अर्थात् १२९६ तक काव्यालंकार-टीका, सटीक सहस्रनाम, सटीक जिनयज्ञकल्प, सटीक त्रिषष्टिस्मृति, और नित्यमहोद्योत ये पाँच ग्रन्थ बने। अन्तमें १३०० तक राजीमती-विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, रत्नत्रय-विधान और अनगारधर्म-टीकाकी रचना हुई। इस तरहसे मोटे तौरपर ग्रंथ-रचनाका समय मालूम हो जाता है।

त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि वह १२९२ में बना है। इष्टोपदेश टीकामें समय नहीं दिया।

सहयोगी विद्वान्

१ पण्डित महावीर—ये वादिराज पदवीसे विभूषित पं० धरसेनके शिष्य थे। पं० आशाधरजीने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैन न्यायशास्त्र पढ़ा था।

---

* 'आशाधरविरचित प्रतिष्ठापाठ' नामसे लगभग चालीस पेजका एक ग्रन्थ श्री नेमीशा आदप्पा उपाध्ये, उदगांव (कोल्हापुर) ने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित किया था। परन्तु उसमें आशाधरकी मुश्किलसे दो चार छोटी छोटी रचनायें होंगी, शेष सब दूसरोंकी हैं। और जो हैं वे उनके प्रसिद्ध ग्रन्थोंसे ली गई जान पड़ती हैं।

२ उदयसेन मुनि—जान पड़ता है, ये कोई वयोज्येष्ठ प्रतिष्ठित मुनि थे और कवियोंके सुहृद् थे। इन्होंने पं० आशाधरजीको 'कलि-कालिदास' कहकर अभिनन्दित किया था।

३ मदनकीर्ति यतिपति—ये उन वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे जिन्होंने पण्डित आशाधरसे न्यायशास्त्रका परम अस्त्र प्राप्त करके विपक्षियोंको जीता था। मदनकीर्तिके विषयमें राजशेखरसूरिके 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' में जो वि० सं० १४०५ में निर्मित हुआ है और जिसमें प्रायः ऐतिहासिक कथायें दी हैं 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' नामका एक प्रबन्ध है। उसका सारांश यह है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे। वे बड़े भारी विद्वान् थे। चारों दिशाओंके वादियोंको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूड़ामणि' पदवी प्राप्त की थी। एक बार गुरुके निषेध करनेपर भी वे दक्षिणापथको प्रयाण करके कर्नाटकमें पहुँचे। वहाँ विद्वत्प्रिय विजयपुरनरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्यपर मोहित हो गये और उन्होंने उनसे अपने पूर्वजोंके चरित्रपर एक ग्रन्थ निर्माण करनेको कहा। कुन्तिभोजकी कन्या मदन-मञ्जरी सुलेखिका थी। मदनकीर्ति पद्य-रचना करते जाते थे और मञ्जरी एक पर्देकी आड़में बैठकर उसे लिखती जाती थी।

कुछ समयमें दोनोंके बीच प्रेमका आविर्भाव हुआ और वे एक दूसरेको चाहने लगे। जब राजाको इसका पता लगा तो उसने मदनकीर्तिको वध करनेकी आज्ञा दे दी। परन्तु जब उनके लिए कन्या भी अपनी सहेलियोंके साथ मरनेके लिए तैयार हो गई, तो राजा लाचार हो गया और उसने दोनोंको विवाह-सूत्रमें बाँध दिया। मदनकीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे और विशालकीर्तिद्वारा बार बार पत्रोंसे प्रबुद्ध किये जाने पर भी टससे मस नहीं हुये। यह प्रबन्ध मदनकीर्तिसे कोई सौ वर्ष बाद लिखा गया है। इससे सम्भव है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो अथवा इसका अधिकांश कल्पित ही हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मदनकीर्ति बड़े भारी विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे। और इसलिए उनके द्वारा की गई आशाधरकी प्रशंसाका बहुत मूल्य है।

श्री मदनकीर्तिकी बनाई हुई 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' नामक ५ पत्रोंकी एक पोथी हमारे पास है। जिसमें मंगलाचरणके एक अनुष्टुप श्लोकके अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीडित वृत्त हैं और प्रत्येकके अन्तमें 'दिग्वाससां शासनं' पद है।* यह एक प्रकारका तीर्थक्षेत्रोंका स्तवन है जिसमें पोदनपुर बाहुबलि, श्रीपुर-पार्श्वनाथ, शंख-जिनेश्वर, दक्षिण गोमट्ट, नागद्रन्द-जिन, मेदपाट (मेवाड़)के नागफणी ग्रामके पल्ली-जिनेश्वर, मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दन जिन आदिकी स्तुति है।× मङ्गलपुरवाला पद्य यह है—

---

*इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु वह दो तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुत से पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।

×श्रीजिनप्रभसूरिके 'विविध तीर्थकल्प' में 'अवन्तिदेशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प' नामका एक कल्प है जिसमें अभिनन्दनजिनकी भग्न मूर्तिके जुड़ जाने और अतिशय प्रकट होनेकी कथा दी है।

श्रीमन्मालवदेशमंगलपुरे म्लेच्छैः प्रतापागतैः
भग्ना मूर्तिरथोभियोजितशिराः सम्पूर्णतामाययौ ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः,
स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयतं दिग्वाससां शासनं ॥ ३४ ॥

इसमें जो म्लेच्छोंके प्रतापका आगमन बतलाया है, उससे ये पं० आशाधरजीके ही समकालीन मालूम होते हैं। रचना इनकी प्रौढ़ है। पं० आशाधरजीकी प्रशंसा इन्होंने की होगी। अभीतक इनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

४ बिल्हण कवीश—बिल्हण नामके अनेक कवि हो गये हैं। उनमें विद्यापति बिल्हण बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनका बनाया हुआ विक्रमांकदेव-चरित है। यह कवि काश्मीरनरेश कलशके राज्य-कालमें वि० सं० १११९ के लगभग काश्मीरसे चला था और जिस समय वह धारामें पहुँचा उस समय भोजदेवकी मृत्यु हो चुकी थी। इससे वे आशाधरके प्रशंसक नहीं हो सकते। भोजकी पाँचवीं पीढ़ीके राजा विन्ध्यवर्माके मंत्री बिल्हण उनसे बहुत पीछे हुए हैं। चौर-पंचासिका या बिल्हण-चरितका कर्ता बिल्हण भी इनसे भिन्न था। क्योंकि उसमें जिस वैरिसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेम-सम्बन्ध वर्णित है वह वि० सं० [illegible]०० के लगभग हुआ है। शार्ङ्गधर-पद्धति, सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित-संग्रहोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे ऐसे श्लोक मिलते हैं जो न विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित और कर्णसुन्दरी नाटिकामें हैं और न चौर-पंचासिकामें। क्या आश्चर्य है जो वे इन्हीं मंत्रिवर बिल्हण कविके हों।

मांडूमें मिले हुए विन्ध्यवर्माके लेखमें इन बिल्हणका इन शब्दोंमें उल्लेख किया है—“विन्ध्यवर्म-नृपतेः प्रसादभूः। सान्धिविग्रहिकबिल्हणः कविः।” अर्थात् बिल्हणकवि विन्ध्यवर्माका कृपापात्र और परराष्ट्र-सचिव था।

५—पं० देवचन्द्र—इन्हें पण्डित आशाधरजीने व्याकरण-शास्त्रमें पारंगत किया था।

६—वादीन्द्र विशालकीर्ति—ये पूर्वोक्त मदनकीर्तिके गुरु थे। ये बड़े भारी वादी थे और इन्हें पण्डितजीने न्यायशास्त्र पढ़ाया था। संभव है, ये धारा या उज्जैनकी गद्दीके भट्टारक हों।

७—भट्टारक विनयचन्द्र—इष्टोपदेशकी टीकाके अनुसार ये सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य थे और इन्हें पण्डितजीने धर्मशास्त्रका अध्ययन कराया था। इन्हींके कहनेसे उन्होंने इष्टोपदेशकी टीका बनाई थी।

८—महाकवि मदनोपाध्याय—हमारा अनुमान है कि ये विन्ध्यवर्माके संधिविग्रहिक मंत्री बिल्हण कवीशके ही पुत्र होंगे।* 'बाल-सरस्वती' नामसे ये प्रख्यात थे और मालवनरेश अर्जुनवर्माके

* देखिए आगे प्रशस्तिके ६–७ वें पद्यकी व्याख्या।

गुरु थे। अर्जुनवर्माने अपनी अमरुशतककी संजीविनी टीकामें जगह जगह ' यदुक्तमुपाध्यायेन बाल-सरस्वत्यापरनाम्ना मदनेन' लिखकर इनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। उनसे मालूम होता है कि मदनका कोई अलंकारविषयक ग्रन्थ था। महाकवि मदनकी पारिजातमंजरी नामकी एक नाटिका थी, जिसके दो अंक धारकी 'कमाल मौला' मसजिदके पत्थरोंपर खुदे हुए मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि शेष अंकोंके पत्थर भी उक्त मसजिदमें ही कहीं लगे होंगे। पहले यह नाटिका महाराजा भोजदेवद्वारा स्थापित शारदा-सदन नामक पाठशालामें उत्कीर्ण करके रक्खी गई थी और वहीं खेली गई थी। अर्जुनवर्मदेवके जो तीन दान-पत्र मिले हैं, वे इन्हीं मदनोपाध्यायके रचे हुए हैं। उनके अंतमें लिखा है—"रचितमिदं राजगुरुणा मदनेन।' मदन गौड़ ब्राह्मण थे। पण्डित आशाधरजीने इन्हें काव्य-शास्त्र पढ़ाया था।

९–पंडित जाजाक—इनकी प्रेरणासे पण्डितजीने प्रतिदिनके स्वाध्यायके लिए त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्रकी रचना की थी। इनके विषयमें और कुछ नहीं मालूम हुआ।

१० हरदेव—ये खण्डेलवाल श्रावक थे और अल्हण-सुत पापा साहुके दो पुत्रों बहुदेव और पद्मसिंहमेंसे बहुदेवके पुत्र थे। उदयदेव और स्तंभदेव इनके छोटे भाई थे। इन्हींकी विज्ञप्तिसे पंडितजीने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचंद्रिका टीका लिखी थी।

११ महीचन्द्र साहु—ये पौरपाट वंशके अर्थात् परवार जातिके समुद्धर श्रेष्ठीके लड़के थे।* इनकी प्रेरणासे सागारधर्मामृतकी टीकाकी रचना हुई थी और इन्हींने उसकी पहली प्रति लिखी थी।

१२ धनचन्द्र—इनका और कोई परिचय नहीं दिया है। सागार-धर्मटीकाकी रचनाके लिये इन्होंने भी उपरोध किया था।

१३ केल्हण—ये खण्डेलवालवंशके थे और इन्होंने जिन भगवानकी अनेक प्रतिष्ठायें कराके प्रतिष्ठा प्राप्त की थीं। सूक्तियोंके अनुरागसे अर्थात् सुन्दर कवित्वपूर्ण रचना होनेके कारण इन्होंने 'जिनयज्ञ-कल्प'का प्रचार किया था। यज्ञकल्पकी पहली प्रति भी इन्हींने लिखी थी।

१४ धीनाक—ये भी खण्डेलवाल थे। इनके पिताका नाम महण और माताका कमलश्री था। इन्होंने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी सबसे पहली प्रति लिखी थी।

कवि अर्हद्दास—मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकंठाभरणके कर्त्ता हैं। पं० जिनदास शास्त्रीके खयालसे ये भी पण्डित आशाधरके शिष्य थे। परन्तु इसके प्रमाणमें उन्होंने जो

*पौरपाट और परवार एक ही हैं, इसके लिए देखिए मेरा लिखा हुआ 'परवार जातिके इतिहास पर प्रकाश' शीर्षक विस्तृत लेख, जो 'परवार बन्धु' और 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुआ है।

उक्त ग्रन्थोंके पद्य उद्धृत किये हैं–उनसे इतना ही मालूम होता है कि आशाधरकी सूक्तियोंसे और ग्रन्थोंसे उनकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वे उनके साक्षात् शिष्य थे, या उनके सहवासमें रहे थे, यह प्रकट नहीं होता। पण्डित आशाधरजीने भी उनका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अब उन पद्यों-पर विचार कीजिए। देखिए मुनिसुव्रत काव्यके अन्तमें कहा है—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम
त्यक्त्वा श्रांततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचःक्षीरोदधेरादरात्,
पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः॥ ६४ ॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि॥ ६५॥

अर्थात्–कुमार्गोंसे भरे हुए संसाररूपी वनमें जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा, अन्तमें बहुत थककर किसी तरह काललब्धिवश उसे फिर पाया। सो अब जिनवचनरूप क्षीरसागरसे उद्धृत किये हुए धर्मामृत (आशाधरके धर्मामृतशास्त्र?) को सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर मैं अर्हद्भगवानका दास होता हूँ॥ ६४॥

मिथ्यात्व-कर्म-पटलसे बहुत काल तक ढँकी हुई मेरी दोनों आँखें जो कुमार्गमें ही जाती थीं, आशाधरकी उक्तियोंके विशिष्ट अंजनसे स्वच्छ हो गईं और इसलिए अब मैं सत्पथका आश्रय लेता हूँ॥ ६५॥

इसी तरह पुरुदेवचम्पूके अन्तमें आँखोंके बदले अपने मनके लिए कहा है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।

अर्थात्–मिथ्यात्वकी कीचड़से गँदले हुए मेरे इस मानसमें जो कि अब आशाधरकी सूक्तियोंकी निर्मलीके प्रयोगसे प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है।

भव्यकण्ठाभरणमें भी आशाधरसूरिकी इसी तरह प्रशंसा की है कि उनकी सूक्तियाँ भवभीरु गृहस्थों और मुनियोंके लिए सहायक हैं।

इन पद्योंमें स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थोंका ही संकेत है जिनके द्वारा अर्हद्दासजीको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्वका नहीं।

हाँ, चतुर्विंशति-प्रबन्धकी कथाको पढ़नेके बाद हमारा यह कल्पना करनेको जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्गमें ठोकरें खाते खाते अन्तमें आशाधरकी सूक्तियोंसे अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें जो भाव व्यक्त किये गये हैं, उनसे इस कल्पनाको बहुत कुछ पुष्टि मिलती है। और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम होता है। सम्भव है उनका वास्तविक

नाम कुछ और ही रहा हो। यह नाम एक तरहकी भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी नोट करने लायक है कि अर्हद्दासजीके ग्रन्थोंका प्रचार प्रायः कर्णाटक प्रांतमें ही रहा है जहाँ कि वे चतुर्विंशतिप्रबन्धकी कथाके अनुसार सुमार्गसे पतित होकर रहने लगे थे। सत्पथपर पुनः लौटने पर उनका वहीं रह जाना संभव भी जँचता है।

इतना सब लिख चुकनेके बाद अब हम पं० आशाधरजीके अन्तिम ग्रन्थ अनगारधर्मामृत टीकाकी अन्त्य प्रशस्ति उद्धृत करके उसका भावार्थ भी लिख देते हैं जिसके आधार पर पूर्वोक्त सब बातें कही गई हैं। यह उनकी मुख्य प्रशस्ति है, अन्य ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ इसीमें कुछ पद्य कम ज्यादा करके बनी हैं। उन न्यूनाधिक पद्योंको भी हमने टिप्पणीमें दे दिया है और आगे चलकर उनका भी अभिप्राय लिख दिया है।

मुख्य प्रशस्ति

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद्।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥
" व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः" ॥३॥
इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या।
" प्रज्ञापुंजोऽसी" ति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥*
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

---

* मूलाराधना-टीका (सोलापुर) जिस प्रतिपरसे प्रकाशित हुई है, उसमें प्रशस्तिके ये चार ही पद्य मिले हैं और संपादक पं०जिनदास शास्त्रीने प्रशस्तिको अपूर्ण लिखा है। शायद आगेका पत्र गायब है।

*त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिमें प्रारम्भके दो पद्योंके बाद 'व्याघ्रेरवाल' आदि पद्य न होकर 'म्लेच्छेशेन' आदि पाँचवाँ पद्य है। उसके बाद 'श्रीमदर्जुनभूपाल' आदि आठवाँ और फिर 'योद्राग्व्याकरणाब्धि' आदि नवाँ पद्य दिया है।

१—म्लेच्छेशेन साहिबुदीनतुरुष्कराजेन। —भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका।

" आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः " ॥ ६ ॥

इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन् ।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः,
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥*

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥ १० ॥

सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं,
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं,
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥ ११ ॥+

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥

---

* त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिमें इस पद्यका नंबर पाँच है। इसके आगे नीचे लिखे पद्य हैं—

धर्मामृतादिशास्त्राणि कुशाग्रीयधियामपि । यः सिद्ध्यङ्कं महाकाव्यं रसिकानां मुदेऽसृजत् ॥ ६ ॥

सोऽहमाशाधरः कण्ठमलंकर्तुं नरर्मिणाम् । पञ्जिकालंकृतं ग्रन्थमिमं पुण्यमरीरचम् ॥ ७ ॥

स्वार्थमर्थिनः स महान्तस्तभायेतत्कृतं मया । पुण्यैः सद्भिः कथाम्भोधेरुद्धृत्य ग्रथिता यतः ॥ ८ ॥

संक्षिप्यन्तां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये । इति पंडितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥

यत्नान्वयनया किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम । तत्संशोध्य पठन्त्वेनं जिनशासनभाक्तिकाः ॥ १० ॥

महापुराणान्नस्यसंग्रहं पठतामिमं । त्रिषष्टिस्मृतिनामानं हर्षद्देवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥

प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे । श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसिस्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १२ ॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् । ग्रंथोऽयं द्विनवद्व्येकविक्रमार्कसमात्यये ॥ १३ ॥

खण्डिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक् । धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥

+ इसके आगेके 'राजीमती' और 'आदेशात्' आदि दो पद्य सागारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तियोंमें नहीं हैं।

आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥

यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १४ ॥

रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालंकारस्य निबन्धनम् ।
सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १५ ॥

सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात् ॥ १६ ॥

योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम् ।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥

रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥ १८ ॥*

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १९ ॥×

सोऽहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥+

---

* इस पद्यके आगे जिनयज्ञकल्पमें नीचे लिखे पद्य दिये हैं—

प्राच्यानि संचर्च्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रं ।
आम्नायविच्छेदतमश्छिदेयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपः ॥ १८ ॥

खण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो, वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम् ।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः, पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥

विक्रमवर्षसपंचाशीति द्वादशशतेष्वतीतेषु, आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य ।
श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये, नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ २० ॥

अनेकार्हत्प्रतिष्ठाप्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः । सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वायं प्रचारितः ॥ २१ ॥
नन्द्यात्खाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः । लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २२ ॥

× यह पद्य सागारधर्मामृत-टीकामें और जिनयज्ञकल्पमें ११ नंबरके बाद दिया है ।

+ इसके बदले सागारधर्मामृत-टीकामें नीचे लिखा हुआ पद्य है—

सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥

शब्दे चार्थे च यत्किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
छद्मस्थभावात् संशोध्य सूरयस्तत् पठन्त्विमाम् ॥ २१ ॥
नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।
साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥ २४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
उदयी स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादृताः ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
द्विष्टाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥ २९ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसिस्थाम्नाऽवन्तीनवन्त्यलम् ॥ ३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥×

× इसके स्थानपर सागारधर्मामृतमें निम्न श्लोक हैं—

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नंदताच्चिरम् ॥ २१ ॥
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् ।

मुख्य प्रशस्तिका भावार्थ

शाकंभरीभूषण सपादलक्ष[1] देशमें लक्ष्मीसे भरा पूरा मण्डलकर[2] नामका बड़ा किला था। वहाँ बघेरवाल वंशमें श्री सल्लक्षण नामक पिता और श्रीरत्नी मातासे जैनधर्ममें श्रद्धा रखनेवाले पण्डित आशाधरका जन्म हुआ। १

अपने आपको जिस तरह सरस्वती (वाग्देवता) में प्रकट किया उसी तरह जिसने अपनी पत्नी सरस्वतीमें छाहड़ नामक गुणी पुत्रको जन्म दिया, जिसने मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवको प्रसन्न किया। २

कवियोंके सुहृद् उदयसेन मुनिद्वारा जो प्रीतिपूर्वक इन शब्दोंद्वारा अभिनंदित किया गया— "बघेरवालवंश-सरोवरका हंस, सल्लक्षणका पुत्र, काव्यामृतके पानसे तृप्त, नय-विश्वचक्षु, और कलि-कालिदास पण्डित आशाधरकी जय हो।" और मदनकीर्ति यतिपतिने जिसे 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिहित किया। ३–४

चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखितोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥

इष्टोपदेश-टीकाकी प्रशस्तिमें नीचे लिखे तीन पद्य मिलते हैं—

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना। इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ २ ॥

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसन्दर्भगर्भः शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥
जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांह्रयः। रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

१–२—सपादलक्षको भाषामें सवालख कहते हैं। नागौर (जोधपुर) के आसपासका प्रदेश सवालख नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ पहले चौहान राजाओंका राज्य था। फिर साँभर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा, और उसके सम्बन्धसे चौहान राजाओंको 'सपादलक्षीय नृपति' विशेषण दिया जाने लगा। साँभरको ही शाकंभरी कहते हैं। साँभर झील जो नमकका आकर है, उस समय सवालख देशकी सिंगार थी, अर्थात् साँभरका राज्य भी तब सवालखमें शामिल था। मण्डलकर दुर्ग अर्थात् मांडलगढ़का किला इस समय मेवाड़ राज्यमें है, परन्तु उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके अधीन था। चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहाँ मिले हैं। पृथ्वीराजके समय तक वहाँके अधिकारी चौहान रहे हैं। अजमेर जब मुसलमानोंके कब्जेमें आया तब मांडलगढ़ भी उनके हाथ चला गया।

म्लेच्छ नरेशके द्वारा* सपादलक्ष देशके व्याप्त होजाने पर सदाचार-नाशके डरसे जो बहुतसे परिजनों या परिवारके लोगोंके साथ विन्ध्यवर्मा राजाके× मालव-मण्डलमें आकर धारानगरीमें बस गया और जिसने वादिराज पंडित धरसेनके शिष्य पं० महावीरसे जैनेन्द्र प्रमाण-शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा ॥५॥

विन्ध्यवर्माके सान्धिविग्रहिक मंत्री (फॉरेन सेक्रेटरी) बिल्हण कविराजने जिसकी इस प्रकार स्तुति की " हे आशाधर, हे आर्य, सरस्वतीपुत्रतासे तुम मेरे साथ अपनी स्वाभाविक सहोदरता (भाईपना) और अन्वर्थक मित्रता समझो। (' सरस्वतीपुत्रता ' श्लिष्ट पद है। अर्थात् जिस तरह तुम सरस्वती-पुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ। शारदाके उपासक होनेसे दोनों सरस्वतीपुत्र तो थे ही, साथ ही आशाधरकी पत्नीका नाम सरस्वती था और उससे छाहड़ नामका पुत्र था। उस सरस्वती-पुत्रसे आशाधरको सरस्वती-पुत्रता प्राप्त थी। उधर मेरा अनुमान है कि बाल-सरस्वती महाकवि मदन भी बिल्हणके पुत्र होंगे, इसलिए उन्हें भी सरस्वती-पुत्र कहा जासकता है। इस रिश्तेसे बिल्हणने आशाधरको सहोदर भाई कहा है) ॥ ६–७ ॥

जो अर्जुन–वर्मदेवके राज्य-कालमें नलकच्छपुरमें× जो श्रावकोंके घरोंसे सघन था जैनधर्मका उदय करनेके लिए जाकर रहा " ॥८॥

जिसने शुश्रूषा करनेवाले अपने शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं जिन्हें व्याकरण समुद्रके पार न पहुँचाया हो, ऐसे कौन हैं जिन्हे षट्दर्शनके तर्क-शस्त्रको देकर प्रतिवादियोंपर विजय प्राप्त न कराई हो, ऐसे कौन

---

* धर्मामृतकी टीकामें इस म्लेच्छराजाको "साहिबुद्दीन तुरुक" बतलाया है। यह गज़नीका बादशाह शहाबुद्दीन गोरी ही है। इसने वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में पृथ्वीराजको हराकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था। इसी वर्ष अजमेरको भी अपने अधीन करके और अपने एक सरदारको सारा कारबार सौंपकर यह गज़नी लौट गया था। शहाबुद्दीनने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा; क्योंकि अजमेर भी पृथ्वीराजके अधिकारमें था और उसी समय सपादलक्ष देश उसके अत्याचारोंसे व्याप्त हो गया होगा। इसी समय अर्थात् विक्रम संवत् १२४९ के लगभग पं० आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे।

× अनगारधर्मामृतकी मुद्रित टीकामें विन्ध्यभूपतिका खुलासा 'विजयवर्म मालवाधिपतिः' किया है; परंतु हमारे अनुमानसे लिपिकारके दोषसे अथवा प्रूफ-संशोधककी असावधानीसे ही 'विन्ध्यवर्म' की जगह 'विजयवर्म' हो गया है। परमारवंशकी वंशावलियों और शिलालेखोंमें विन्ध्यवर्माका 'विजयवर्मा' नामान्तर नहीं मिलता। श्रीयुत लेले और कर्नल लुअर्डने विन्ध्यवर्माका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक निश्चित किया है; परन्तु पं० आशाधरजीके उक्त कथनसे कमसे कम १२४९ तक विन्ध्यवर्माका राज्यकाल माना जाना चाहिए। उक्त विद्वानोंने विन्ध्यवर्माके पुत्र और उत्तराधिकारी सुभटवर्मा (सोहड़) का समय १२३७ से १२६७ तक माना है, परंतु सुभटवर्मा १२३७ में राजा था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, वह १२४९ के बाद ही राजपदपर आया होगा।

× नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धार (मालवा) से १० कोसकी दूरीपर है। अब भी वहाँपर श्रावकोंके कुछ घर हैं, जैनमन्दिर भी है।

हैं जिन्हें जिन वचनरूपी दीपक (धर्मशास्त्र) ग्रहण कराके धर्म-मार्गमें निरतिचार रूपसे न चलाया हो और ऐसे कौन हैं जिन्हें काव्यसुधा पिला करके रसिकोंमें प्रतिष्ठा न प्राप्त कराई हो ॥ ९ ॥

(इस श्लोककी टीकामें पं० आशाधरजीने जुदा जुदा विषयोंका अध्ययन करनेवाले अपने कुछ शिष्योंके नाम भी दे दिये हैं। उन्होंने पण्डित देवचंद्रादिको[3] व्याकरण, वादीन्द्र विशालकीर्त्यादिको[4] न्यायशास्त्र, भट्टारक विनयचन्द्र[5] आदिको धर्मशास्त्र और बालसरस्वती महाकवि मदनादिको[6] काव्यशास्त्रका अध्ययन कराया था)।

जिसने (आशाधरने) 'प्रमेयरत्नाकर' नामका तर्क-ग्रन्थ बनाया, जो स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसाद है और जिसमेंसे सुन्दर पद्योंका पीयूष (अमृत) प्रवाहित होता है ॥ १० ॥

जिसने 'भरतेश्वराभ्युदय' नामका सत्काव्य, जो निबन्धोज्ज्वल अर्थात् स्वोपज्ञ टीकासे स्पष्ट है, त्रैविद्य कविराजोंको प्रसन्न करनेवाला है, सिद्ध्यंक है, अर्थात् जिसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम पद्यमें 'सिद्धि' शब्द आया है, अपने कल्याणके लिए रचा। जिसने जिनागमसंभूत धर्मामृत नामका शास्त्र, 'निबन्धरुचिर, अर्थात् ज्ञानदीपिका नामक पञ्जिका टीकासे सुन्दर बनाकर मुमुक्षु विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया ॥ ११ ॥

जिसने श्रीनेमिनाथविषयक 'राजीमती-विप्रलंभ' नामक खण्ड काव्य स्वोपज्ञ टीकासे युक्त बनाया ॥ १२ ॥

जिसने अपने पिताकी आज्ञासे योगशास्त्रका अध्ययन आरम्भ करनेवालोंके लिए प्यारा और प्रसन्न गम्भीर अध्यात्मरहस्य नामक शास्त्र बनाया ॥ १३ ॥

जिसने मूलाराधना (भगवतीआराधना) पर, इष्टोपदेश (पूज्यपादकृत) आदिपर और अमरकोशपर* टीकायें लिखीं और 'क्रियाकलाप' की रचना की। (आदि शब्दकी टीकामें आराधनासार (देवसेन कृत) और भूपाल चतुर्विंशतिका आदिकी भी टीकायें बनानेका उल्लेख किया है।)॥१४॥

जिसने रुद्रटाचार्यके 'काव्यालङ्कार' की टीका बनाई और स्वोपज्ञटीकासहित जिनसहस्र नाम बनाया ॥ १५ ॥

जिसने जिनयज्ञकल्पदीपिका नामक टीका सहित 'जिनयज्ञकल्प' और सटीक 'त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' की रचना की ॥ १६ ॥

---

*-पहले भ्रमवश यह समझ लिया गया था कि अमरकोशकी जो पं० आशाधरकी लिखी टीका है, उसका नाम 'क्रियाकलाप' होगा। इस विषयमें मेरे 'विद्वद्रत्नमाला' के लेखका अनुसरण करके प्रायः सभी विद्वानोंने इस गल्तीको दुहराया है। यहाँतक कि पं० पन्नालालजी सोनीने भी अपने अभिषेकसंग्रहकी भूमिकामें यही माना है। साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ भी अपने पिछले ग्रन्थ 'राजा भोज' में 'अमरकोशकी क्रियाकलाप-टीका' लिख गये हैं। वास्तवमें क्रिया-कलाप पं० आशाधरका एक स्वतंत्र ग्रन्थ है और उसकी एक हस्तलिखित प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है।

जिसने अर्हत् भगवानकी अभिषेकसम्बन्धी विधिके अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यके सदृश 'नित्य-महोद्योत' नामका स्नानशास्त्र बनाया ॥ १७ ॥

जिसने रत्नत्रय-विधानकी पूजा और माहात्म्यका वर्णन करनेवाला 'रत्नत्रय-विधान' नामका शास्त्र बनाया ॥ १८ ॥

जिसने वाग्भट संहिताको स्पष्ट करनेके लिए आयुर्वेदके विद्वानोंके लिए इष्ट 'अष्टांगहृदयोद्योत' नामका निबन्ध (टीका-ग्रन्थ) लिखा ॥ १९ ॥

ऐसा मैं आशाधर (जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है) धर्मामृतके यतिधर्मको प्रकाशित करनेवाली और मुनियोंको प्यारी यह टीका रचता हूँ ॥ २० ॥

यदि इसमें छद्मस्थताके कारण शब्द-अर्थका कुछ स्खलन हुआ हो, तो धर्माचार्य और विद्वान् उसे सुधारकर पढ़ें ॥ २१ ॥

नलकच्छपुर (नालछा) में गृहस्थोंके अगुए, परम आर्हत, जिनपूजा-कृपादानपरायण, सोना-माणिक-विनयादिसे युक्त, पापोंसे पराङ्मुख, खण्डेलवाल वंशके पापा नामक साहूकार हैं ॥२२-२३॥ उनके दो पुत्र हैं, पहले पिताकी गृहस्थीके भारको सँभालनेवाले बहुदेव और दूसरे लक्ष्मीवान् पद्मसिंह ॥ २४ ॥ बहुदेवके तीन पुत्र हैं—हरदेव, उदयदेव और स्तंभदेव । ये तीनों धर्म, अर्थ, कामका साधन करनेवाले हैं ॥२५॥ साहु महीचन्द्रने बालबुद्धियोंको समझानेके लिए धर्मामृतशास्त्रके सागार-धर्मकी टीका बनवाई और उसी धर्मामृतके यतिधर्म (अनगारधर्म) पर भी जो कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिए भी दुर्बोध्य है, टीका बना दीजिए, इसप्रकारकी हरदेवकी विज्ञप्ति और धनचन्द्रके अनुरोधसे पण्डित आशाधरने यह क्षोदक्षमा (विचारसहा) टीका बनाई ॥ २६-२८ ॥

विद्वानोंने इसे भव्यकुमुदचन्द्रिका नाम दिया । ये दोनों सागार-अनगार-टीकायें कल्पकालपर्यंत रहें और मुमुक्षु जन इनका चिन्तन, अध्ययन करते रहें ॥ २९ ॥

परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा श्री देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपने खड्गबलसे अवन्तीका पालन कर रहे हैं तब यह टीका नलकच्छपुरके श्री नेमिनाथ चैत्यालयमें वि० सं० १३०० कार्तिक सुदी पंचमी सोमवारके दिन समाप्त हुई ॥ ३०-३१ ॥

इन मुख्य प्रशस्तिसे अधिक जो पद्य अन्य ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें हैं, उनका भी सारांश आगे दे दिया जाता है । मूल पद्य मुख्य-प्रशस्तिके नीचे टिप्पणीके तौर पर दिये जाचुके हैं—

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिका भावार्थ

जिसने धर्मामृतादि शास्त्र कुशाग्र बुद्धिवालोंके लिये और सिद्धयंक महाकाव्य (भरतेश्वराभ्युदय) रसिकोंके आनन्दके लिये लिखा ॥ ६ ॥ उसी आशाधरने सहधर्मियोंके कण्ठको अलंकृत करनेके लिए यह पंजिका टीकायुक्त पवित्र ग्रन्थ रचा ॥ ७ ॥ कहाँ तो आर्ष (महापुराणरूप) समुद्र और कहाँ

मेरी बुद्धि, तो भी सज्जनोंके लिए मैंने उसमेंसे कथा-रत्नोंको उद्धार करके इस शास्त्रमें ग्रथित कर दिया है ॥ ८ ॥ प्रतिदिनके स्वाध्यायके लिए पुराणोंको संक्षिप्त कर दीजिये, पं० जाजाककी इस विज्ञप्तिने मुझे प्रेरित किया ॥९॥ इसमें मेरी छद्मस्थताके कारण यदि कुछ स्खलन हुआ हो तो जिनशासनभक्त उसको सुधार कर पढ़ें ॥ १० ॥ इस महापुराणके अन्तस्तत्त्वसंग्रहके पढ़नेवालोंपर सम्यग्दृष्टि देवी प्रसन्न हो ॥ ११ ॥ परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपनी तलवारके जोरसे अवन्ती (मालवा) शासन कर रहे हैं तब नलकच्छपुरके श्री नेमिनाथ–चैत्यालयमें यह ग्रन्थ वि० सं० १२९२ में सिद्ध हुआ ॥१२–१३॥ खण्डेलवालवंशके महण और (पिता) कमलश्री (माता) के पुत्र सद्दृष्टि धीनाककी वृद्धि हो जिसने इस ग्रन्थकी पहली प्रति लिखी ॥ १४ ॥

जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिका भावार्थ

प्राचीन प्रतिष्ठाशास्त्रोंकी अच्छी तरह चर्चा करके आलोचना करके और इन्द्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर आम्नायविच्छेदरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाला यह युगानुरूप ग्रंथ उसने बनाया ॥१८॥ खण्डेलवाल वंशके भूषण, अल्हणके पुत्र, श्रावक धर्ममें रत, नलकच्छपुरके रहनेवाले, परोपकारी, जिनपूजा, पात्रदान, और समयोद्योतक प्रतिष्ठा करनेवालोंमें अगुए, पापा साहुने बारबार अनुरोध करके यह बनवाया ॥ १९ ॥ आश्विन सुदी १५ वि० सं० १२८५ को परमारकुलशेखर देवपालके सुराज्यमें जिनका दूसरा नाम साहसमल्ल है, यह ग्रन्थ नलकच्छपुरके नेमि–चैत्यालयमें सिद्ध हुआ ॥ २० ॥ बहुत-सी प्रतिष्ठायें करानेवाले केल्हणादिने सूक्तियों या सुभाषितके अनुरागसे पढ़कर इसका जल्दी ही प्रचार किया। खण्डेलवाल वंशके ये न्यासवित् केल्हण प्रसन्न रहें जिन्होंने इसकी यह पहली प्रति पाठ करनेके लिए लिखी ॥ २१–२२ ॥

सागारधर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

यह भव्यकुमुदचंद्रिका टीका नलकच्छपुरके नेमि–चैत्यालयमें पौप वदी सप्तमी सं० १२९६ को समाप्त हुई ॥ २०–२१ ॥ पौरपाट (परवार) वंशरूप आकाशका चन्द्रमा और समुद्धर श्रेष्ठीका पुत्र महीचन्द्र प्रसन्न रहे, जिसकी प्रार्थनासे आशाधरने यह श्रावकधर्मका दीपक ग्रन्थ बनाया और जिसने इसकी पहली प्रति लिखी ॥ २२ ॥

इष्टोपदेश टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

विनयचन्द्र मुनिके कहनेसे और भव्योंपर दया करके पं० आशाधरने यह इष्टोपदेश-टीका बनाई। साक्षात् उपशमकी मूर्तिके तुल्य सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य विनयचन्द्र हुए जो सज्जन चकोरोंके लिए चन्द्र हैं, पवित्रचरित्र हैं और जिनकी वाणी अमृतसगर्भा और शास्त्रसन्दर्भगर्भा है ॥ २ ॥

जगद्वन्द्य श्री नेमिनाथके चरणकमल जयवन्त हों, जिनके आश्रयसे धूल भी राजाओंके सिरपर चढ़ती है ॥ ३ ॥

—नाथूराम प्रेमी।

विषय-सूची ।

अध्याय १ ला ।

अध्याय २ रा ।

ऐसी आदतको व्यसन कहते हैं जिससे जीव श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट होता है। उसके सात भेद हैं।

सात व्यसनोंका त्याग। इन्हें ही प्रकारान्तरसे महापाप कहते हैं। इनका यावज्जीवन त्याग किये विना मनुष्यकी श्रावक धर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि व्यसन सात गिनाये हैं फिर भी श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट करनेवाली और जितनी भी आदतें हों उनका भी उपव्यसनरूपसे त्याग करनेका ग्रन्थकारने उपदेश दिया है।

देवपूजा। अरिहन्त, सिद्ध, साधु, धर्म और जिनवाणी, इनकी पूजा दर्शनविशुद्धिके प्रवल करनेका कारण है। इसलिये श्रावकको अष्टद्रव्यसे नित्यपूजा, आष्टाह्निक पूजा, महामहपूजा, कल्पद्रुमपूजा और ऐन्द्रध्वजपूजा यथाविधि करना चाहिये।

गुरूपास्ति। जैसे राजाका मन अनुरञ्जित करना उनके साथ शिष्टाचारका व्यवहार करना लोकाचारमें इष्ट है. उसीप्रकार निष्कपट और अनुवृत्ति सहित मनोवृत्तिसे गुरुके मनमें स्थान पाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। वर्तमान मुनियोंमें पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनकी उपासना करनी चाहिये। उनके सामने हंसना, खेलना और अवनीतिपनेका वर्तन आदि निषिद्ध कर्म हैं।

दत्ति। समयिक, साधक, समय द्योतक, नैष्ठिक और गणाधिप इन पांच श्रावकोंको दान देनेयोग्य धर्म-पात्र माने हैं। इनको उत्तरोत्तर गुणानुरागपूर्वक दान देना चाहिये। तथा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति स्थिर रखनेके लिये दान देना चाहिये।

धनका नानाप्रकारसे विनियोग करते हुए गृहस्थको अपने साधर्मी भाइयोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये। जिसमें एक जैनत्व गुण मौजूद है उसके बराबर दूसरा कोई धन्य नहीं है। जो जैनत्व गुणके अनुरागसे प्रेम करता है वह जैनत्वका प्रचारक होनेसे एक दिन अपनी इस सद्भावनाके कारण उसके फलस्वरूप जैनशिरोमणि होकर मुक्तिका भी अधिकारी होता है। जैनत्व गुणके प्रति प्रेम करनेके मार्गोंमें एक मार्ग अपनी कन्या जैनधर्मानुरागीको देना है। वरमें वरके योग्य इतर गुणोंके साथ साथ जिनधर्मानुराग यह भी एक गुण है। अपनी कन्या ऐसे वरको प्रदान करनेसे उसके धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। तथा इसप्रकारके कन्यादानसे गृहस्थाश्रमके प्रदानका फल प्राप्त होता है। आधानादि क्रिया-मंत्रोंका प्रचार जारी रहता है। व्रतादिका उच्छेद नहीं होता है। तथा धर्म-संतति, अक्लिष्ट रति, व्रतकी उन्नति और देवादिका सत्कार ये भी उसके फल हैं। सत्कन्याके साथ साथ पृथिवी, स्वर्ण आदिका दान भी शक्त्यनुसार करना चाहिये।

जिसप्रकार वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये संतान उत्पन्न करना और उसे गुणी बनाना मनुष्यको इष्ट है उसीप्रकार जगद्बन्धु जैनधर्मकी परम्परा चलानेके लिये जैनमुनि उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना

दार्शनिको अनारम्भ वधका भी त्याग कर देना चाहिये। तथा उत्कट आरम्भ भी नहीं करना चाहिये। आरम्भके कार्य स्वयं न करके जहांतक बने यत्नपूर्वक दूसरोंसे करा लेना चाहिये और व्यावहारिक शांतिके लिये अपने सम्यक्त्व और व्रतोंकी रक्षा करते हुए लोकाचारको प्रमाण माने। उसमें किसीप्रकार विसंवाद न करे। अपनी स्त्रीको धर्म पुरुषार्थमें व्युत्पन्न बनावे। क्योंकि स्त्रीके विरुद्ध व अज्ञानी रहनेसे वह धर्मसे भ्रष्ट कर सकती है। यदि उसकी उपेक्षा की जावे तो वह उपेक्षा कभी २ वैरका कारण भी बन जाती है। इसलिये प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हुए स्त्रीको धर्ममें व्युत्पन्न करना चाहिये। उसीप्रकार कुलीन स्त्रियोंको भी अपने पतिके मनोनुकूल रहकर व्यवहार करना चाहिये। जैसे देह और मनके तापकी शांतिके लिये अन्नकी जितनी आवश्यक्ता हो उतनेका ही सेवन करना चाहिये। उसीप्रकार देह और मनके तापकी शांतिके लिये ही परिमित भोग भोगना चाहिये। क्योंकि उसके अतिरेकसे धर्म, अर्थ और कामका नाश होता है। तथा योग्य पुत्रोत्पत्ति और उसे योग्य बनानेके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये।

दार्शनिकके लिये विशेष शिक्षाएँ।

ये दर्शन आदि प्रतिमाएं अतीचार रहित ही होती हैं। व्रतकी अपेक्षा रखकर व्रतके एकदेश-भंगको अतीचार कहते हैं। वह एकदेश भंग कहींपर अन्तर्वृत्तिरूप एकदेशव्रतके उलंघनसे होता है। ये अतीचार अज्ञान और प्रमादसे ही होते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक व्रतका भंग हो तो वह अनाचार समझना चाहिये, अतीचार नहीं। शास्त्राम्नायसे सभी व्रतोंके पांच पांच अतीचार बताये हैं परन्तु अतीचार केवल पांच पांच ही होते हैं, यह बात नहीं है किन्तु और भी हो सकते हैं जिसका ग्रन्थकारने 'परेऽप्यूह्यास्तथात्यया:' वाक्यसे निर्देश किया है। अतीचार पांच होते हैं यह समझानेकी दृष्टि है, इसलिये इसीप्रकारके और भी जितने अतीचार हों उन्हें तर्कसे समझ लेना चाहिये। जैसे विना निंदी हुई खेती फलप्रद नहीं होती है उसीप्रकार सातिचार व्रत इष्ट फलप्रद नहीं होते हैं। प्रतिमाओंमें भी सातिचार प्रतिमा वास्तवमें प्रतिमा नहीं रहती है। ग्रन्थकारने आठ मूलगुण आदिके सब अतीचारोंका विवेचन इसी दृष्टिकोणसे किया है।

चौथा अध्याय।

चौथे पांचवें और छठे अध्यायमें व्रतप्रतिमाका वर्णन है। उसमेंसे चौथे अध्यायमें तीन शल्योंसे रहित व्रती होना चाहिये, इसका वर्णन है। क्योंकि शल्य सहित व्रत निंद्य है, परिणाममें दुःखदायक होते हैं। आगे उत्तरगुणोंका सामान्य रूपसे उल्लेख करके फिर विस्तारसे पांच अणुव्रत और उनके अतीचारोंका वर्णन है। श्रावकोंके पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये

चौथा अध्याय ।

पांचवा अध्याय।

छट्ठा अध्याय ।

७ वां अध्याय ।



शुद्धिपत्रक।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	१८	पालव	पालन
२	२६	सञ्ज्ञा	सञ्ज्ञा
३	३	विपमत	विपमता
३	२०	जीवक	जीवके साथ
५	१३	सम्ययत्व	सम्यक्त्व
६	२०	प्रभवद्भवात्	प्रभवाद्भवात्
७	१७	वध्यमान	वक्ष्यमान
१०	३०	निर्वृत्ति	निवृत्ति
१२	१९	विस्तारिणोः	विस्तारिणः
१४	१७	मागर्श्च	मार्गश्च
१४	२३	मणिमें	मणियें
१४	२४	छिद्र छेद	छिद्र (छेद)
१५	८	सम्यग्दृष्टि··· ......होकर	(दुबारा छपगया है)
१५	१९	अन्योन्यानुगुण	अन्योन्यानुगुणं
१७	२५	वध्यते	वक्ष्यते
१९	१२	पूजनके योग्य	योग्य
२४	२	अवीचि	आवीचि
२४	३	अवीचि	आवीचि
२५	३	कामित्यादिक	कामिन्यादिक
२५	१०	वह	तौभी वह
२७	११	(द्विषः)	(द्विशः)
२९	११	लरता है	करता है
३०	६	(...विरतीस्थानेषु)	...विरतिस्थानेषु
४१	२५	संयमोः	संयमो
४१	२५	प्रवीयते	प्रहीयते
४३	२४	मातमानः	मातमनः
४४	७	(पकापका)	(पकापकाः)
४६	२०	भोग्यनेकी	भोग्यपनेकी
४७	२९	गंगाजल	समुद्रजल
४९	७	काटको	काठको
५०	२२	बलवीर्यनिगूहकः	बलवीर्यानिगूहकः
५३	२	वक्ष्यमाग	वक्ष्यमाण
५३	१६	जनकुलमें	जैनकुलमें
५३	२३	अवतारिक	अवतार आदिक
५४	८	दुद्वनः	दुंदुवनः
५६	७	(हिनांऽपि)	(हीनांऽपि)
५६	१९	धार्यं	धार्यं
५८	१८	—	दान देनेके बाद अथवा आहारके पहिले
६१	१०	नस्य	न्यस्य
६२	९	आश्रम	आश्रय
६४	२	करानेपर	कराकर
६६	४	जनसमूहसे	जनसमूहमें
७०	३	गुरूपासिका	गुरुपास्ति की
७०	६	पुपुप	पुरुप
७०	१९	नु	न
७२	१३	समायिक	समयिक
७२	१६	समायिक	समयिक
७२	१६	भिनके	जिनके
७५	२०	हस्त्यश्च	हस्त्यश्व
७७	३	(काय)	(कार्य)
७८	५	वलको	वरको
७८	१७	('सगृहिणा')	('सद्गृहिणा')
८१	२०	उत्तरोत्तरमावेन	उत्तरोत्तरभावेन
८६	२	मनुवद्धमपत्यवत्	मनुबद्धमपत्यवत्
९१	२८	यादिक	कृषि आदिक
९३	१५	तीर्थयात्रा	दर्शनविशुद्धिके लिये तीर्थयात्रा
९३	२६	अशुभाश्रव	शुभाश्रव
९४	१	परासाधाणान्	परासाधारणान्
९४	१६	चर्याकला	चर्याफला-
९६	१६	पोढोमयी	पोढोभयी
९७	१०	निरनुकाशो	निरनुक्रोशो
९८	२२	पढन्न	पडत्र
१०२	३	चति	चैति

पृष्ठ	पंक्ती	अशुद्धी	शुद्धी
१०३	२१	वत्स्यादि	वत्स्यादि
१०५	१९	शिरका	शिकार
११०	१८	नोपेक्षेत्	नोपेक्षेत
„	२२	(नोपेक्षेत्)	(नोपेक्षेत)
११३	१९	प्रतिमाभित्थ	प्रतिमामित्थ
११५	२६	जानि	जाति
११८	२	गृहविरत	गृहनिरत
„	२५	द्रोपाद्यापक	दोषाद्यापक
११९	२	दोपाद्यापक	दोषाद्यापक
„	५	द्याद्यादि	द्व्यादि
१२०	२	हिन्स्येप	हिन्स्येप
१२१	२७	वनाई	वताई
१२५	४	कहे कि भले	भले हि कहे
१२६	१८	उन	उने
„	„	कभी	सभी
१२७	२	अनुपालनाश्च	अनुपालनाद्य
„	१६	भनक्त्यस्वन्	भनक्त्यघ्नन्
१२९	२१	नियोगको	वियोगको
१३२	१७	वालस्वर	वाल स्वर
१३४	„	(उपवासेन) उपवासके द्वारा (स्वजन्मार्द्धं) अपने आधे जन्मको (नयन) व्यतीत करनेवाला पुरुष।	(स्वजन्मार्द्धं) अपने आधे जन्मको (उपासेन) उपवासके द्वारा (नयन्) व्यतीत करनेवाला पुरुष।
१३५	२५	अति	आर्त
१३८	१६	संतोप	संतोपो
१४५	२	मृतस्तधनात्	मृतस्वधनात्
१४६	१०	निधानादिव्रनं	निधानादिधनं
१५०	२७	रहते	रहती
१५३	१३	परली	परस्त्री
„	१४	द्रुममसृते	द्रुमसृते
१५६	१३	परिगृहीनी	परिगृहीता
१५७	२१	भंडिया	भंडिमा
१५८	१३	मभिधान	मभिध्यान
१५९	२९	मूंच्छा	मूर्च्छा
१६१	२	श्रयः	श्रेयः
१६३	१९	करसक्रता	करवाता
१६६	„	प्रसिद्ध	प्रसिद्धै
१६७	१७	सिन्नः	सीभ्नः
„	२०	यतीबत्	यतिवत्
१७१	२५	अभितमत	अभिमत
१७४	१४	मुक्त	युक्त
१७५	७	स्नग्वत	स्नग्वत्
„	९	अम्बरवत	अम्बरवत्
१८०	९	अपाप	अपाय
„	१०	अचित	सचित्त
१८५	३	श्रुतिचक्षु	श्रुतचक्षु
„	४	„	„
१८६	२९	प्रेपं	प्रैपं
१८७	३	शाब्दश्रावणं	शब्दश्रवणं
१८९	५	मन्यया	मन्यथा
१९१	१३	पणिधान	प्रणिधान
„	२१	स्मृत्यउपस्थापन	स्मृत्यनुपस्थापन
१९२	२२	असन	अशन
„	२७	उपवासक्षमैः	उपवासाक्षमैः
१९३	३	अचाम्ल	आचाम्ल
१९४	१२	अनन्त	अनन्तर
„	२५	भावमय्यव	भावमय्यैव
„	२९	उत्सृजजेत्	उत्सृजेत्
२०७	३	मुहूर्तें	मुहूर्तं
„	२७	वर्सज्ञके	सर्वज्ञके
२१०	१	भास्कर	भास्करं
„	१९	चित्रों	चित्रोंद्वारा
२११	३	(क्षालिताङ्घ्रि)	(क्षालिताङ्घ्रिः)
२१५	१९	यात्	स्यात्
२१८	१८	उपलक्षणसे	उपलक्षणसे
२२३	२	मुच्यतैत	मुच्येतैत
२२९	५	ससुद्रसे	समुद्रसे
२३६	२५	आप	अपि

पृष्ठ	पंक्ती	अशुद्धी	शुद्धी
२३७	१२	व्रतको	व्रतके
२३९	२८	आपका	आमका
२४०	२५	शास्त्र	शास्त्रमें
२४५	११	धर्मको छोडकर	धर्मको न छोडकर
२४८	८	विनयाचारके	विनय और आचारके
„	१२	मुमुक्षौः	मुमुक्षोः
„	१३	निर्मिली	निर्मली
„	२०	नवमी	दशमी
२४९	७	उपार्धे	उपाधि
„	२१	(क्षुल्लक)	क्षुल्लक
„	२२	ओढनेको वस्त्र	ओडनेके वस्त्रका
२५२	१४	एकभिक्ष	एकभिक्षाका कर्तव्य
२५३	१०	सञ्ज्ञो	सञ्ज्ञो
६६०	२७	नश्यं	नाश्यं
२६१	१६	प्रतिकार्यश्च	प्रतीकार्यश्च
२६४	६	रहे	है
„	२६	पिण्डोस्ते	पिण्डोस्ति
„	„	हावयेत्तरा	हापयेत्तदा
„	३०	हावयेत	हापयेत
२६७	१४	अचल	अयत्न
२६८	२६	उपचारकी	उपस्कारकी
२७०	१	जो आत्मालोक	जो लोक आत्मा
„	६	तनोर्हान	तनोर्हानि
२७२	२	आश्रयत्तदलाभे	आश्रयेत्तदलाभे
२७३	५	दीर्घाजवञ्जवा	दीर्घाजवञ्जवाः।
„	२५	पदाके	पदा
२७४	२१	उपचरित अपरिग्रहके कारण	अपरिग्रहके कारण उपचरित
२७५	२२	घार्यिहत्यायां	घाहत्यायां
२७६	३	हाता है	हाता हुए है
२७९	२८	संसारपर	संस्तर पर
२३१	२	महावृती श्रावक	वृती महाश्रावक
२७९	२८	संसार पर	संस्तर पर
२८५	६	प्रथम उत्पत्तिपूर्वक	उत्पत्तिपूर्वक प्रथम
२९३	९	निर्वाणपूर्वक	निवारणपूर्वक
२९५	१०	पौष्टिककार्य	पौष्टिकार्थ
२९५	२५	भावहिंसा होनेपर	भावहिंसाके होनेपर
२९६	५	मै स्पर्श भी नहीं करता हूं जो	मैं स्पर्श भी नहीं करता हूं इसलिये जो
२९८	७	स्वसंवेदन	स्वसंवेदनसे
२९९	१८	एसे	ऐसे हो
३०१	२२	कल्पनाको	कल्पनासे
३०२	७	उपसर्गमे	उपसर्गसे सुमार्गमें
३०५	२५	भ्रमण	श्रमण (मुनि)
३०६	१३	मुक्त तथा इंद्रादिक यथाक्रमसे	इंद्रादिक होकर यथायोग्य कालमें मुक्त

आशाधर पृष्ठ		शुद्ध	अशुद्ध
३	१२	श्रीरानी	श्रीरत्नी
७	२०	१५००	१३००
७	२३	१२९२	१२२२
८	२४	नागद्वन्द-जिन	नागद्रह-जिन
९	१	म्लेच्छैः प्रतापागतैः	म्लेच्छप्रतापागते



श्रीवीतरागाय नमः।

पंडितप्रवर आशाधरजी विरचित-

सागारधर्मामृत सटीक।

प्रथम अध्याय।

मङ्गलाचरणपूर्वक ग्रन्थकारकी सागारधर्मके प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञाः—

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षूण-चरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) मुनियोंके धर्मका प्रतिपादन करनेके अनन्तर (अक्षूण-चरणान्) परिपूर्ण है चारित्र जिन्होंका ऐसे (अर्हतः) अर्हन्तोंको और (अक्षूण-चरणान्) निर्दोष है चारित्र जिन्होंका ऐसे (श्रमणान् अपि) मुनियोंको भी (नत्वा) नमस्कार करके ('अस्माभिः') हमारे द्वारा (तद्धर्मरागिणां) मुनियोंके धर्ममें अनुरागको करनेवाले (सागाराणां) गृहस्थोंका (धर्मः) धर्म (प्रणेष्यते) प्रतिपादन किया जावेगा अर्थात् अब गृहस्थोंके धर्मका वर्णन किया जाता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें अथ यह शब्द मङ्गलार्थक होते हुए भी प्रकरणके प्रारम्भका द्योतक है। क्योंकि ग्रन्थकारने ग्रन्थका पूरा नाम धर्मामृत रक्खा है। और आम्नायके अनुसार क्रमपूर्वक मुनियों तथा श्रावकोंके धर्मका निरूपण करनेके लिए उसको अनगारधर्मामृत व सागारधर्मामृत इस तरह दो भागोंमें विभक्त किया है। उनमेंसे मुनि धर्मका तो अनगारधर्मामृत नामक पहले भागमें ही निरूपण कर दिया। अब उसके बादमें जो मुमुक्षु भव्यजीव हीन संहनन आदि दोषोंके कारण हिंसादिक पञ्चपापोंके सर्वथा त्यागरूप मुनियोंके धर्मको पालन करनेमें असमर्थ होते हुए भी उसमें अनुरागी हैं उनको उसी भवमें या भवान्तरमें मुनिधर्म पालन करनेकी योग्यता प्राप्त हो इसके लिए ग्रन्थकार मङ्गलाचरणके जो पूर्वाचार्योंने १—नास्तिकताका परिहार, २—शिष्टाचारका परिपालन, ३—पुण्यकी प्राप्ति और ४—निर्विघ्न ग्रन्थकी परिसमाप्ति, इसप्रकार चार प्रयोजन (फल) बताये हैं, उनको लक्ष्यमें रखकर—

"सुदृग्बोधो गलद्वृत्त-मोहो विषयनिःस्पृहः।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्यात्-यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः" ॥

अर्थात्—जो सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम होनेपर विषयोंसे निस्पृह होता हुआ हिंसादिक पञ्चपापोंका सर्वदेश त्याग करता है वह मुनि कहलाता है। तथा जो एक-देश त्याग करता है वह श्रावक कहलाता है। इस प्रकार जो अनगार धर्मामृतके चौथे अध्यायमें कह आये हैं उसके अनुसार प्रथम ही, सम्पूर्ण मोहनीय कर्मके नाश होनेके कारण निर्मल और परिपूर्ण यथाख्यात चारित्रको धारण करनेके साथ २ समवशरणादिरूप बहिरङ्ग तथा अनंतचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मीसे सुशोभित अर्हन्तोंको और उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षण धर्मोंके व अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओंके विशेष बलसे-चिन्तवनसे निरतिचार सामायिक, छेदोपस्थापनादि क्षायोपशमिक चारित्रको पालन करते हुए बाह्य तथा आभ्यन्तर तपका आचरण करनेवाले आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओंको भी नमस्कार करके सागार धर्मके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

यहांपर ग्रन्थकारने जो अर्हन्तों तथा मुनियोंको नमस्कार किया है उससे उन्होंने, श्रावकको अपने सच्चे श्रावकपनेके द्योतन करनेके साथ २ पूजन व दान इन दोनों प्रधान कर्तव्य कर्मोंको योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अर्हन्त भक्ति तथा मुनि भक्ति करना अर्थात् देव शास्त्र और गुरुकी भक्ति करना आवश्यक है इस बातको प्रकारान्तरसे सूचित किया है। तथा 'यति-धर्मानुरागी' इस विशेषणसे यह सूचित किया है कि मुनिधर्मके पालन करनेमें असमर्थ पुरुषोंको मुनिधर्ममें अनुरागी होकरके ही सागार धर्मको धारण करना चाहिए। जिन गृहस्थोंको मुनिधर्ममें अनुराग नहीं है उनसे देशव्रत (श्रावक धर्म) भी योग्य रीतिसे नहीं पल सकता है। क्योंकि मुनिधर्मके पालन करनेकी साक्षात् या परम्परासे योग्यताकी प्राप्तिके लिये मुनिधर्ममें अनुरागी होना ही सागार धर्मके धारण करनेका ध्येय है।

सारांश यह है कि मुनिधर्म औत्सर्गिक है। और सागारधर्म आपवादिक है। इसलिए जो मुमुक्षु भव्य जीव मुनिधर्मके धारण करनेमें समर्थ हैं उनको तो मुनि धर्मका ही पालन करना चाहिए। किन्तु जो उसके धारण करनेमें असमर्थ हैं उनको मुनिधर्मकी प्राप्तिके लिये मुनिधर्ममें अनुराग रख करके ही सागार धर्मका पालन करना चाहिये ऐसा ग्रन्थकारका उपदेश है।

आगे—सागारोंका अर्थात् सकल परिग्रही गृहस्थोंका क्या लक्षण है ऐसा प्रश्न होनेपर ग्रन्थकार उनका लक्षण कहते हैं—

अनाद्यविद्यादोषोत्थ-चतुःसञ्ज्ञाज्वरातुराः।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः॥ २॥

अन्वयार्थ—(अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः) अनादि कालसे चले आये हुए अज्ञानरूपी दोषोंसे उत्पन्न होनेवाली चारों संज्ञाओं रूपी ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण (शश्वत्स्व-

ज्ञानविमुखाः) निरन्तर आत्मज्ञानसे पराङ्मुख और (विषयोन्मुखाः) विषयोंमें प्रवृत्त होनेवाले (सागाराः) गृहस्थ ('भवन्ति') होते हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार, वात पित्त और कफ इन तीन दोषोंकी विषमताके द्वारा उत्पन्न होनेवाले जो प्राकृतादिक चार प्रकारके ज्वर हैं उन ज्वरोंसे पीड़ित होनेके कारण मनुष्य हिताहितविवेकसे शून्य होजाते हैं, उसी प्रकार अनित्य पदार्थोंको नित्य, अपवित्र पदार्थोंको पवित्र, दुखोंको सुख तथा अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थोंको अपने माननेरूप जो अनादिकालीन अविद्या है इस अविद्यारूपी वात पित्त व कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली आहारादिक चारों संज्ञाओं-रूपी ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण जो निरन्तर—

"एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥"

अर्थात्–एक ज्ञानदर्शन लक्षणवाला–ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी आत्मा ही मेरा है। और संयोग है लक्षण जिन्होंका ऐसे बाकीके सम्पूर्ण वैभाविक भाव मेरे बाह्य भाव हैं अर्थात् मेरेसे भिन्न हैं इत्यादि परमागममें निरूपित स्वात्मज्ञानसे विमुख होकर राग तथा द्वेषसे स्त्री वगैरह इष्ट और दुर्भोजन, दुर्व्यसन आदि अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त होरहे हैं उन्हें सागार अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह सहित घरमें निवास करनेवाले गृहस्थ कहते हैं।

यहांपर ग्रन्थकारने संज्ञा[१]ओंको ज्वरकी उपमा दी है। क्योंकि जैसे संज्ञाओंके आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा इस तरह चार भेद हैं। वैसे ही ज्वरोंके भी साध्य प्राकृत, असाध्य प्राकृत, साध्य वैकृत तथा असाध्य वैकृत इस प्रकार चार भेद हैं। और जिस प्रकार संज्ञाओंसे मोह व सन्ताप होता है उसी प्रकार ज्वरोंसे भी मोह तथा सन्ताप होता है।

सारांश यह है कि अनादि कर्मबन्धनबद्ध जीवके अनादिकालसे मिथ्यात्व कर्मका सम्बन्ध पाया जाता है। और उस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान व अविद्या शब्दसे कहा जाता है। अविद्या कारण है। तथा आहारादिक चार प्रकारकी संज्ञाओंके द्वारा आतुरताका होना कार्य है। इसलिए जैसे ज्वरके द्वारा आतुर प्राणी हिताहित विचारसे रहित होकर अपथ्यसेवी हो जाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्वके द्वारा व्याप्त अज्ञानी जीव अज्ञानके निमित्तसे होनेवाली आहारादिक चारों संज्ञाओंकी आतुरताके वशीभूत होनेके कारण स्वानुभूतिसे पराङ्मुख होकर विषयसेवनको ही शांतिका उपाय समझकर निरन्तर रागद्वेषसे इष्टानिष्ट विषयोंकी तरफ ही उन्मुख हो रहे हैं।

अब—जिन गृहस्थोंका लक्षण पहले कहा जा चुका है उन्हीं गृहस्थोंके लक्षणको दूसरी तरहसे बताते हैं—

१–आहारादिककी अभिलाषाके अनुभवनरूप संस्कारको संज्ञा कहते हैं।

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रन्थसञ्ज्ञामपासितुम् ।
अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अनाद्यविद्यानुस्यूतां) अनादिकालिन अज्ञानके द्वारा परम्परासे चली आई हुई (ग्रन्थसञ्ज्ञां) परिग्रह संज्ञाको (अपासितुं) छोड़नेके लिए (अपारयन्तः) असमर्थ और (प्रायः) प्रायः करके (विषयमूर्च्छिताः) स्त्री वगैरह विषयोंमें मूर्च्छित होनेवाले (सागाराः) गृहस्थ (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—सन्तति रूप परम्परासे चले आनेवाले वीज और अंकुरकी तरह अनादि कालीन अज्ञानके द्वारा सन्ततिरूप परम्परासे चली आनेवाली परिग्रह संज्ञाको अर्थात् स्त्री पुत्र, धन धान्य, दासी दास आदि परिग्रहमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके मूर्च्छात्मक परिणामोंको छोड़नेके लिये जो असमर्थ हैं तथा प्रायः करके स्त्री वगैरह इष्ट विषयोंमें 'ये मेरे भोग्य हैं और मैं इनका स्वामी हूं' इस तरहके ममकार व अहङ्काररूप विकल्पोंकी परतंत्रताके द्वारा व्याप्त होरहे हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं।

इस श्लोकमें जो प्रायः शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि प्रायः करके सम्यग्दृष्टी जीव भी अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंके उदयके वशसे विषयोंमें मूर्च्छित होजाते हैं । परन्तु जन्मान्तरमें—पूर्वजन्ममें अभ्यास किये गए रत्नत्रयके प्रभावसे साम्राज्यादिक बड़ी भारी लक्ष्मीका भी उपयोग करनेवाले जो कोई सम्यग्दृष्टी जीव 'असती नाथोपभोग' न्यायसे अर्थात् जिस प्रकार

१—धात्रीवालासतीनाथ-पद्मिनीचलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभाति भुञ्जानोऽपि न पापभाक् ॥

अर्थ—अपनेको पालन करनेवाली धायमें लिप्त-आसक्त नहीं होनेवाले बालककी तरह अपनी व्यभिचारिणी स्त्रीको आसक्ति पूर्वक सेवन नहीं करनेवाले पुरुषकी तरह कमलिनीके पत्तेपर रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होनेवाले चंचल जलकी तरह सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंको भोगता हुआ भी जली हुई रस्सीकी तरह पापका भागी नहीं होता है—पापकर्मोंके बन्धको करनेवाला नहीं होता है । अथवा बालकमें आसक्तिको नहीं करनेवाली धायकी तरह अपने पतिको आसक्ति पूर्वक सेवन नहीं करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रीकी तरह और जलमें रहती हुई भी उसमें लिप्त नहीं होनेवाली कमलिनीकी तरह सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंको भोगता हुआ भी जली हुई रस्सीकी तरह पापका भागी नहीं होता है ।

भावार्थ—इस पद्यमें दिये गये धात्री बालादिक तीन दृष्टान्त तो स्पष्ट ही हैं । जली हुई रस्सीके दृष्टान्तका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार जली हुई रस्सीमें ऐंठवा—उमेठका केवल आकार दिखता है, परन्तु वह किसीको बांधनेमें समर्थ नहीं होती है, उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंका सेवन करता है, परन्तु अरुचि पूर्वक उनका सेवन करनेसे उसके विषयभोग कर्मोंके बन्ध करानेमें समर्थ नहीं होते हैं अर्थात् जैसे मिथ्यादृष्टी जीव आसक्ति पूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे अनन्त संसारके कारणभूत मिथ्यात्वादिक पापकर्मोंका बन्ध करता है वैसे सम्यग्दृष्टी जीव आसक्ति पूर्वक विषयोंका सेवन न करनेसे अनन्त संसारके कारणभूत पापकर्मोंका बन्ध नहीं करता है । अतएव मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कृत पापकर्मोंके बन्धका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंको भोगता हुआ भी अबन्धक कहा जाता है ।

कोई पुरुष अपनी व्यभिचारिणी स्त्रीको त्याज्य समझता हुआ भी उसको उदासीन रूपसे सेवन करता है। उसी प्रकार तत्वज्ञानपूर्वक देशसंयमका पालन करते हुए उदासीन रूपसे विषयोंको भोगते हैं वे उन विषयोंको भोगते हुए भी उनमें मूर्च्छित नहीं होते हैं।

सारांश यह है कि कोई २ सम्यग्दृष्टीजीव अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहके उदयके उद्रेकसे विषयोंमें [२]मूर्च्छित हो जाते हैं। और कोई २ तत्वज्ञानी देशव्रती सम्यग्दृष्टी जीव मूर्च्छित नहीं होते हैं। क्योंकि देश संयमको पालन करनेसे वे वास्तवमें विषयोंका सेवन नहीं करना चाहते हैं। किन्तु चारित्रमोहके उदयके वेगको सहन नहीं कर सकनेके कारण वेदनाके प्रतीकारके लिए उनको उन विषयोंका सेवन करना पड़ता है। इसलिए उदासीनरूपसे विषयोंको भोगते हुए भी वे उन विषयोंको नहीं भोगनेवालोंके समान कहे जाते हैं, इस बातको ही ग्रन्थकारने प्रायः इस शब्दसे सूचित किया है।

इस प्रकारसे गृहस्थोंका लक्षण बता करके अब उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होने तथा नहीं होनेका मूल कारण जो अज्ञान और ज्ञान है उस अज्ञान व ज्ञानके कारणभूत मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वके प्रभावको बताते हैं—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः॥ ४॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः) मिथ्यात्वके द्वारा व्याप्त है चित्त जिन्होंका ऐसे जीव अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव (नरत्वेऽपि) मनुष्यत्वके रहते हुए भी (पशूयन्ते) पशुओंके समान आचरण करते हैं और (सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः) सम्यक्त्वके द्वारा व्यक्त होगई है चैतन्य रूपी सम्पत्ति जिन्होंकी ऐसे जीव अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीव (पशुत्वेऽपि) पशुत्वके रहते हुए भी (नरायन्ते) मनुष्योंके समान आचरण करते हैं।

भावार्थ—तत्वोंके विपरीत श्रद्धानरूप मिथ्यात्वके द्वारा जिनकी आत्मा व्याप्त होरही है ऐसे जीव मनुष्य होकरके भी हिताहित विवेकसे रहित होनेके कारण पशुओंके समान हैं।

२—वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रमित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥

अर्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और शत्रु वगैरह ये सब आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वभाववाले हैं। परन्तु फिर भी अज्ञानी जीव इन सबको अपना मानता है।

भावार्थ—जो शरीरादिक पर पदार्थोंको अपना मानता है उसको मूर्छित कहते हैं।

और तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्वके द्वारा अर्थात् प्रशम[1], संवेग[2], अनुकम्पा[3] तथा आस्तिक्य[4] इन गुणोंके द्वारा जिनकी चैतन्यरूपी—स्वात्मानुभूतिरूपी सम्पत्ति प्रगट होरही है। ऐसे जीव पशु हो करके भी हिताहित विचारमें चतुर होनेके कारण मनुष्योंके समान हैं।

इस श्लोकमें 'नात्वेऽपि' यहांपर अपि शब्द दिया गया है, उसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि मनुष्य सब जीवोंकी अपेक्षा अधिक विचारवान होते हैं। परन्तु उनका भी जब ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे विपरीताभिनिवेश युक्त होकर हेयोपादेयके विचारमें प्रवृत्त नहीं होता है अर्थात् मिथ्यात्वके प्रभावसे जब मनुष्य भी हित और अहितके विचारसे रहित होकर पशुओंके समान हो जाते हैं तो फिर पशुओंकी तो बात ही क्या कहना है ? अर्थात् वे तो मिथ्यात्वके प्रभावसे अवश्य ही हिताहित विचारसे रहित हो जावेंगे। तथा 'पशुत्वेऽपि' यहांपर जो अपि शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि पशु बिचारे प्रायः करके अविचार प्रधान ही होते हैं। परन्तु कदाचित उन्हें काललब्धि आदि कारणोंके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जावे तो सम्यक्त्वके माहात्म्यसे वे भी जब हेयोपादेय तत्वके जाननेवाले हो जाते हैं तो फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या कहना है। अर्थात् वे तो सम्यक्त्वके माहात्म्यसे अवश्य ही हेयोपादेय तत्वके जाननेवाले होंगे।

१-प्रशमका लक्षण—रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समन्ताद्व्रतभूषणम् ॥

अर्थ—रागादिक दोषोंमें जो मनोवृत्तिका नहीं जाना है उसीको तत्वज्ञानी पुरुष सर्व तरफसे सम्पूर्ण व्रतोंका भूषित भूत प्रशम कहते हैं।

भावार्थ—रागद्वेष आदि दोषोंमें चित्तके नहीं जानेको प्रशम कहते हैं और यह प्रशम सब व्रतोंका भूषण है।

२-संवेगका लक्षण—शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवद्भवात्।
स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥

अर्थ—शारीरिक रोगादि रूप व्याधिको, मानसिक चिन्ता रूप आधिको और आगन्तुक आकस्मिक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले तथा स्वप्न और इन्द्रजालके समान अस्थिर संसारसे भय होनेको संवेग कहते हैं।

३-अनुकम्पाका लक्षण—सत्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूल-मनुकम्पां प्रचक्षते ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंपर चित्तकी दयार्द्रताको दयालु मुनि (श्रीगुरु) अनुकम्पा कहते हैं और यह अनुकम्पा ही धर्मका मुख्य कारण है।

भावार्थ—सब जीवोंपर दया करनेको अनुकम्पा कहते हैं।

४-आस्तिक्यका लक्षण—आप्ते श्रुते व्रते तत्वे चित्तमास्तिक्यसंयुतम्।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं युक्तं युक्तिधरेण वा ॥

अर्थ—सर्वज्ञमें, शास्त्रमें, व्रतमें और सात तत्वोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेको आस्तिक पुरुष अथवा युक्तिधर-परीक्षाप्रधानी पुरुष आस्तिक्य कहते हैं।

यद्यपि पशु शब्द सामान्यरूपसे सम्पूर्ण तिर्यंचोंका वाचक है। परन्तु सम्यक्त्वकी प्राप्तिका प्रकरण-कथन होनेसे 'पशुत्वेऽपि' यहांपर पशु शब्दसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचोंका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचोंके ही सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है दूसरोंके नहीं, ऐसा आगममें कहा है।

सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव है। किन्तु मिथ्यादर्शनके उदयसे वह अनादिकालसे विभाव परिणतिरूप हो रहा है। जबतक आत्माके-जीवके मिथ्यात्वका उदय रहता है तबतक उसके ज्ञानचेतना नहीं हो सकती है। क्योंकि सम्यग्दृष्टी जीवके ही ज्ञानचेतना होती है। मिथ्यादृष्टीके तो सदैव कर्म और कर्मफल चेतना ही होती है। चेतना आत्माका गुण है। तथा उसका काम जानना है। परन्तु मिथ्यात्वके उदयमें आत्माका वह ज्ञान गुण विपरीताभिनिवेश रूप हो जाता है। इसलिये आत्मा अपने आत्मीक सुखकी भ्रान्तिसे शरीरादिक परपदार्थोंमें निजकी कल्पना करके, सदैव उनके सुखसम्पादन और दुःख निवारणमें ही तत्पर रहता है। किन्तु जिस समय उसके, मिथ्यात्वके उदयका अभाव होकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है उसी समय उसके ज्ञानपरसे विपरीताभिनिवेश रूप मोहका परदा हट जानेसे वही आत्मा अपने आत्मीक ज्ञानसुखादिक गुणोंकी तरफ ही रुजू होने लगता है, अर्थात् उनमें आसक्ति करने लगता है। यदि कदाचित् कषायोंके उदयसे विषयोंमें उन्मुखता भी हुई तो वह सम्यग्दृष्टी जीवके आसक्तिपूर्वक नहीं होती है।

अतएव सम्यग्दृष्टी जीवके ही संवर तथा निर्जरा होती है। और बध्यमान कर्म भी मन्द अनुभाग व मन्द स्थितिवाले बंधते हैं। शुभ प्रकृतियोंमें तीव्र रसानुभाग तथा अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द रसानुभाग होने लगता है। ऐसा होते २ जिस समय जीव चारित्रको धारण करके अपने ज्ञान दर्शन व चारित्ररूप पूर्ण स्वभावमय हो जाता है उसी समय उसका मुक्त स्वरूप प्रगट हो जाता है जो कि मुक्त स्वरूप मनुष्यशरीरसे ही साक्षात् रूपमें संभव है। जो पुरुष परम पुरुषपदको-मोक्षपदको पुरुषार्थके द्वारा सिद्ध कर लेते हैं वे ही वस्तुतः पुरुष हैं। और परम पुरुषत्वके लिये-मोक्ष पुरुषार्थके लिये उन्मुख वस्तुतः सम्यग्दृष्टी ही होता है। इसलिये ग्रन्थकारका कहना है कि जो मनुष्य हो करके भी आत्मासे मिथ्यात्वको हटानेके लिये तत्पर नहीं होते हैं, वे वास्तवमें मनुष्य कहलानेके योग्य ही नहीं हैं। तथा जो पशु हो करके भी सम्यग्दृष्टी हैं वे मोक्षमार्गस्थ होनेसे मनुष्यत्वके योग्य हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टी तिर्यंच प्राणी केवल नामकर्मोदयादि बंधनबद्ध मात्र पशु हैं। आत्मा तो उनकी परम पुरुषपद-मोक्षपदकी प्राप्तिके उन्मुख होनेसे यथार्थमें मनुष्य ही है-पुरुष ही है।

इस प्रकार सामान्य रूपसे मिथ्यात्वके प्रभावको दिखा करके अब दृष्टान्त पूर्वक उसके तीनों भेदोंके ही प्रभावको दिखाते हैं—

केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम् ।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसारमें (केषाञ्चित्) किन्हींके अर्थात् ऐकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रियों तकके (अगृहीतं) अगृहीत (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व (अन्ध तमसायते) घोर अन्धकारके समान आचरण करता है और (अन्येषां) संज्ञी चेन्द्रियोंके (गृहीतं) गृहीत (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व (ग्रहायते) भूतके समान आचरण करता है तथा (अपरेषां) किन्हीं दूसरोंके–इन्द्राचार्यादिकोंके (सांशयिकं) सांशयिक (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व (शल्यति) शल्यके समान आचरण करता है अर्थात् दुख देता है ।

भावार्थ—मिथ्यात्वके तीन भेद हैं । १–अगृहीतमिथ्यात्व, २–गृहीतमिथ्यात्व और ३ सांशयिकमिथ्यात्व ।

१–अगृहीतमिथ्यात्व—दूसरोंके उपदेशके बिना अनादिकालसे जो जीवोंमें पाया जारहा है । अर्थात् अनादि सन्तान रूपसे जो जीवोंकी तत्वोंमें अरुचिरूप चेतनाकी परिणति होरही है उसको अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं । यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तकके होता है । ग्रन्थकारने इस मिथ्यात्वको गाढ़ अन्धकारकी उपमा दी है अर्थात् जिस गाढ़ अन्धकारमें–अत्यंत भारी अंधकारमें अच्छे बुरे आदि किसी भी पदार्थका दर्शन तथा उसका ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार इस मिथ्यात्वके उदयमें होनेवाले गाढ अज्ञान रूपी अंधकारके द्वारा जीवोंको धर्म, अधर्म, पुण्य पाप, बन्धमोक्ष, हेयोपादेय आदि किसीका भी ज्ञान नहीं होता है । और न उन्हें अपने तथा परके स्वरूपका भी कुछ भान होता है ।

२–गृहीतमिथ्यात्व—दूसरोंके उपदेशसे ग्रहण किये गए अतत्वाभिनिवेशरूप मिथ्यात्वको, विपरीत तथा एकान्त श्रद्धानरूप मिथ्यात्वको गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं । और जिस कुलमें जन्म हुआ है उस कुलमें मातापितादिकके द्वारा जो धर्म पाला जाता है वह धर्म यदि मिथ्या है तो उस कुलमें जन्म लेनेवालोंको जो बाल्यकालसे ही मातापितादिकके द्वारा उस धर्मके पालन करानेकी आदत डलवाई जाती है उसको तथा सज्ञान अवस्थामें जो लौकिक प्रभावशाली कुगुरु आदिकोंके द्वारा धर्म शिक्षण ग्रहण किया जाता है उसको भी गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं । यह मिथ्यात्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके ही होता है । इस मिथ्यात्वको ग्रन्थकारने भूतपिशाचावेशकी उपमा दी है । अर्थात् जिस प्रकार, जब किसी पुरुषको भूत लग जाता है तब वह भूत उस पुरुषकी स्वाभाविक दशाको भुलाकर उसको नाना तरहसे नचाता है । नाना प्रकारके विपरीत कर्मोंको करवाता है । उसी प्रकार यह गृहीत मिथ्यात्व जीवोंको तत्वोंमें विपरीत, एकान्त आदि अनेक रूपसे श्रद्धान कराता है । अतत्वोंमें तत्वोंका श्रद्धान करा करके तदनुकूल अनुष्ठान कराता है । इसके उदयमें

जीव असन्मार्गका ही पक्ष लेते हैं, उसका प्रचार करते हैं। और सम्यग्दृष्टी जीवों तकको भी उस ही तरफ खींचनेकी चेष्टाएँ करते हैं। इस तरह गृहीत मिथ्यादृष्टी जीव एकान्त विपरीतादि रूपसे पदार्थोंका श्रद्धान करके नाना प्रकारके धर्माभास रूप अनुष्ठान करते हैं।

३-सांशयिक मिथ्यात्व—मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेपर ज्ञानावरणी कर्मके विशेष उदयसे क्या जीवादि वस्तु, जिस प्रकारसे जैनाचार्योंने अनेकान्तात्मक कही है उसी प्रकारसे है या अन्यथा रूपसे है अर्थात् जैन महर्षियोंके द्वारा निरूपित यह अनेकान्त स्वरूप जीवादि वस्तु 'न जाने ठीक है या गैरठीक है' इस प्रकारकी चलित प्रतीतिको अर्थात् यथार्थ व अयथार्थ स्वरूपमेंसे किसी एक भी स्वरूपका निश्चय नहीं करनेवाली प्रतीतिको संशय कहते हैं। और इस प्रकारके संशयमें होनेवाले श्रद्धानको सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्वको ग्रन्थकारने शल्यकी —बाणकी उपमा दी है अर्थात् जिस प्रकार शरीरके भीतरमें घुसा हुआ बाण बहुत दुख देता है तथा जबतक वह शरीरसे नहीं निकाला जाता है तबतक वह शान्ति नहीं लेने देता है, कुछ भी काम करो सदैव उसकी तरफ ही चित्त जाया करता है, उसी प्रकार यह सांशयिक मिथ्यात्व भी जीवोंको बहुत दुख देता है अर्थात् जिन जीवोंके यह मिथ्यात्व पाया जाता है वे कोई भी अनुष्ठान करें परन्तु संशय होनेके कारण उनका चित्त अनुष्ठातव्य विषयकी ओर न जाकर सदैव अशान्त ही रहता है। इसलिए पदार्थोंके यथार्थ व अयथार्थ दोनों स्वरूपोंमेंसे किसी एक भी स्वरूपका निश्चय न कर सकनेके कारण यह मिथ्यात्व नाना दुःखोंका हेतु है। और प्राणियोंको सदैव व्यथित करता रहता है। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टी तत्वज्ञानियोंके अतिरिक्त जितने भी प्राणी हैं वे सब मिथ्यादृष्टी शब्दसे कहे जाते हैं। तथा मिथ्यादर्शनके तीन भेद होनेसे मिथ्यादृष्टियोंके भी अगृहीत मिथ्यादृष्टी, गृहीत मिथ्यादृष्टी और सांशयिक मिथ्यादृष्टी इस तरह तीन भेद होजाते हैं।

दूसरे ग्रन्थोंमें जो कई आचार्योंने मिथ्यात्वके ५ भेद बताये हैं वे सब इन्हीं तीनों भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। क्योंकि गृहीत मिथ्यात्वके एकान्त, विपरीत और विनय इस प्रकार तीन भेद हैं। तथा अगृहीत मिथ्यात्वका नामान्तर ही अज्ञान मिथ्यात्व है। और संशय है ही। इस प्रकार अगृहीत, गृहीत तथा सांशयिक मिथ्यात्वके ही एकान्त, विपरीत, विनय, अज्ञान और संशय ये पांच भेद हो जाते हैं। अन्तर कुछ नहीं। केवल विवक्षावश तीन और पांच भेद कहे जाते हैं। अर्थात् अभेद विवक्षासे मिथ्यात्वके तीन भेद कहे जाते हैं। तथा भेद विवक्षासे पांच भेद कहे जाते हैं।

आगे—अज्ञानके प्रधानकारणभूत मिथ्यात्वके नाश करनेमें समर्थ जो सम्यग्दर्शन है उस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेकी सामग्रीको बताते हैं—

आसन्नभव्यताकर्म-हानिसञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(आसन्नभव्यताकर्महानिसञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक्) आसन्नभव्यपनेको, सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्वादिक कर्मोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयको, संज्ञीपनेको तथा विशुद्ध परिणामोंको सेवन करनेवाला और (देशनाद्यस्तमिथ्यात्वः) सच्चे गुरुके उपदेशादिकसे नष्ट कर दिया है दर्शनमोह नामक कर्मको जिसने अर्थात् सच्चे गुरुके उपदेशादिकसे दर्शनमोहको नष्ट करनेवाला (जीवः) जीव (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्वको (अश्नुते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—आसन्नभव्यता, कर्महानि अर्थात् सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्वादि कर्मोंका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय, संज्ञीपना और विशुद्ध परिणामोंका होना ये चार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें अन्तरङ्ग कारण हैं। तथा सच्चे गुरुका उपदेश, जातिस्मरण, जिनप्रतिमाका दर्शन और वेदनाका होना आदि ये सब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें बाह्य कारण हैं।

आसन्नभव्यता—जिस जीवमें स्वभावतः रत्नत्रयके प्रगट होनेकी शक्ति है उसको भव्य कहते हैं। जो थोड़े ही भवोंको धारण करके मोक्षपदको प्राप्त करनेवाला है उसको आसन्न कहते हैं। आसन्न जो भव्य सो आसन्न भव्य कहलाता है। और उस आसन्न भव्यके भावको (पनेको) आसन्न भव्यता कहते हैं।

कर्महानि—सम्यग्दर्शनको नहीं होने देनेवाले कर्मोंकी हानिको अर्थात् मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम[1], क्षयोपशम[2] अथवा क्षयको[3] कर्महानि कहते हैं।

यद्यपि कर्म शब्द सामान्य रूपसे सम्पूर्ण कर्मोंका वाचक है। परन्तु सम्यक्त्व-लब्धिका प्रकरण होनेके कारण 'कर्महानि' यहां पर कर्म शब्दसे सम्पूर्ण दर्शनमोह तथा अनन्तानुबंधि चतुष्टयका ही ग्रहण करना चाहिये।

संज्ञित्व—नो इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर शिक्षा, क्रिया, आलाप और उपदेशके ग्रहण करनेकी शक्तिको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिनके पाई जावे उनको संज्ञी कहते हैं। और उसके भावको संज्ञित्व कहते हैं जैसा कि कहा भी है—

> मनोऽवष्टम्भतः शिक्षा-क्रियालापोपदेशवित्।
> येषां ते सञ्ज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः॥

अर्थात्—मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, आलाप तथा उपदेशके समझनेवाले ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। और यह संज्ञा जिनके पाई जाती है वे संज्ञी कहलाते हैं। जैसे मनुष्य, बैल,

---

१—द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे कर्मकी शक्तिकी अनुद्भूतिको उपशम कहते हैं।

२—वर्तमान निषेकोंमें सर्व घाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय तथा देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय और आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम ऐसी कर्मकी अवस्थाको क्षयोपशम कहते हैं। ३—कर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको क्षय कहते हैं।

तोता, हाथी वगैरह। जिसके द्वारा हितका ग्रहण और अहितका त्याग किया जाता है उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छा पूर्वक हाथ पैर आदिके चलानेको क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदिके द्वारा बताये हुए कर्तव्य कर्मको उपदेश कहते हैं। और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं।

इस प्रकार आसन्नभव्यपने रूप, सम्यक्त्वको घातनेवाली मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयरूप, संज्ञीपने रूप और विशुद्ध परिणाम रूप सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेकी अन्तरङ्ग सामग्रीसे युक्त होनेवाला तथा सच्चे गुरुका उपदेश, जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदि बहिरङ्ग सामग्रीके द्वारा दर्शनमोहनीकर्मको अथवा दर्शनमोहनी कर्मके कारणभूत सर्वथा एकान्त रूप अभिनिवेशको—अभिप्रायको नष्ट करनेवाला आत्मा—जीव ही सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी उपर्युक्त अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सामग्रीसे युक्त जीवको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्त कारणभूत जो पांच लब्धियां हैं उनका स्वरूप दिखलाया है। 'आसन्नभव्यता' और 'कर्महानि भाक्' इन पदोंसे प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप दिखाया है। 'संज्ञित्वभाक्' इस पदसे क्षयोपशम लब्धिका स्वरूप दिखाया है। 'विशुद्धिभाक्' इस पदसे विशुद्धि लब्धिका स्वरूप दिखाया है। तथा "देशनाद्यस्त मिथ्यात्व" इस पदमेंसे 'देशनादि' इतने अंशसे देशनालब्धिका और 'अस्तमिथ्यात्व' इतने अंशसे करणलब्धिका स्वरूप दिखाया है। इन पांच लब्धियोंमेंसे आदिकी चार लब्धियां तो अभव्यके भी हो सकती हैं। परन्तु अन्तकी करणलब्धि सम्यक्त्वके उन्मुख मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके ही होती है। क्योंकि आदिकी चार लब्धियोंके होनेपर भी जबतक करणलब्धि नहीं होती है तबतक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु जिस समय करणलब्धि हो जाती है उसी समय सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति भी हो जाती है। इसलिए सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें करणलब्धि मुख्य है और शेष चार लब्धियां सहायक हैं।

अब—इस पञ्चमकालमें सम्यक् उपदेश देनेवाले सच्चे गुरुओंकी कमी है इसलिये ग्रन्थकार खेद प्रदर्शित करते हुए उनकी दुर्लभताको दिखाते हैं—

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्क्वचित् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(हा) बड़े खेदकी बात है कि (इह) इस भरतक्षेत्रमें (कलिप्रावृषि) पञ्चमकालमें (दिक्षु) सदुपदेशरूपी दिशाओंके (मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु) मिथ्या उपदेशरूपी मेघोंके द्वारा व्याप्त होजानेपर (सुदेष्टारः) सम्यक् उपदेश देनेवाले सच्चे गुरु (खद्योतवत्) जुगनूकी तरह (क्वचित्क्वचित्) कहीं कहींपर ही (द्योतन्ते) प्रकाशित होते हैं अर्थात् दिखाई देते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें हा, यह शब्द कष्टार्थ वाचक अव्यय है। इसलिए ग्रन्थकारने

उसके द्वारा अपने अंतरङ्गके दुखको प्रगट करते हुए खेद प्रदर्शित किया है कि जिस प्रकार वर्षा-कालमें मेघोंके द्वारा संपूर्ण दिशाओंके आच्छादित हो जानेपर सूर्य चंद्रमादिकके प्रकाशके अभावमें किसी किसी प्रदेशमें ही कहीं२ पर ही खद्योत (जुगनू) चमकते हुए दिखाई देते हैं, उसी प्रकार इस पंचमकालरूपी वर्षाकालमें सर्वथैकांतवादी बौद्ध नैयायिकादिकोंके मिथ्या उपदेशरूपी मेघोंके द्वारा अनेकांत उपदेशरूपी दिशाओंके व्याप्त होजानेपर–ढक जानेपर बाधा रहित और सम्पूर्ण जीवाजीवादि अनेकांत रूप तत्वोंका उपदेश देनेवाले सच्चे गुरु आर्यक्षेत्रमें कहीं२ पर ही दिखाई देते हैं। अर्थात् जैसे चतुर्थकालमें केवली अथवा श्रुतकेवली आदि जैनधर्मका प्रकाश करते हुए जगह २ पर दिखाई देते थे वैसे केवली श्रुतकेवली आदि इस समय नहीं दिखाई देते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्त कारणका एक तरहसे अभाव होनेके साथ २ तत्वज्ञानके निरूपणका अभावसा होता जाता है। इस बातके दुखको ही ग्रन्थकारने कष्टार्थक हा इस शब्दके द्वारा प्रगट किया है।

सारांश यह है कि कलिकालके दोषसे मिथ्या मार्गका ही सर्वत्र प्रचार होरहा है। गतानुगतिकताकी अधिकताके होजानेके कारण लोगोंका ध्यान सत्य असत्य अर्थके निर्णयकी ओर न जाकर बहुधा गतानुगतिकताकी ओर ही जाता है। तथा धर्म अधर्म, हेयोपादेय आदि किसीका भी ख्याल न करके लोग गतानुगतिकताके प्रवाहमें ही बहे चले जाते हैं। इसलिए ग्रन्थकारका कहना है कि इस पञ्चमकालमें—

> विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः।
> शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते॥
> ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणोः।
> येभ्यस्तत्परमात्मतत्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः॥

अर्थात्—अपनेको विद्वान मानकरके अत्यन्त प्रचण्ड वचनोंके आडम्बरको दिखाते हुए जो सभाओंमें शृंगारादि रसोंके द्वारा आनन्दके देनेवाले व्याख्यानोंको देते हैं ऐसे व्यामोह विस्तार करनेवाले अर्थात् लोगोंको मोहजालमें फंसानेवाले उपदेशक तो प्रत्येक घरमें बहुत हैं-हर जगह मिलते हैं। परन्तु जिनसे परमात्म तत्वको विषय करनेवाले सच्चे ज्ञानकी अर्थात् मोक्षमार्गसम्बन्धी सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति होती है ऐसे अनुभवी तत्वज्ञानी सच्चे उपदेशक–सच्चे गुरु बहुत ही दुर्लभ हैं।

आगे—इस पंचमकालमें जैसे सच्चे उपदेशकोंकी (गुरुओंकी) कमी है वैसे ही उपदेश सुननेवाले योग्य पुरुषोंकी भी कमी है। इसलिए इस समय भद्र पुरुष भी उपदेश देनेके पात्र हैं ऐसा बताते हैं:—

> **नाथामहेऽद्य भद्राणा-मप्यत्र किमु सद्दशाम्।**
> **हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्म-लाभाय स्पृहयेन्न कः॥ ८॥**

अन्वयार्थ—(अद्य) इस पञ्चमकालमें (अत्र) भरतक्षेत्रमें (भद्राणां अपि) भद्र पुरुषोंकी भी जब हम उपदेशके विषयमें (नाथामहे) आशा करते हैं अर्थात् भद्र पुरुष भी उपदेश देनेके योग्य हैं ऐसी जब हम आशा करते हैं तो फिर (सद्दृशां किमु) सम्यग्दृष्टियोंकी तो बात ही क्या कहना है अर्थात् उनको तो हम विशेष रूपसे उपदेश देनेके योग्य समझते हैं (हि) क्योंकि (हेम्न्यलभ्ये) सुवर्णके नहीं मिलनेपर (हेमाश्मलाभाय) सुवर्ण–पाषाणकी प्राप्तिके लिए (कः न स्पृहयेत्) कौन पुरुष इच्छा नहीं करेगा ?

भावार्थ—ग्रन्थकारका कहना है कि जिस प्रकार संसारमें सब लोग सुवर्णको चाहते हैं परन्तु जिस समय सुवर्ण नहीं मिलता है उस समय वे सुवर्णकी उत्पत्तिके स्थानभूत सुवर्ण–पाषाणको ही चाहने लगते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव उपदेश देनेके वास्तविक पात्र हैं। क्योंकि दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयके द्वारा जिन पुरुषोंके चित्त व्याप्त हो रहे हैं ऐसे पुरुष तो उपदेश देनेके पात्र नहीं हैं। इसलिए इस समय यदि सम्यग्दृष्टी जीव उपदेश सुननेके लिये मिलें तो बहुत ही अच्छा है। यदि वे न मिलें तो फिर मिथ्यादृष्टी भद्र पुरुषोंको ही, उपदेश देनेका पात्र समझ करके उपदेश देना चाहिये।

सारांश यह है कि यथार्थ सम्यग्दृष्टी जीव ही देशनाके सच्चे अधिकारी हैं। इसलिए जहांतक सम्यग्दृष्टी पुरुष मिलें वहांतक तो उनको ही उपदेश देना चाहिये। यदि वे न मिल सकें तो फिर भद्र पुरुष ही देशनाको ग्रहण करें–उपदेशके पात्र हों, ऐसा प्रयत्न करके उनको ही उपदेश देना चाहिये।

अब—भद्रके लक्षणको कहकरके वही उपदेश देनेके योग्य है ऐसा दिखाते हैं—

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् ॥
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वा–न्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(कुधर्मस्थोऽपि) अनेकांतरूप यथार्थ धर्मसे विपरीत खोटे धर्ममें स्थित होनेपर भी–आसक्त होनेपर भी (लघुकर्मतया) समीचीन धर्मसे द्वेष करनेके कारणभूत मिथ्यात्व-कर्मकी मन्दतासे (सद्धर्मं अद्विषन्) समीचीन धर्मसे द्वेष नहीं करनेवाला (भद्रः) भद्र (‘भण्यते’) कहा जाता है और (सः) वह भद्र (द्रव्यत्वात्) द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षासे अर्थात् भविष्यमें सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिके योग्य होनेसे (देश्यः) उपदेश देनेके योग्य है किंतु (तद्विपर्ययात्) भविष्यमें सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिके योग्य नहीं होनेसे (अभद्रः) अभद्र (देश्यः न) उपदेश देनेके योग्य नहीं है।

भावार्थ—जो पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जिसमें बाधा आती है ऐसे मिथ्या धर्ममें स्थित होकरके भी अर्थात् उसको पालन करके भी समीचीन धर्मसे द्वेष करानेका कारण जो मिथ्यात्व

कर्मका उदय है इस मिथ्यात्व कर्मके उदयकी मन्दतासे स्वर्गादिक तथा मोक्षके उपायभूत समीचीन धर्मसे अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा जिसमें बाधा नहीं आती है ऐसे धर्मसे द्वेष नहीं करता है उसको भद्र कहते हैं। और जो कुछ धर्ममें स्थित होकरके मिथ्यात्व कर्मके उदयकी तीव्रतासे समीचीन धर्मसे द्वेष करता है उसको अभद्र कहते हैं। इन दोनोंमेंसे भद्र पुरुष तो आगामी कालमें सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिके योग्य हो सकता है। इसलिये वह तो धर्ममें व्युत्पन्न करनेके योग्य है—उपदेश देनेके योग्य है। किन्तु अभद्र पुरुष आगामी कालमें भी सम्यक्त्व गुणकी प्राप्तिके योग्य नहीं होसक्ता है। इसलिये वह उपदेश देनेके योग्य नहीं है।

इस श्लोकमें जो 'कुधर्मस्थोऽपि' यहांपर अपि शब्द दिया गया है, उसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष समीचीन धर्म तथा कुधर्म इन दोनों धर्मोंमें मध्यस्थ रहता है वह पुरुष भी भद्र कहलाता है।

आगे—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशसे सुश्रूषादि गुणोंके प्राप्त होनेवाला भद्रपुरुष सम्यग्दर्शनसे हीन होनेपर भी लोगोंको सम्यग्दृष्टीकी तरह मालूम होता है। इस बातको दृष्टान्तके द्वारा व्यक्त करते हैं-—

शलाकयेवाप्तगिराऽऽप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(यः) जो भद्रपुरुष (मणिवत्) मणिकी तरह (शलाकया इव) वज्रकी सूचीके समान (आप्तगिरा) जिनवाणीके द्वारा (आप्तसूत्र प्रवेशमार्गश्च) प्राप्त किया है तन्तु-डोरारूपी परमागममें प्रवेशके मार्गको ही जिसने ऐसा (स्यात्) होता है (असौ) वह भद्रपुरुष (रुच्या) कान्तिरूपी श्रद्धानसे (हीनोऽपि) हीन अथवा रहित होनेपर भी (रुचिमत्सु) कान्तिमान मणिरूपी सम्यग्दृष्टियोंके मध्यमें (सांव्यवहारिकाणां) प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहारको अच्छी तरहसे जाननेवाले पुरुषोंको (तद्वत्) कान्तिमान मणिरूपी सम्यग्दृष्टी पुरुषोंकी तरह (भायात्) प्रतिभासित होता है अर्थात् मालूम होता है।

भावार्थ—यदि छिद्रको करनेवाली वज्रकी सूची (सूई) के द्वारा कान्तिहीन मणिमें छिद्र छेद करके उसको कान्तियुक्त मणियोंकी मालाके डोरेमें पो दिया जावे तो वह कान्तिसे हीन अथवा रहित भी मणि जिस प्रकार कान्तिमान मणियोंके सम्बन्धसे कान्तियुक्त मणियोंकी मालाके मध्यमें देखनेवाले पुरुषोंको कान्तिमान मणिकी तरह ही मालूम होता है। उसी प्रकार सद्गुरुके वचनोंके द्वारा, परमागमके जाननेके उपायभूत सुश्रूषादि गुणोंको प्राप्त होनेवाला भद्र मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि अन्तरङ्गमें मिथ्यात्व कर्मके सद्भावके कारण यथार्थ श्रद्धानसे हीन अथवा रहित भी हो तथापि बाह्यमें सम्यग्दृष्टी जीवोंके समान ही उसमें परमागमके सुननेकी इच्छा आदि गुणोंके पाये

जानेसे वह श्रद्धानसे हीन भी भद्र मिथ्यादृष्टी जीव सम्यग्दृष्टी पुरुषोंके मध्यमें प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहारके जाननेवाले पुरुषोंको सच्चे सम्यग्दृष्टी पुरुषोंकी तरह ही मालूम होता है।

इस श्लोकमें "रुच्या हीनोऽपि" यहां पर जो अपि शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जब श्रद्धानसे हीन अथवा रहित भी पुरुष सुश्रूषादि गुणोंके संबन्धसे सम्यग्दृष्टी पुरुषोंकी तरह मालूम होता है तो फिर यथार्थ श्रद्धानसे युक्त पुरुषोंकी तो बात ही क्या कहना है। अर्थात् वह तो वास्तवमें सम्यग्दृष्टी ही है। इसलिये वह तो लोगोंको सच्चा सम्यग्दृष्टी ही मालूम होगा।

सारांश यह है कि आप्तके उपदेशसे सुश्रूषादि गुणोंको प्राप्त होनेवाला श्रद्धानसे हीन भद्र मिथ्यादृष्टी जीव भी सम्यग्दृष्टी जीवोंकी गणनामें शामिल होकर सम्यग्दृष्टी जीवोंकी गणनामें शामिल होकर सम्यग्दृष्टियोंकी तरह सज्जनोंके द्वारा माननीय होजाता है।

इस प्रकार उपदेश देनेवाले तथा सुननेवालोंकी व्यवस्थाको बता करके अब सागार धर्मको धारण करनेवाला पुरुष कैसा होना चाहिए इस बातको बताते हैं—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥ ११॥

अन्वयार्थ—(न्यायोपात्तधनः) न्यायसे उपार्जन किया है धन जिसने ऐसा अर्थात् न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, (गुणगुरून् यजन्) गुणोंकी, माता पितादिक गुरुओंकी तथा सम्यक्त्वादिक गुणोंसे श्रेष्ठ मुनियोंकी पूजा करनेवाला (सद्गीः) प्रशस्त और सत्य वचनोंको बोलनेवाला, (अन्योन्यानुगुण) परस्परमें विरोध नहीं करके (त्रिवर्ग भजन्) धर्म अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थोंको सेवन करनेवाला (तदर्हगृहिणीस्थानालयः) धर्म अर्थ व काम पुरुषार्थकी सिद्धिके योग्य स्त्री ग्राम नगरादिक और गृहसे युक्त होनेवाला (ह्रीमयः) लज्जाशील (युक्ताहारविहारः) शास्त्रविहित योग्य आहार तथा विहारको करनेवाला (आर्यसमितिः) आर्य पुरुषोंकी सङ्गति करनेवाला (प्राज्ञः) हिताहित विचार करनेवाला, (कृतज्ञः) दूसरेके द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकारोंको जाननेवाला, (वशी) इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला (धर्मविधिं शृण्वन्) धर्मकी विधिको प्रतिदिन सुननेवाला (दयालुः) दुःखी प्राणियोंपर दया करनेवाला और (अघभीः) पापोंसे डरनेवाला पुरुष (सागारधर्मं) सागारधर्मको-गृहस्थोंके धर्मको (चरेत) धारण करनेके योग्य है।

भावार्थ—इस प्रकार भद्रका कथन करके ग्रन्थकार अब आगे द्रव्यपाक्षिक श्रावकका कथन करते हुए कहते हैं कि न्यायसे धन कमाना आदि चौदह गुणोंमेंसे समस्त अथवा व्यस्त रूपसे उन गुणोंको धारण करनेवाला पुरुष ही सागारधर्मको धारण करनेके योग्य होता है।

१–न्यायसे धनं कमाना—स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, ठगना चोरी करना आदि धन कमानेके निन्दित उपायोंसे रहित धन कमानेका उपायभूत अपने २ वर्णके अनुकूल जो सदाचार है उसको न्याय कहते हैं। और उस न्यायके द्वारा उपार्जन किये गये धनको न्यायोपार्जित धन कहते हैं। जो पुरुष इस प्रकारके न्यायसे ही धन कमाता है वही पुरुष सागारधर्मको धारण करनेके योग्य है। क्योंकि गृहस्थोंके मनकी प्रवृत्ति बहुधा अर्थोपार्जनकी तरफ ही अहर्निश रहा करती है। इसलिये जो यद्वातद्वा रीतिसे न्याय अन्यायका ख्याल न करके धनका उपार्जन करते हैं उनकी मनोभूमिका एकदेश निवृत्ति परक गृहस्थ धर्मके पालन करनेकी तरफ झुक नहीं सकती है।

मतलब यह है कि न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन ही इसलोक तथा परलोकमें सुखको देनेवाला है। और उसके द्वारा ही योग्य रीतिसे गृहस्थ धर्मका पालन हो सकता है। क्योंकि अन्यायपूर्वक कमाये गये धनसे न दोनों लोकोंमें सुख ही होता है तथा न उसके द्वारा गृहस्थ धर्म भी योग्य रीतिसे चल सकता है। अतः धार्मिक बननेमें न्याय्य आजीविकाका करना प्रधान गुण है।

२–गुणकी, गुरुओंकी और गुण गुरुओंकी पूजा करना—सदाचार[२], सज्जनता,

---

१–सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।
स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः॥

अर्थ—न्याय्य और उत्तम कर्मोंके बलसे गर्वित जो पुरुष हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक परिस्थिति व कार्यमें धीर तथा पवित्र रहते हैं। उन्हें कहीं पर भी किसी तरहका भय नहीं होता है। वे सदैव ही निर्भय रहते हैं। किन्तु जिन्होंने अपने निंद्य और नीच कर्मोंके द्वारा अपनी आत्माको व्याप्त कर रक्खा है-पतित या नष्ट कर दिया है ऐसे पापी जीव सब जगह शंकित रहते हैं। उन्हें सब जगह भय बना रहता है।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अर्थ—अन्यायसे उपार्जन किया गया धन ज्यादहसे ज्यादह दश वर्ष तक ही ठहरता है। ग्यारहवें वर्षमें वह सब मूल सहित ही नष्ट होजाता है।

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥

अर्थ—न्याय मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंकी तिर्यंच भी सहायता करते हैं। और अन्याय मार्गपर चलनेवाले-खोटे मार्गमें जानेवाले पुरुषोंको सगे भाई भी छोड़ देते हैं॥

२–लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः॥

अर्थ—लोकापवादसे भयभीत होनेको, दीनोंके उद्धार करनेमें आदर रखनेको कृतज्ञता और उदारताको सदाचार कहते हैं।

म्लेच्छ नरेशके द्वारा* सपादलक्ष देशके व्याप्त होजाने पर सदाचार-नाशके डरसे जो बहुतसे परिजनों या परिवारके लोगोंके साथ विन्ध्यवर्मा राजाके× मालव-मण्डलमें आकर धारानगरीमें बस गया और जिसने वादिराज पंडित धरसेनके शिष्य पं० महावीरसे जैनेन्द्र प्रमाण-शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा ॥५॥

विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मंत्री (फॉरेन सैक्रेटरी) बिल्हण कविराजने जिसकी इस प्रकार स्तुति की " हे आशाधर, हे आर्य, सरस्वतीपुत्रतासे तुम मेरे साथ अपनी स्वाभाविक सहोदरता (भाईपना) और अन्वर्थक मित्रता समझो। (' सरस्वतीपुत्रता ' श्लिष्ट पद है। अर्थात् जिस तरह तुम सरस्वतीपुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ। शारदाके उपासक होनेसे दोनों सरस्वतीपुत्र तो थे ही, साथ ही आशाधरकी पत्नीका नाम सरस्वती था और उससे छाहड़ नामका पुत्र था। उस सरस्वती-पुत्रसे आशाधरको सरस्वती-पुत्रता प्राप्त थी। उधर मेरा अनुमान है कि बाल-सरस्वती महाकवि मदन भी बिल्हणके पुत्र होंगे, इसलिए उन्हें भी सरस्वती-पुत्र कहा जासकता है। इस रिश्तेसे बिल्हणने आशाधरको सहोदर भाई कहा है) ॥ ६–७ ॥

जो अर्जुन—वर्मदेवके राज्य-कालमें नलकच्छपुरमें× जो श्रावकोंके घरोंसे सघन था जैनधर्मका उदय करनेके लिए जाकर रहा ॥ ८ ॥

जिसने शुश्रूषा करनेवाले अपने शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं जिन्हें व्याकरण समुद्रके पार न पहुँचाया हो, ऐसे कौन हैं जिन्हे षट्दर्शनके तर्क-शस्त्रको देकर प्रतिवादियोंपर विजय प्राप्त न कराई हो, ऐसे कौन

---

* धर्मामृतकी टीकामें इस म्लेच्छराजाको "साहिबुद्दीन तुरुष्क" बतलाया है। यह गज़नीका बादशाह शहाबुद्दीन गोरी ही है। इसने वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में पृथ्वीराजको हराकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था। उसी वर्ष अजमेरको भी अपने अधीन करके और अपने एक सरदारको राज कारबार सौंपकर वह गज़नी लौट गया था। शहाबुद्दीनने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा; क्योंकि अजमेर भी पृथ्वीराजके अधिकारमें था और उसी समय सपादलक्ष देश उसके अत्याचारोंसे व्याप्त हो रहा होगा। इसी समय अर्थात् विक्रम संवत् १२४९ के लगभग पं० आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे।

× अनगारधर्मामृतकी मुद्रित टीकामें विन्ध्यभूपतिका खुलासा 'विजयवर्म मालवाधिपतिः' किया है; परंतु हमारे अनुमानसे लिपिकारके दोषसे अथवा प्रूफ-संशोधककी असावधानीसे ही 'विन्ध्यवर्म' की जगह 'विजयवर्म' हो गया है। परमारवंशकी वंशावलियों और शिलालेखोंमें विन्ध्यवर्माका 'विजयवर्मा' नामान्तर नहीं मिलता। श्रीयुत लेले और कर्नल लुअर्डने विन्ध्यवर्माका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक निश्चित किया है; परन्तु पं० आशाधरजीके उक्त कथनसे कमसे कम १२४९ तक विन्ध्यवर्माका राज्यकाल माना जाना चाहिए। उक्त विद्वानोंने विन्ध्यवर्माके पुत्र और उत्तराधिकारी सुभटवर्मा (सोहड़) का समय १२३७ से १२६७ तक माना है, परंतु सुभटवर्मा १२३७ में राजा था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, वह १२४९ के बाद ही राजपदपर आया होगा।

× नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धार (मालवा) से १० कोसकी दूरीपर है। अब भी वहाँपर श्रावकोंके कुछ घर हैं, जैनमन्दिर भी है।

४-परस्परमें अविरोधभावसे त्रिवर्गको सेवन करना—आत्माके सम्यग्दर्शनादिक गुणोंको धर्म कहते हैं। बुद्धि, श्रम और जमीनको अर्थोत्पादक होनेसे अर्थ कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा ऐहिक कार्योंकी सिद्धि होती है उसको अर्थ कहते हैं। तथा पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंको काम कहते हैं। अथवा जिस समय पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंका काम और भोगरूपमें विभाग करते हैं उस समय स्पर्शन व रसना इन्द्रियके विषयको भोग और शेष इन्द्रियोंके विषयको काम कहते हैं। इसतरह धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको त्रिवर्ग कहते हैं। इनमेंसे कामका कारण अर्थ है। क्योंकि अर्थके विना पंचेंद्रियोंके विषयोंकी सामग्री ही प्राप्त नहीं होसकती है। और अर्थका कारण धर्म है। क्योंकि पुण्योदयके विना धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अथवा प्रमाणिकताके विना धनकी प्राप्ति नहीं होती है। तथा प्रमाणिकता सदाचारपर निर्भर रहती है। और सदाचारका नाम ही धर्म है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अर्थके विना पंचेंद्रियोंके विषयोंकी सामग्री नहीं प्राप्त होसकती है उसी प्रकार धर्मके विना अर्थ व कामकी प्राप्ति भी नहीं होसकती है। अतएव प्रत्येक गृहस्थको परस्परमें अविरोध भावसे ही धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये। धर्मको छोड़ करके अर्थ व कामका सेवन नहीं करना चाहिये। अर्थको छोड़ करके धर्म तथा कामका सेवन नहीं करना चाहिये। कामको छोड़ करके धर्म और अर्थका सेवन

१-यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥

अर्थ—परस्परमें अविरोध भावसे धर्म अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके सेवन किये विना ही जिसके दिन आते तथा जाते रहते हैं वह पुरुष लुहारकी धोंकनीके समान श्वासें लेता हुआ भी मरे हुएके समान है।

भावार्थ—धर्म अर्थ और कामके सेवनके विना मनुष्यका जीवन पशुके समान निरर्थक है अर्थात् उसका जीना तथा न जीना दोनों बराबर हैं।

पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥

अर्थ—गृहस्थ अपने द्वारा कमाये हुए धनके चार भाग करे। उनमें एक भाग तो जमा रक्खे। दूसरा भाग धन कमानेके लिये व्यापारमें लगावे। तीसरा भाग धर्म तथा अपने उपभोगमें खर्च करे। और चौथा भाग अपने कुटुम्ब व नौकर चाकर आदिके पालनपोषणमें खर्च करे।

आयार्द्धं च नियुञ्जीत धर्मे समधिकं ततः।
शेषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥

अर्थ—गृहस्थको आमदनीका आधा भाग अथवा उससे कुछ अधिक धर्ममें खर्च करना चाहिये। और बचे हुए शेष धनके द्वारा यत्नपूर्वक इस लोक सम्बन्धी शेष कार्योंको करना चाहिये। क्योंकि इस लोक सम्बन्धी सुख तुच्छ है। अतः उसमें ज्यादह धन खर्च करना योग्य नहीं है।

नहीं करना चाहिये । क्योंकि जो व्यक्ति अपने धर्मकी रक्षा करते हुए अर्थको पैदा करके अपने२ अर्थके अनुकूल पंचेंद्रियोंके विषयोंका सेवन करते हैं उनकी प्रवृत्ति धर्मकी रक्षा करनेसे अधार्मिक तथा अर्थकी रक्षा करते हुए विषयसेवन करनेसे दारिद्र्यादि दोषोंसे आक्रान्त नहीं होती है । इसलिये परस्परमें अविरोध भावसे त्रिवर्गको सेवन करनेवाले पुरुष ही श्रावक धर्मके पालन करनेके योग्य माने गये हैं । किन्तु जिन पुरुषोंकी प्रवृत्ति इससे विपरीत है वे पुरुष सच्चे सांसारिक सुख व शांतिसे रहित होकर सदैव नानाप्रकारके संक्लेशोंसे आतुर रहते हैं । और उस आतुरताके कारण धर्म कर्मसे विमुख होकर यथेष्ट रीतिसे न्याय अन्यायका ख्याल न करके अर्थ व कामके सेवनमें प्रवृत्त होते हैं । अतः ऐसे पुरुष धर्मके अधिकारी नहीं माने गये हैं ।

५–योग्य स्त्री, स्थान तथा आलय–कुलीनता आदि गुणोंसे युक्त योग्य स्त्री, जहांपर उदारचेता, सज्जन, गुणवान तथा धार्मिक पुरुष अधिक रहते हों ऐसा तथा जहांपर अर्थोपार्जनकी सामग्री हो ऐसा स्थान और योग्य मकान वगैरह त्रिवर्गके साधन करनेमें बाह्य कारण हैं । इसलिये पूजनको योग्य स्त्री योग्य स्थान व योग्य मकानरूप त्रिवर्गके साधन करनेकी सामग्री प्राप्त है । अर्थात् जिसको स्त्री स्थान तथा आलयके निमित्तसे किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है प्रत्युत जिसको त्रिवर्गके साधनमें उनसे सहायता मिलती है ऐसा पुरुष ही श्रावक धर्मके पालन करनेके लिये योग्य माना गया है । क्योंकि मनुष्यजीवन तथा सृष्टिके ऊपर स्त्रीका अधिक प्रभाव पड़ता है । इसलिये कुभार्याके निमित्तसे अपने जीवन व संतानके कोमल जीवनपर जो बुरे संस्कार पड़ते हैं उनसे आतुर व्यक्ति झटिति त्रिवर्गके संसेवनकी तरफ नहीं झुक सकते हैं । अतः त्रिवर्गके साधन करनेमें योग्य स्त्रीका होना प्रधान कारण माना गया है । इसीप्रकार जिस स्थानमें योग्य शासक नहीं हैं, उदारचेता धार्मिक व सज्जन पुरुष नहीं हैं, अर्थोत्पादनके साधन नहीं है सद्वैद्य नहीं है । ज्ञान तथा संयमको बढानेवाला वातावरण नहीं है । और धर्म साधन करनेके साधन नहीं हैं । ऐसे स्थानमें रहनेवाले व्यक्ति भी योग्य रीतिसे त्रिवर्गके सेवन करनेमें समर्थ नहीं

१–अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता।
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं ॥
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति।
प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मा इमे ॥

अर्थ—जिस समय सीताजी रामचन्द्रजीके साथ उनके घरको जाने लगी उस समय राजा जनकने अपनी पुत्रीको यह उपदेश दिया था कि–हे पुत्रि ! पतिके घर आनेपर उनका सत्कार करनेके लिये खड़ा होना, जो कुछ वो कहें उसको विनयपूर्वक सुनना, उनके आसनमें बैठ जानेपर उनके चरणोंमें दृष्टि रखना, स्वयं उनकी सेवा करना, उनके सो जानेपर सोना और उनके उठनेके पहले उठना, ये सब कुलवधुओंके सिद्धान्त धर्म हैं—कुलीन स्त्रियोंके आवश्यक कर्तव्य कर्म हैं ऐसा विद्वान लोगोंने कहा है।

होसकते हैं। अतः योग्य स्त्रीकी तरह योग्य स्थान भी त्रिवर्गके साधन करनेमें कारण माना गया है। तथा इसीतरह यदि रहनेका मकान भी योग्य नहीं हुआ तो त्रिवर्गके सेवनकी तरफ प्रवृत्ति नहीं होसकती है। क्योंकि जिस मकानमें धर्म अर्थ और कामके सेवन करनेके लिये पृथक् २ विभाग न हों, योग्य पड़ोसी न हों, जो हमेश ग्लानियुक्त रहता हो, तथा जहांपर त्यागी, विद्वान और धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंका आवागमन न हो ऐसा मकान त्रिवर्ग साधनके लिये उपयुक्त नहीं समझा जाता है। सारांश यह है कि योग्य स्त्री व योग्य स्थानकी तरह योग्य मकान तथा आस-पासके योग्य वातावरणसे भी निराकुलता रहनेके कारण त्रिवर्गके सेवनमें उत्साहकी वृद्धि हुआ करती है। अतः योग्य मकान भी त्रिवर्गके साधन करनेमें कारण माना गया है।

६-लज्जाशील होना-स्त्रियोंके समान पुरुषोंके लिये भी लज्जा एक भूषण है। क्योंकि लज्जाशील पुरुष ही स्वाभिमानकी रक्षाके लिये तथा अकीर्तिके भयसे कभी भी असदाचारमें प्रवृत्त नहीं होता है। कुकर्मोंसे सदैव भयभीत रहता है। विरुद्ध परिस्थितिके आनेपर वह प्राणोंको तो छोड़ सकता है, किन्तु अपने स्वाभिमानपर धक्का नहीं आने देता है। ली हुई प्रतिज्ञाओंके निर्वाहके लिये सदैव तत्पर रहता है। लोक भयके कारण असत्कर्मोंसे बचता रहता है। तथा उसके व्यवहारमें सदैव मृदुल प्रवृत्ति पाई जाती है। उसका व्यवहार अत्यन्त शिष्ट होता है। किन्तु इसके विपरीत जो लज्जा रहित पुरुष हैं कि जिन्हें अपनी बात और स्वाभिमानका ख्याल नहीं है, जो चाहे जिससे भंड वचन बोलते हैं, बुरे कर्मोंके करनेसे कभी हिचकते नहीं हैं। जो ली हुई प्रतिज्ञाओंका निडर होकर भंग करते हैं उनकी मनोभूमिका श्रावक धर्मके पालन करनेके योग्य ही नहीं होसकती है। इसलिये सिद्ध होता है कि श्रावक धर्मके पालन करनेमें लज्जाशीलता भी एक गुण है।

७-योग्य आहार तथा विहार—यद्यपि योग्य आहार व विहार शब्दमें आहार शब्द सामान्य रूपसे भोजनका तथा विहार शब्द सामान्यरूपसे विचरण-गमनागमनका वाचक है। परन्तु आहार व विहार इन दोनों शब्दोंके साथमें युक्त विशेषणको जोड़ देनेसे आहार तथा विहार शब्दका शास्त्रविहित-वैद्यक और धर्मशास्त्र विहित आहार व विहारको करनेवाला ऐसा अर्थ हो-जाता है। इसलिये जो पदार्थ अभक्ष्य हैं, शरीरको बाधा पहुंचानेवाले अथवा मादक हैं अथवा जो अविचारी लोगोंके द्वारा तैयार किये गये हैं उनका सेवन करना योग्य नहीं है। क्योंकि यद्वा तद्वा आहारकी प्रवृत्तिसे मन दूषित होता है। और स्वास्थ्यका भी घात होता है। तथा शरीरमेंसे उत्साह शक्तिका और धर्मसेवनकी प्रवृत्तिका नाश होकर अनुचित विषयोंके सेवनकी तरफ चित्तकी प्रवृत्ति होने लगती है। कारण कि जो जिह्वाके लोलुपी होते हैं वे अवश्य ही विषयलम्पटी होजाया करते हैं। और विषयलम्पटी पुरुष किसी भी अनर्थसे बच नहीं सकते हैं। इसी प्रकार यद्वातद्वा आहारके समान यद्वा तद्वा विहार भी धर्म तथा स्वास्थ्यका घातक है। क्योंकि जो निठल्ले होकर

इधर उधर घूमा करते हैं-विचरण किया करते हैं वे सदैव ही अपने कर्तव्यसे च्युत रहते हैं अर्थात् उनसे कभी भी अपने कर्तव्यका पालन नहीं होसकता है।

८-आर्य पुरुषोंकी संगति करना—जिनके सहवाससे अपने गुणोंमें विकाश हो, जगतमें प्रशंसा हो तथा आत्मप्रतिष्ठा बढ़ती हो ऐसे सदाचारी सज्जन पुरुषोंकी संगतिको आर्य संगति कहते हैं। और ऐसे पुरुषोंकी समाजमें रहनेवाला पुरुष ही श्रावक धर्मका पालन कर सकता है। किन्तु जो मायाचारी, धूर्त, जुआरी, व्यभिचारी तथा भण्डवचन बोलनेवाले पुरुषोंकी संगति करता है वह श्रावक धर्मका पालन नहीं कर सकता है।

९-प्राज्ञ[२]—जो ऊहापोहात्मक-तर्क वितर्कात्मक मतिज्ञानके अतिशयको धारण करता है और जो दीर्घदर्शी बलाबलका विचार करनेवाला तथा विशेषज्ञ है उसको प्राज्ञ कहते हैं।

बल चार प्रकारका है-१ द्रव्यबल, २ क्षेत्रबल, ३ कालबल, और भावबल ये चारों ही बल अपनेमें कितने हैं तथा दूसरोंमें कितने हैं इस प्रकारके विचारपूर्वक कार्य करनेको बलाबल विचार कहते हैं।

१०-कृतज्ञ—दूसरोंके द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकारोंके जाननेवालेको कृतज्ञ कहते

१-यदि सत्संगनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ सज्ज्ञानगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि॥

अर्थ—यदि तुम सज्जन पुरुषोंकी संगतिमें लीन होओगे अर्थात् उनकी संगतिमें रहोगे तो अवश्य ही उत्तम ज्ञानकी गोष्ठीमें पड़ोगे अर्थात् उत्तम ज्ञानको प्राप्त करोगे।

२-इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो। व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम॥
अयं सुहृदयं द्विषः प्रयतदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः॥

अर्थ—यह इस कार्यके करनेका फल है, यह इसकी क्रिया है, यह इसका साधन है, यह इसके करनेका क्रम है, यह इसका खर्च है अर्थात् इतना इस कार्यमें खर्च होगा, यह इसके सम्बन्धमें होनेवाला फल है, यह मेरी दशा है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है तथा यह वर्तमान देश-क्षेत्र और काल है। इस प्रकारका विचार करके विद्वान लोग किसी कार्यके करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इतर लोग-मूर्ख लोग नहीं।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥

अर्थ—मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरितको अर्थात् अपने द्वारा किये गये कार्योंको देखना चाहिये और फिर विचार करना चाहिये कि आज मैंने कौनसे कार्य तो पशुओंके समान किये हैं तथा कौनसे कार्य सज्जन पुरुषोंके समान किये हैं।

३-विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्॥

अर्थ—यदि तुम अपने कुल परिवार और समस्त लोगोंको अपने वशमें करना चाहते हो तो सबसे पहले कृतज्ञताके पारको प्राप्त होओ अर्थात् कृतज्ञ बनो। क्योंकि सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त भी कृतघ्नी पुरुष समस्त संसारको-सम्पूर्ण लोगोंको उद्वेजित कर देता है-पीड़ित कर देता है।

हैं। सज्जन पुरुष प्रथम तो किसीसे उपकार कराते ही नहीं है, यदि कदाचित् परिस्थिति वश वे दूसरोंके उपकारको अङ्गीकार भी करें तो उसकी ऐवजमें-बदलेमें उनका कई गुण प्रत्युपकार किये विना उनसे रहा नहीं जाता है। तथा जिस प्रकार वे दूसरोंके उपकारोंको कभी नहीं भूलते हैं उसी प्रकार वे दूसरोंके ऊपर अपने द्वारा किये गये उपकारोंको स्मरण भी नहीं करते हैं। इसलिये कृतज्ञता सज्जन पुरुषोंका प्रधान गुण है। किन्तु इसके विपरीत जो दुर्जन व्यक्ति हैं वे कृतज्ञतासे पराङ्मुख होकर कृतघ्न हुआ करते हैं। और उस कृतघ्नताके कारण वे समस्त लोगोंको उद्वेग पैदा किया करते हैं। अतएव कृतघ्नी पुरुष श्रावक धर्मके अधिकारी नहीं माने गये हैं।

११-वशी—जो इष्ट पदार्थोंमें अनासक्तिसे तथा विरुद्ध पदार्थोंमें अप्रवृत्तिसे बाह्य स्पर्शनादिक पंचेंद्रियोंके विषयोंको और अन्तरङ्ग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ तथा दर्प इन छह शत्रुओंको वशमें करते हैं उनको वशी कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो पंचेंद्रियोंके विकारोंको रोकनेके साथ२ काम क्रोधादिकका निग्रह करते हैं उन्हें वशी कहते हैं। और ऐसे पुरुष ही धर्मके अधिकारी माने गये हैं।

१२-धर्मकी विधिको सुननेवाला[1]—जिसके द्वारा अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्ति होती है उसको धर्म कहते हैं। तथा युक्ति और आगमसे सिद्ध उस धर्मकी प्रतिष्ठा अथवा उसके स्वरूपको जो प्रतिदिन सुनता है उसको धर्म विधिका सुननेवाला कहते हैं।

१३-दयालु[2]—दुखी प्राणियोंके दुखोंके दूर करनेकी इच्छाको दया कहते हैं। और

१-भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद्भृशं भीतिवान्।
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम् ॥
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं।
गृह्णन्धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥

अर्थ—जो भव्य हो, कौनसे कार्यमें मेरा कल्याण होगा इस बातका अर्थात् अपने हितका विचार करनेवाला हो, दुःखोंसे अत्यन्त डरनेवाला हो, सुखको चाहनेवाला हो, श्रोतापनेके गुणोंसे युक्त हो अर्थात् शास्त्रोंके सुनने आदिमें उत्तम बुद्धि रखनेवाला हो, युक्ति तथा आगमसे सिद्ध और सुखको करनेवाले ऐसे दया गुणमयी धर्मको सुन करके तथा अच्छी तरहसे विचार करके उसको ग्रहण करनेवाला हो और जो दुराग्रहसे रहित हो वही शिष्य ही-पुरुष ही धर्मकथाके सुननेका अधिकारी मानागया है।

२-प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः ॥

अर्थ—जिस प्रकार तुमको अपने प्राण प्रिय हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंको भी अपने२ प्राण प्रिय हैं। इसलिये मनुष्योंको अपने समान ही सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

इस तरहकी दयासे युक्त पुरुषको दयालु कहते हैं। दया ही धर्मका मूल है। क्योंकि दयाके द्वारा जिनका हृदय व्याप्त होरहा है-लबालब भरा हुआ है ऐसे पुरुषोंके ही त्याग शौर्य आदि सम्पूर्ण गुण अभिलषित अर्थके अथवा मोक्षके देनेवाले होते हैं। अतएव धर्मके पालन करनेमें दयालुपना भी एक आवश्यक गुण माना गया है।

१४-अघभी—दृष्ट और अदृष्ट अपायरूप फलको देनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापकर्मोंसे तथा मद्यपानादिकसे डरनेवालेको अघभी-पापोंसे डरनेवाला कहते हैं।

इसप्रकार उपर्युक्त चौदह गुणोंमेंसे समस्त अथवा व्यस्तरूपसे उन गुणोंको धारण करनेवाला अर्थात् उन गुणोंके द्वारा युक्त पुरुष ही सागारधर्मको धारण करनेके योग्य माना गया है।

अब—साधारण बुद्धिवाले पुरुषोंको सहज ही ध्यानमें रहे इसलिए श्रावकोंके सम्पूर्ण धर्मका संग्रह करते हैं अर्थात् उसका स्वरूप बताते हैं:—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्॥ १२॥

अन्वयार्थ—(अमलं) शङ्कादिक दोषोंसे रहित (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन, (अमलानि) निरतिचार (अणुगुणशिक्षाव्रतानि) अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत (च) और (मरणान्ते) मरण समयमें (विधिना) विधिपूर्वक (सल्लेखना) सल्लेखना करना ('इति') इस प्रकार (अयं) यह (पूर्णः) सम्पूर्ण (सागारधर्मः) श्रावक धर्म है अर्थात् यह श्रावकोंका सम्पूर्ण धर्म है।

भावार्थ—शङ्का कांक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इस प्रकार पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन, निरतिचार पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत इसप्रकार बारहव्रत तथा मरणसमयमें विधिपूर्वक सल्लेखना करना यह सब श्रावकोंका सम्पूर्ण धर्म है। इसके सिवाय देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, दान, तप आदि और भी जो श्रावकके धर्म बताये गये हैं उन सबका यथायोग्य इन सब भेदोंमें ही अन्तर्भाव होजाता है। इसलिए उनका यहांपर पृथक् ग्रहण नहीं किया है। अथवा 'सल्लेखना च विधिना' यहांपर जो 'च' शब्द दिया गया है उससे इन सब दान पूजनादिकका ग्रहण करना चाहिये।

अर्थ—धर्मके सारको सुनो तथा सुन करके उसपर विचार करो। क्योंकि सम्पूर्ण धर्मका सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल हैं उन कार्योंको दूसरोंके प्रति मत करो अर्थात् दूसरोंके द्वारा किये गये जिन कार्योंसे तुमको दुख होता है उन कार्योंको तुम दूसरोंके प्रति भी मत करो।

अवृत्तिव्याधिशोकार्ता-ननुवर्तेत शक्तितः। आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः॥

अर्थ—जो आजीविकाके अभावसे रोग तथा शोकादिकसे दुखी हैं ऐसे प्राणियोंकी सदैव अपनी शक्तिके अनुसार सहायता करना चाहिये। और छोटे२ कीड़े मकोड़े चिंटी आदि सम्पूर्ण जीवोंको भी सदैव अपने समान ही देखना चाहिये।

इस श्लोकमें जो 'मरणान्ते', शब्द दिया गया है उससे तद्भव मरणका ही ग्रहण करना चाहिये। अवीचि मरणका नहीं। क्योंकि प्रति समय उदयमें आकर जो आयुकर्मके निषेकोंकी निर्जरा होती रहती है उसको अवीचि मरण कहते हैं। और वह मरण प्रत्येक समयमें सम्पूर्ण प्राणियोंके होता रहता है। इसलिए 'मरणान्त' शब्दका 'मरणमेव अन्तः मरणान्तः' ऐसा कर्मधारय समास करके उससे तद्भव मरण रूप अर्थका ही ग्रहण करना चाहिये। यदि प्रतिसमयगत मरणका ग्रहण होता तो सदैव सल्लेखनाके करनेका प्रसंग आता। परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। कारण कि लाभादिककी अपेक्षा न करके बाह्य और आभ्यन्तर तपके द्वारा शरीर तथा कषायोंको कृश करके धर्मके लिये शरीरके छोड़नेको सल्लेखना कहते हैं। और वह सल्लेखना उपाय रहित-जिसका कोई प्रतीकार नहीं होसकता है ऐसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा, रोग आदि कारणोंके उपस्थित होनेपर ही की जाती है ऐसा आगममें कहा है। सल्लेखनाकी विधिका वर्णन ग्रन्थकारने आगे स्वयं आठवें अध्यायमें बहुत विस्तारसे किया है। इसलिए इसका विशेष स्वरूप वहांपर ही देखना चाहिये।

आगे—संयमसे रहित होनेपर भी सम्यग्दृष्टी जीवके कर्मजनित क्लेशोंका अपकर्ष अर्थात् उनकी मन्दता होती है इस बातको दिखाते हैं—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया।
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्॥
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्।
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः॥ १३॥

अन्वयार्थ—(**तलवरेण**) कोटपालके द्वारा (**मारयितुं**) मारनेके लिए (**धृतः**) पकड़े गये (**चौरः इव**) चोरकी तरह (**भूरेखादि सदृक्कषायवशगः**) पृथ्वी रेखा वगैरहके समान अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायोंके वशमें होकरके (**विश्वदृश्वाज्ञया**) सर्वज्ञकी आज्ञासे (**वैषयिकं**) विषय सम्बन्धी (**सुखं**) सुख (**हेयं**) छोडनेके योग्य है (**तु**) और (**निजं**) आत्मीक (**सुखं**) सुख (**उपादेयं**) ग्रहण करने योग्य है (**इति**) इस प्रकार (**श्रद्दधत्**) श्रद्धान करता हुआ (**आत्मनिन्दादिमान्**) अपनी आत्माकी निन्दा तथा गर्हा करनेवाला (**यः**) जो अविरत सम्यग्दृष्टी (**आक्षं**) इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले (**शर्म**) सुखको (**भजते**) सेवन करता है (**अपि**) और (**परं**) त्रस स्थावर प्राणियोंको (**रुजति**) पीडा भी देता है (**सोऽपि**) वह अविरत सम्यग्दृष्टी पुरुष भी (**अघैः**) पापोंके द्वारा (**न उत्तप्यते**) अधिक संक्लेशको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोतवालके द्वारा मारनेके लिये पकड़ा गया चोर, चोरीको बुरा समझता है और उस चोरीके करनेके कारण अपनी आत्माकी निन्दा भी करता है, उसीप्रकार

पृथ्वी रेखा वगैरहके समान अप्रत्याख्यानावरणादिक बारह क्रोधादिक कषायोंके वशमें होकरके सर्वज्ञकी आज्ञासे अर्थात् जिनेन्द्र भगवान वस्तुके स्वरूपको अन्यथा कहनेवाले नहीं हैं इसप्रकारके अत्यंत दृढ़ विश्वासके द्वारा अनुभूयमान इष्ट कामित्यादिक विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला विनाशीक सुख, दुःखोंके कारणभूत कर्मोंके बन्धका कारण होनेसे छोड़नेके योग्य है। और आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अविनाशीक सुख ग्रहण करनेके योग्य है। रत्नत्रयके उपयोगसे आत्मामें प्रगट करनेके योग्य है। इस प्रकारका श्रद्धान तथा "हाथमें दीपक रहते हुए भी अन्धकूपमें गिरनेवाले मुझको धिक्कार है" इस प्रकार अपनी आत्माकी निन्दा और "हे भगवन्! उन्मार्गपर चलनेवाला यह प्राणी किसतरह इन दुर्गतिके दुःखोंको भोगेगा" इस प्रकार गुरुकी साक्षीपूर्वक—गुरुके सामने गर्हा करता हुआ जो अविरत सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंका सेवन करता है तथा त्रस स्थावर जीवोंको पीड़ा भी देता है—उनकी हिंसा भी करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टी जीव भी पापोंके द्वारा अथवा बहुतसे दोषोंके द्वारा उत्कृष्ट[2] संक्लेशको प्राप्त नहीं होता है।

सारांश यह है कि जैसे कोतवालके द्वारा मारनेके लिये पकड़ा गया चोर गधेपर चढ़ाना, काला मुंह करना आदि जो २ कार्य कोतवाल कराता है उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी वह करता है। वैसे ही चारित्रमोहके उदयके वशमें हुआ जीव भी भावहिंसा, द्रव्यहिंसा आदि जो २ कार्य चारित्रमोह कराता है उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी वह अपने समय पर उदयमें आनेवाले कर्मोंके दुर्निवार होनेके कारण करता है। परन्तु इतनी विशेषता है कि वह मिथ्यादृष्टीके समान पापोंके द्वारा उत्तप्त नहीं होता है अर्थात् जिन संक्लेश परिणामोंसे नरकादि अशुभ गतियोंका बन्ध होता है उन संक्लेश परिणामोंसे वह युक्त नहीं होता है।

१—णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

अर्थ—जो जीव पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे और त्रस तथा स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है। किन्तु जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए प्रवचनका केवल श्रद्धान करता है उसको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं।

भावार्थ—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए तत्वोंपर श्रद्धान रखता है इसलिये सम्यग्दृष्टी कहलाता है। और इन्द्रिय संयम तथा प्राण संयम इन दोनों संयमोंमेंसे किसी भी संयमका पालन नहीं करता है इसलिये अविरत कहलाता है।

२—न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति।
सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमें यदि दुखके बीज पड़ भी जावें तोभी वे कभी भी शीघ्र अंकुरित नहीं होते हैं—उत्पन्न नहीं होते हैं। और सुखके बीज बिना बोये भी सदैव उत्पन्न होते हैं। किन्तु मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें ठीक इससे विपरीत फल होता है अर्थात् मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें यदि सुखके बीज बोये भी जावें तोभी वे उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा दुखके बीज बोये भी न जावें तो भी वे उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त इस कथनके द्वारा यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहले जिसने आयुका बन्ध नहीं किया है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टी जीवके भी, देवगतिमें वैमानिक देवोंके और मनुष्य गतिमें चक्रवर्त्यादिक उत्तम मनुष्योंके पदोंकी प्राप्तिको छोड़ करके शेष सम्पूर्ण संसारका नाश होनेसे कर्मजनित क्लेशोंका अपकर्ष होजाता है अर्थात् अबद्धायुष्क अविरत सम्यग्दृष्टी जीव भी वैमानिक देवोंमें तथा उत्तम मनुष्योंमें ही पैदा होता है। अन्य भवनवासी आदि देवोंमें और नरकगति व तिर्यञ्चगति वगैरहमें पैदा नहीं होता है। इसलिए सुदेवत्व तथा सुमानुषत्वको छोड़ करके शेष सम्पूर्ण संसारका नाश होनेसे उसके तज्जनित क्लेशोंका भी अभाव होजाता है। और सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहले जिसने आयु कर्ममेंसे नरकायुका बंध कर लिया है ऐसा असंयत सम्यग्दृष्टी जीव नरक गतिमें भी पहले नरकमें ही जघन्य या मध्यम स्थितिको लेकरके ही पैदा होता है द्वितीयादिक नरकोंमें नहीं। तथा सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहले जिसने तिर्यञ्चायुका बन्ध कर लिया है ऐसा असंयत सम्यग्दृष्टी जीव भोगभूमिके तिर्यञ्चोंमें ही पैदा होता है, कर्मभूमिके तिर्यंचोंमें नहीं। इस तरह बद्धायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टी जीवके भी बहुतसे दुःखोंका उपरम हो जाता है, नाश हो जाता है। इसलिए ग्रन्थकारका कहना है कि जबतक संयमकी प्राप्ति न हो तबतक संसारके[२] दुःखोंसे भयभीत भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनकी आराधनामें ही सदैव तत्पर रहना चाहिये अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये ही सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये।

१-दुर्गत्यावायुषो बन्धात्सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥

अर्थ—दुर्गति विषयक आयुके बन्ध होनेके पीछे जिसको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है उसके यद्यपि उस दुर्गतिका छेद तो नहीं होता है, तथापि उस गतिसम्बन्धी आयुकी स्थिति अत्यन्त कम होजाती है।

२-जन्मोन्माज्यं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं।
तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः॥
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधाऽऽस्ते।
क्षुद्व्यावृत्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः॥

अर्थ—हे देव! भव्यजीवोंको जन्म मरण रूपी दुःखोंके नष्ट करनेवाले आपके चरणकमलोंका ही सेवन करना चाहिये। यदि कदाचित् आपके चरणकमल प्राप्त न होसके तो फिर वे भले ही स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करें। किन्तु उनको कुदेवोंका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि संसारमें सुलभ जो अन्न है उस अन्नको ही सब लोग खाते हैं। यदि उस अन्नका मिलना दुर्लभ होजावे तो वे भूखे ही बैठे रहते हैं। कारण कि ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्षुधाको दूर करनेके लिये विषको खावेगा।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानके चरणकमल ही सेवन करनेके योग्य है। अतः उनका ही सेवन करना चाहिये। यदि वे न मिले तो उनकी सेवाके बिना तो रहना अच्छा है। किन्तु कुदेवोंका सेवन करना अच्छा नहीं है। क्योंकि सब लोग अन्नको ही खाते हैं। यदि अन्न न मिले तो लोग भूखे तो रह जाते हैं, किंतु विषको नहीं खाते हैं।

इस श्लोकमें जो 'नोत्पद्यते सोऽप्यघैः' यहांपर अपि शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जब अविरत सम्यग्दृष्टी जीव भी पापोंके द्वारा अधिक संक्लेशको प्राप्त नहीं होता है तो फिर जिसने सर्वदेश अथवा एकदेशसे हिंसादिक पञ्च पापोंका त्याग कर दिया है ऐसे सम्यग्दृष्टी जीवकी तो बात ही क्या कहना है अर्थात् वह तो संक्लेशको प्राप्त होगा ही नहीं।

इस समय धर्म और सुखकी तरह यश भी चित्तको प्रसन्न करनेवाला है, इसलिए सज्जन पुरुषोंको यश भी उपार्जन करना चाहिए ऐसा दिखाते हैं—

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः केऽप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थम्।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(धर्म) धर्म (यशः) यश (च) और (शर्म) सुखको (सेवमानाः) सेवन करनेवाले (केऽपि) कोई पुरुष (एकशः) तीनोंमेंसे किसी एक एकके सेवनसे (जन्म) अपने जन्मको (कृतार्थ) सफल (विदुः) मानते हैं और (अन्ये) कोई दूसरे पुरुष (द्विषः) उन तीनोंमेंसे किन्हीं दो दोके सेवनसे (जन्म) अपने जन्मको (कृतार्थं) सफल (विदुः) मानते हैं (तु) किन्तु (वयं) हम (त्रय सेवया एव) धर्म यश तथा सुखके सेवनके द्वारा ही (यान्ति) जानेवाले (अहानि) दिनोंको (अमोघानि) सफल (विद्म) जानते हैं अर्थात् मानते हैं।

भावार्थ—लोगोंकी रुचि भिन्न २ हुआ करती है, एकसी नहीं। इसलिए इस संसारमें कोई पुरुष तो धर्म, यश व सुख इन तीनोंमेंसे यश और सुखको छोड़करके केवल धर्मके सेवनसे ही अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। कोई पुरुष धर्म तथा सुखको छोड़करके केवल यशकी सिद्धिसे ही अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। कोई पुरुष धर्म और यशको छोड़करके केवल सुखकी सिद्धिसे ही अपने मनुष्यजन्मको सफल मानते हैं। तथा लोक व्यवहारके अनुसार चलते हुए अपनेको शास्त्रोंके ज्ञाता माननेवाले कोई पुरुष सुखको छोड़करके केवल धर्म और यशकी सिद्धिके द्वारा ही अपने मनुष्यजन्मको सफल मानते हैं। कोई पुरुष यशको छोड़ करके केवल धर्म तथा सुखकी सिद्धिके द्वारा ही अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। और कोई पुरुष धर्मको छोड़ करके केवल यश व सुखकी सिद्धिके द्वारा ही अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। किंतु ग्रन्थकार कहते हैं कि लौकिक व्यवहार तथा शास्त्रोंक जाननेवाले पुरुषोंको संतुष्ट करनेवाले हम धर्म यश और सुख इन तीनोंके सेवनके द्वारा जानेवाले मनुष्य जन्म संबंधी दिनोंको ही सफल मानते हैं।

इस श्लोकमें जो 'त्रय सेवयैव, यहां पर एवकार दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि धर्म यश तथा सुख इन तीनोंके सेवनसे ही मनुष्य जन्मकी सफलता हो सकती है। एक एक अथवा दो दो के सेवनसे नहीं।

सारांश यह है कि मनुष्यको प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार परस्परमें अविरोध भावसे धर्म यश तथा सुख इन तीनोंका ही सेवन करना चाहिये । क्योंकि अविरोधपूर्वक इन तीनोंके सेवनसे ही मनुष्य जन्म सफल माना जाता है, अन्यथा नहीं ।

आगे—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर यदि मुनिपद धारण करनेकी सामर्थ्य नहीं होवे तो संयतासंयत पद ही धारण करना चाहिए, स बातको बताते हैं—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन्पञ्चगुरुपदशरण्यः ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(पञ्चगुरुपदशरण्यः) पांचों परमेष्ठियोंके चरणोंकी है शरण जिसके ऐसा अर्थात् श्रद्धापूर्वक पञ्च परमेष्ठीकी भक्ति करनेवाला और (दानयजनप्रधानः) दान व पूजन है प्रधान जिसके ऐसा अर्थात् प्रधान रूपसे दान तथा पूजनको करनेवाला और (ज्ञानसुधां पिपासुः) स्वपरभेदविज्ञानरूपी अमृतके पीनेकी इच्छा रखनेवाला तथा (मूलोत्तरगुणनिष्ठां) मूल और उत्तरगुणोंको (अधितिष्ठन्) पालन करनेवाला पुरुष (श्रावकः) श्रावक (स्यात्) कहलाता है ।

भावार्थ—"श्रृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः" अर्थात् जो सद्गुरु आदिसे श्रद्धा पूर्वक धर्मका श्रवण करता है उसको श्रावक कहते हैं । यह श्रावक शब्दका निरुक्त्यर्थ है । सामान्य रूपसे श्रावकोंके गुणोंके दो भेद हैं—एक मूलगुण और दूसरा उत्तरगुण ।

जो उत्तर गुणोंकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं और जो संयमको चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा सबसे पहले धारण-पालन किये जाते हैं उनको मूलगुण कहते हैं । तथा जो मूलगुणोंके बादमें धारण किये जाते हैं और जो मूलगुणोंकी अपेक्षासे उत्कृष्ट भी कहलाते हैं उनको उत्तरगुण कहते हैं ।

इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पुरुष पांच उदुम्बर तथा तीन मकारोंके त्यागरूप आठ प्रकारके मूलगुणोंको और पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकारके उत्तर गुणोंको इष्टफलकी अपेक्षा न करके निराकुल रूपसे पालन करता है । पांचों परमेष्ठियोंके चरणोंको ही शरण अर्थात् अपने दुःखोंके दूर करनेमें अथवा अपनी आत्माके समर्पण करनेमें योग्य समझता है । पात्र दानादिक चार प्रकारके दानोंको और नित्यमहादिक पांच प्रकारकी पूजाओंको प्रधान-रूपसे करता है । तथा 'यह शरीर भिन्न है और मेरा आत्मा भिन्न है, इस प्रकारके सदैव

१-ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः ।
सत्येन वचसा राजा गेही दानेन शोभते ॥

अर्थ—ध्यानके द्वारा योगी, संयमके द्वारा तपस्वी, सत्य वचनके द्वारा राजा और दानके द्वारा गृहस्थ शोभित होता है ।

भेदविज्ञानरूपी अमृतके पीनेकी इच्छा रखता है उसको श्रावक कहते हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक देश संयमको पालन करनेवाला कहते हैं।

इस श्लोकमें जो 'दानयजनप्रधानः' यहांपर प्रधान शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि श्रावकके दान और पूजन मुख्य कार्य हैं। तथा आजीविकाके उपायभूत अन्य कृष्यादिक षट्कर्म गौण[2] हैं। इसलिए श्रावकको दान और पूजन इन दोनों आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंको प्रधानरूपसे करना चाहिए। तथा जिस रीतिसे पूजनादिक धार्मिक कार्योंमें बाधा न आवे उस रीतिसे दानपूजनादिकके साधनभूत कृष्यादिक कर्मोंको भी गौण रूपसे करना चाहिये।

सारांश यह है कि मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका जो एक-देश पालन करता है उसको श्रावक कहते हैं।

इस प्रकार पञ्चम गुणस्थानक स्वरूपको बता करके आगे जो सम्यग्दृष्टि पुरुष उसके ग्यारह भेदोंमेंसे अर्थात् श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसी एक भी प्रतिमाको धारण करता है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष धन्य है ऐसा दिखाते हैं—

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु।
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥ १६ ॥

१-जो तसवहादु विरदो अविरदओ तहय थावरवहादो।
एक्कसमयह्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥

अर्थ—जो जीव देव शास्त्र और गुरुमें श्रद्धान रखता हुआ एक ही समयमें त्रस जीवोंकी हिंसासे विरत तथा स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसको विरताविरत देशसंयमी कहते हैं।

२-आयुः श्री वपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं।
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि ॥
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा-
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥

अर्थ—यदि पूर्वजन्ममें पुण्यका उपार्जन किया है तो इस भवमें भी दीर्घ आयु, लक्ष्मी, सुन्दर तथा निरोग शरीर आदि सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति होती है। और यदि पूर्वजन्ममें पुण्य उपार्जन नहीं किया है तो अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी इस भवमें उक्त सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति नहीं होसकती है। इस प्रकार कार्य करनेमें कुशल सज्जन पुरुष विचार करके इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें तो मन्द उद्यम करते हैं, थोडा प्रयत्न करते हैं। किन्तु आगामी भवमें बहुत सुखोंकी प्राप्ति हो इसके लिये ही शीघ्र तथा प्रीति पूर्वक सदैव अधिक प्रयत्न करते रहते हैं अर्थात् सज्जन पुरुष पूजन व दानादिक धार्मिक कार्योंको मुख्य रूपसे करते रहते हैं। और आजीविकाके उपायभूत कृष्यादिक आरम्भोंको गौणरूपसे करते हैं।

अन्वयार्थ—(अवहिः) अन्तरङ्गमें (रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुखस्वादात्मसु) रागादिकके क्षयकी हीनाधिकताके अनुसार प्रगट होनेवाली जो आत्माकी अनुभूति उस आत्माकी अनुभूतिसे उत्पन्न होनेवाले सुखका उत्तरोत्तर अधिक अनुभवन होना ही है स्वरूप जिन्होंका ऐसे (च) और (बहिः) बाह्यमें (त्रसवधाद्यंहोऽपपोहात्मसु) त्रस जीवोंकी हिंसा आदि पापोंसे विधिपूर्वक निवृत्ति होना है स्वरूप जिन्होंका ऐसे (एकादशसु) ग्यारह प्रकारके (दर्शनिकादिदेशविरतीस्थानेषु) दर्शनिकादिक देशविरत नामक पञ्चमगुणस्थानके स्थानोंमेंसे (यः) जो (सदृक्) सम्यग्दृष्टी पुरुष (यतिव्रतरतः) मुनियोंके व्रतमें अनुरक्त होकरके (एकं) एक भी स्थानको (श्रयते) स्वीकार करता है (तं श्रावकं) उस श्रावकका मैं (श्रद्दधे) अभिनन्दन करता हूं ।

भावार्थ—रागद्वेष और मोहके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षयकी अर्थात् देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयकी हीनाधिकताके अनुसार प्रगट होनेवाली जो निर्मल चिद्रूप आत्माकी अनुभूति, वही हुआ एक प्रकारका सुख अथवा उस आत्माकी अनुभूतिसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख, उस सुखका स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा होनेवाला जो अनुभव है वही अनुभव तो प्रतिमाओंके अन्तरङ्ग स्वरूप है और मन, वचन, कायसे रागद्वेषके कार्यभूत स्थूल त्रस हिंसादिक पापोंका देव, गुरु तथा धर्मकी साक्षी पूर्वक जो त्याग करना है वह प्रतिमाओंका बाह्य स्वरूप है ।

इसप्रकार उपर्युक्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग स्वरूपसे युक्त देशव्रत नामक पञ्चम गुणस्थानके दर्शनिक व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे जो सम्यग्दृष्टी पुरुष हिंसादिक पंच पापोंके सर्वथा त्यागरूप मुनियोंके धर्ममें अनुरक्त हो करके अपनी शक्तिके अनुसार क्रमको भंग न करके किसी एक स्थानको—प्रतिमाको धारण करता है उस पुरुषको मैं श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता हूं । अर्थात् वह पुरुष ही अपने कर्तव्य—कर्मोंका सम्यक् रूपसे पालन करता है ऐसा मैं—ग्रन्थकार मानता हूं ।

सारांश यह है कि मुनिधर्ममें अनुरागी होकरके जो सम्यग्दृष्टी पुरुष किसी एक प्रतिमाको धारण करता है वह सम्यग्दृष्टी पुरुष ही गृहस्थोंमें सच्चा कर्तव्यनिष्ठ और श्रद्धा करनेके योग्य है ऐसा ग्रन्थकारका उपदेश है ।

इस श्लोकमें जो सम्यग्दृष्टी जीवका 'यतिव्रतरतः' ऐसा विशेषण दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जैसे प्रासादके महलके ऊपर कलश चढ़ाया जाता है वैसे ही श्रावक धर्मरूपी प्रासादके ऊपर मुनिधर्मरूपी कलशको चढ़ाना चाहिये । क्योंकि जिसप्रकार कलशके चढ़ाये विना प्रासादकी शोभा नहीं होती है, उसी प्रकार मुनिधर्मरूपी कलशके चढ़ाये विना श्रावकधर्मरूपी प्रासादकी भी कुछ शोभा नहीं है इसलिए श्रावकधर्मरूपी प्रासादके ऊपर मुनिधर्मरूपी कलशको चढ़ाना ही चाहिये ।

अभिप्राय यह है कि पूर्ण रीतिसे श्रावकधर्मके धारण करनेसे ही श्रावक धर्मकी शोभा है। अतएव श्रावक धर्मके पालन करनेके अनन्तर अवश्य ही मुनिधर्मको धारण करना चाहिये। क्योंकि मुनिधर्ममें अनुरागी होनेसे ही श्रावक धर्मके धारण करनेकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं।

आगे—दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकारके श्रावकोंका स्वरूप बताते हैं:—

> दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं,
> सचित्ताद्दिनव्यवायवनितारम्भोपधिभ्यो मतात्।
> उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
> प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासकाः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(क्रमात्) क्रमसे (प्राग्गुणप्रौढ्या सह) पूर्वपूर्व प्रतिमा सम्बन्धी गुणोंकी प्रकर्षता के साथ साथ (दृष्ट्या) सम्यग्दर्शनसे सहित (मूलगुणाष्टकं) आठ मूलगुणोंको, (व्रतभरं) निरतिचार अणुव्रतादिकको, (सामायिकं) सामायिकको, (प्रोषधं) प्रोषधोपवासको तथा (सचित्तात्) सचित्तसे (च) और (दिनव्यवायवनितारम्भोपधिभ्यो) दिवा मैथुन, स्त्री, आरम्भ व परिग्रहसे तथा (मतात्) अनुमत (च) और (उद्दिष्टात् भोजनात् अपि) उद्दिष्ट भोजनसे भी (विरतिं) विरक्तिको (प्राप्ताः) प्राप्त होनेवाले (दर्शनिकादयः) दर्शनिकादिक (एकादश) ग्यारह प्रकारके (उपासकाः) श्रावक (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—प्रतिमाओंके ग्यार भेद हैं, परन्तु अनादिकालसे चला आया हुआ जो विषयोंका अभ्यास है उस विषयोंके अभ्याससे उत्पन्न होनेवाले असंयमको सहसा छोड़ नहीं सकनेके कारण यह जीव युगपत् उन ग्यारह प्रतिमाओंको धारण कर नहीं सकता है। इसलिए एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी इस क्रमसे सम्यग्दर्शन और आठ मूलगुणोंकी प्रकर्षताके साथ व्रत प्रतिमाको तथा सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण और बारह व्रतोंकी प्रकर्षताके साथ सामायिक प्रतिमाको इस प्रकार पूर्व २ की प्रतिमाओंके गुणोंकी वृद्धिके साथ २ आगे २ की प्रतिमाओंको पालन करनेसे श्रावकोंके भी ग्यारह भेद होजाते हैं, जिनका कि स्वरूप इस प्रकार है—

१—जो सम्यग्दर्शन सहित आठ मूलगुणोंका पालन करता है उसको दर्शन प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

२—जो दर्शन प्रतिमाके पालन करनेके साथ २ निरतिचार पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंका पालन करता है उसको व्रतप्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

३—जो पूर्वकी दोनों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ तीनों कालोंमें निरतिचार सामायिकको करता है उसको सामायिक प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

४–जो पूर्वकी तीनों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ निरतिचार प्रोषधोपवास व्रतको पालन करता है उसको प्रोषधोपवास प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

५–जो पूर्वकी चारों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ सचित्त आहारादिकका त्याग करता है उसको सचित्तत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

६–जो पूर्वकी पांचों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ दिनमें मैथुन सेवनका त्याग करता है उसको दिवामैथुनत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

७–जो पूर्वकी छहों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ स्त्री मात्रका त्याग करता है उसको ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

८–जो पूर्वकी सातों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ सेवा, कृषि, वाणिज्यादि गृह-सम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भोंका त्याग करता है उसको आरम्भत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

९–जो पूर्वकी आठों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ रागद्वेषादि आभ्यन्तर परिग्रहोंकी मन्दतापूर्वक क्षेत्र वास्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमेंसे आवश्यक वस्त्र और पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसको परिग्रहत्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

१०–जो पूर्वकी नौ प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ आरम्भादिक पाप कार्योंमें अनुमतिका त्याग करता है उसको अनुमतित्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

११–जो पूर्वकी दशों प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ उद्दिष्ट भोजन वगैरहका भी त्याग कर देता है उसको उद्दिष्ट त्याग प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं।

इस प्रकार अनुक्रमसे पूर्व २ की प्रतिमाओंके पालन करनेके साथ २ ही आगे २ की प्रतिमाओंका पालन करना चाहिये। क्योंकि जबतक आगे २ की प्रतिमाओंमें पूर्व २ की प्रतिमाओंके गुणोंका पालन नहीं किया जाता है तबतक आगे २ की प्रतिमाओंमें प्रतिमापना ही नहीं आ सकता है। और न योग्य रीतिसे उनका पालन भी हो सकता है। इसलिए ही आगे २ की प्रतिमाओंमें पूर्व २ की प्रतिमाओंके गुणोंका पालन करना आवश्यक बताया गया है।

इस श्लोकमें जो "उद्दिष्टादपि भोजनाच" यहांपर अपि शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक अनुमत और उद्दिष्ट भोजनको भी नहीं करता है वह दूसरे आरम्भादिक पाप कार्योंमें अपनी अनुमतिको क्यों देगा? तथा उद्दिष्ट वसतिका व वस्त्रादिकको अर्थात् अपने निमित्तसे बनाये गये मकान व कपड़े वगैरहको उपयोगमें क्यों लावेगा? अर्थात् न तो वह पापकार्योंमें अपनी अनुमतिको देगा और न उद्दिष्ट वसतिका आदिको उपयोगमें लावेगा।

सारांश यह है कि जब ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक अनुमत तथा उद्दिष्ट भोजनको भी नहीं कर सकता है तो फिर उसके लिए पापकार्योंमें सम्मतिका देना और उद्दिष्ट वसतिका व वस्त्रादिका ग्रहण करना तो दूर ही रहा अर्थात् वह न आरम्भादिक पाप-कार्योंमें अपनी अनुमति दे सकता है तथा न अपने निमित्तसे तैयार किये गये भोजन मकान व वस्त्रादिक भी ग्रहण कर सकता है।

अब-पापोंको नाश करनेवाली नित्यपूजा वगैरह धार्मिक क्रियाओंकी सिद्धिके लिए कृष्यादिक छह प्रकारके कर्मोंके करनेवाले गृहस्थको अवश्य ही पाप लगता है। इसलिए प्रायश्चित्त और पक्षादिकके द्वारा गृहस्थको उन पापोंका निराकरण करना चाहिए, इस बातका उपदेश देते हैं—

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहाः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा-
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपः संयमान्।
स्वाध्यायं च विधातुमाहतकृषीसेवावणिज्यादिकः,
शुद्ध्याऽऽप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहाः) नित्यमह, आष्टाह्निकमह, सच्चतुर्मुखमह (कल्पद्रुमैन्द्रध्वजौ) कल्पद्रुम और ऐन्द्रध्वज इन पांच प्रकारकी (इज्याः) पूजाओंको तथा (पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीः) पात्रदत्ती, समक्रियदत्ती, अन्वयदत्ती और दयादत्ती इन चार प्रकारके दानोंको तथा (तपः) तप (संयमान्) संयम (च) और (स्वाध्यायं) स्वाध्यायको (विधातुं) करनेके लिए (आहतकृषीसेवावणिज्यादिकः) ग्रहण किये हैं खेती सेवा तथा व्यापारादिक आजीविकाके उपाय जिसने ऐसा (गृही) गृहस्थ (आप्तोदितया) सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित (शुद्ध्या) प्रायश्चित्तसे (च) और (पक्षादिभिः) पक्ष, चर्या तथा साधनके द्वारा (मललवं) पापके अंशोंको (क्षिपेत्) दूर करे।

भावार्थ—नित्यमह, आष्टाह्निकमह[2], सच्चतुर्मुखमह, कल्पद्रुम और ऐन्द्रध्वज इस प्रकार

१—भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें पांच प्रकारकी पूजा और चार प्रकारके दानादिकका स्वरूप इस प्रकार लिखा है कि—

प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्। चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥

अर्थ—अर्हंतोंकी पूजाको इज्या कहते हैं। और वह चार प्रकारकी है। १-नित्यमह, २-चतुर्मुखमह, ३-कल्पद्रुम तथा ४-आष्टाह्निकमह।

१.-नित्यमहका स्वरूप—

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥

अर्थ—अपने घरसे प्रतिदिन जिन मंदिरमें जल, गन्ध, अक्षत पुष्प आदि पूजनकी सामग्रीको ले जाकर भक्तिपूर्वक प्रतिदिन जिनेन्द्रभगवानकी पूजा करनेको नित्यमह कहते हैं। तथा भक्तिपूर्वक

पांच प्रकारकी पूजन पात्रदत्ति, समक्रियदत्ती[२] दयादत्ती तथा अन्वयदत्ति इस प्रकार चार प्रकारका दान, स्वाध्याय[२], तप और संयम ये पांच श्रावकके कर्तव्य कर्म हैं। परन्तु जिनागममें प्रसिद्ध

जिन बिम्ब जिन मंदिर आदिके बनवानेको और शासन विधिपूर्वक अर्थात् अधिकार देकरके जिनमंदिरके लिये ग्रामादिकके देनेको भी नित्यमह कहते हैं।

या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी। स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः॥

अर्थ—अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोंकी पूजा करके उनके लिये प्रतिदिन आहारदान देनेको भी नित्यमह कहते हैं।

२-आष्टाह्निक पूजनका स्वरूप—

आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः।

अर्थ—जो पूजन नन्दीश्वर पर्वमें की जाती है उसको अष्टाह्निक पूजन कहते हैं और सबका हित करनेवाली यह पूजन जगतमें प्रसिद्ध है।

३-चतुर्मुख पूजनका स्वरूप—

महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः। चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि॥

अर्थ—महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो बड़ी भारी पूजा (महायज्ञ) की जाती है उसको चतुर्मुख पूजन कहते है। इस पूजनका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है।

४-कल्पद्रुमपूजनका स्वरूप—

दत्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते। कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः॥

अर्थ—किमिच्छक दानको दे करके जो पूजन चक्रवर्तीके द्वारा की जाती है उसको लोगोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कल्पवृक्ष पूजन कहते हैं।

५-ऐन्द्रध्वजपूजनका स्वरूप—

महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः।

अर्थ—इन्द्रके द्वारा जो पूजन की जाती है उसको ऐन्द्रध्वज पूजन कहते हैं।

बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसन्ध्यासेवया समम्। उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्।

अर्थ—तीनों सन्ध्याओंमें पूजन करनेके साथ २ बलि—उपहार स्नपन—अभिषेक आदि तथा इन्हींके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब उक्त पांच प्रकारकी पूजाओंके भेदोंमें ही गर्भित हो जाते है।

एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम्। विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्॥

अर्थ—इस प्रकार विधिपूर्वक जो जिनेन्द्र भगवानकी पूजा है उस पूजाको उसकी विधिके जाननेवाले पुरुष आचार्य लोग पाक्षिक श्रावककी वृत्ति कहते हैं अर्थात् पूजा करना पाक्षिक श्रावकका मुख्य कर्तव्य है।

१-पात्रदत्तीका स्वरूप—

महातपोधनायार्चा-प्रतिग्रहपुरःसरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते॥

अर्थ—महा तपस्वी मुनियोंके लिये पूजा, प्रतिग्रह आदि नवधाभक्तिपूर्वक आहार, शास्त्र, पींछी कमण्डलु औषध आदिके देनेको दानदत्ती अथवा पात्रदत्ती कहते हैं।

इन पांचों ही धार्मिक कार्योंका योग्य रीतिसे पालन, आजीविकाके उपायभूत कृष्यादिक कर्मोंके किये बिना निराकुलता न रहनेके कारण नहीं होसकता है। और वे कृष्यादिक आरम्भ भी पापके बिना नहीं होसकते हैं—नहीं किये जासकते हैं। इसलिये पांच प्रकारकी पूजाओंको, चार प्रकारके दानोंको, तप, संयम तथा स्वाध्यायको निराकुल रीतिसे करनेके लिये यथायोग्य खेती, सेवा,

---

२—समानदत्तीका स्वरूप—

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः ।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते ।
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥

अर्थ—गर्भाधानादिक क्रिया, मन्त्र और व्रतादिके द्वारा जो अपने समान है ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये अथवा गृहस्थाचार्यके अभावमें मध्यम, जघन्य पात्रके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धापूर्वक कन्या, भूमि, सुवर्ण आदिके देनेको समानदत्ती कहते हैं।

३—दयादत्तीका स्वरूप—

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा ।
त्रिशुद्ध्यानुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥

अर्थ—अनुग्रह करनेके योग्य जो दीन दुखी प्राणी हैं उन प्राणियोंका मन वचन कायसे जो दयापूर्वक भय दूर करना है उसको विद्वान लोग दयादत्ती कहते हैं।

भावार्थ—दुखोंसे भयभीत पुरुषोंके भयको दूर करना दयादत्ती कहलाती है।

१-२-३-४ अन्वयदत्ती, स्वाध्याय, तप और संयमका स्वरूप—

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः ।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं ॥
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः शुभभावना ।
तपोऽनशनवृत्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥

अर्थ—अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिये-स्थितिके लिये सम्पूर्ण रीतिसे पुत्रके लिये धर्म और धनके साथ जो अपने कुटुम्ब व उसके सम्पूर्ण भारको समर्पण करना है, सौंपना है उसको सकलदत्ती अथवा अन्वयदत्ती कहते हैं। शास्त्रोंके पठनपाठन चिन्तवन करने आदिको स्वाध्याय कहते हैं। उपवासादिक करनेको तप कहते हैं। और अहिंसादिक व्रतोंके धारण करनेको संयम कहते हैं।

व्यापार, मसि, शिल्प और विद्या इन छह आजीविकाके उपायभूत कर्मोंके करनेवाले गृहस्थोंको जिनेन्द्रभगवानके द्वारा कहे हुए प्रायश्चित्तसे अथवा पक्ष, चर्या तथा साधन रूप श्रावकधर्मके पालनसे कृष्यादिक छह कर्मोंके द्वारा होनेवाले पापोंको दूर करना चाहिये–उनका निराकरण करना चाहिये।

इस श्लोकमें जो 'सच्चतुर्मुखमह' यहां पर चतुर्मुख पूजनके लिए उत्कृष्टताका वाचक सत् विशेषण दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें चक्रवर्तीके न होनेसे कल्पद्रुम पूजनका और तीर्थंकरका अभाव होनेके कारण इन्द्रका आगमन न होनेसे ऐन्द्रध्वज पूजनका होना तो असंभव है अर्थात चक्रवर्ती तथा इन्द्रके सिवाय इन दोनों पूजनोंको तो कोई कर ही नहीं सकता है। इसलिये इस पञ्चमकाल सम्बन्धी इस भरतक्षेत्रमें चतुर्मुख पूजन ही सबसे उत्कृष्ट है–सबसे श्रेष्ठ है।

आगे—पक्ष, चर्या और साधनके स्वरूपको बताते हैं—

स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं,
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं,
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम्॥ १९॥

अन्वयार्थ—(इह) पक्ष, चर्या तथा साधनमेंसे (धर्माद्यर्थ) धर्मादिकके लिए (अहं) मैं (न हिंस्याम्) संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियोंकी हिंसा नहीं करूंगा (इति 'प्रतिज्ञाय') इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके (मैत्र्याद्युपबृंहितः) मैत्री प्रमोदादिक भावनाओंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ (अखिलवधत्यागः) असत्य वगैरहसे सहित सम्पूर्ण त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग (पक्षः) पक्ष (स्यात) कहलाता है (अथो) और (उदितं) कृष्यादिक कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले (दोषं) हिंसादिक पापोंको (विशोध्य) विधिपूर्वक प्रायश्चित्तके द्वारा दूर करके (निजान्वयं) अपने भारके चलानेमें समर्थ योग्य पुत्रके ऊपरमें रख करके अर्थात उसके सुपुर्द करके (गृहं) घरको (उज्झतः) छोड़नेवाले गृहस्थके (चर्या भवेत) चर्या होती है (तु) और उक्त प्रकारकी चर्यामें लगे हुए दोषोंको प्रायश्चि-

१–वार्ताका स्वरूप—

वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्कृष्यादीनामनुष्ठितिः।

अर्थ—विशुद्ध वृत्तिसे न्यायपूर्वक कृष्यादिक छह कर्मोंके द्वारा आजीविकाके करनेको वार्ता कहते हैं।

चतुर्धा वर्णिता दत्ति-र्दयादानसमाऽन्वयैः।

अर्थ—दयादत्ती, दानदत्ती, समानदत्ती और अन्वयदत्ती इस तरह दान चार प्रकारका है।

उससे दूर करके (अन्ते) मरण समयमें (अन्नेह तनूज्झनात्) आहार, मन वचन काय सम्बन्धी व्यापार तथा शरीरमें ममत्वके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले (विशदया) निर्मल (ध्यात्या) ध्यानके द्वारा (आत्मनः) आत्माके (शोधनम्) रागादिक दोषोंको दूर करना (साधनं) साधन ('भवेत') कहलाता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें जो 'अखिल बध त्याग, पद दिया गया है उसका, स्थूल झूंठ चोरी, कुशील आदि पापोंसे सहित सम्पूर्ण हिंसाका त्याग ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि स्थूल झूंठ वगैरह भी हिंसाके कारण होनेसे हिंसाके ही प्रकार हैं। तथा यह प्रकरण सागार धर्मका है, इसलिए प्रकरणवश सम्पूर्ण हिंसाके त्यागका, 'स्थूल रीतिसे शेष अनृतादिक पापोंके त्याग सहित सम्पूर्ण त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि गृह-वासादिकमें आसक्ति होनेसे आरम्भादिकको करनेवाला पाक्षिक श्रावक यद्यपि मन्द कषाई भी हो तथापि वह आरम्भसे नहीं होनेवाली केवल संकल्पी हिंसाको ही छोड़ सकता है। किंतु गृह संबंधी कार्योंके करनेसे आरम्भादिकमें होनेवाली अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाली जो हिंसा है उसको वह नहीं छोड़ सकता है। अतएव धर्म, देवता, मन्त्रसिद्धि, औषध और आहारादिकके लिये मैं कभी भी संकल्पपूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसा, स्थूल झूंठ, चोरी, कुशीलादि पापोंको नहीं करूंगा, इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके जो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ इन चार भावनाओंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होनेवाला स्थूल झूंठ वगैरह पापोंके त्यागसे सहित संपूर्ण त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाके त्याग रूप अहिंसात्मक परिणाम है उसको पक्ष कहते हैं। और प्रतिदिन वैराग्ययुक्त परिणामोंकी वृद्धि होने पर अर्थात् परिणामोंमें वैराग्यकी वृद्धि होने पर, कृष्यादिक कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले हिंसादिक पापोंको प्रायश्चित्तके द्वारा दूर करके अपने पालण पोषण करनेके योग्य स्त्री माता पिता आदि रूप पोष्यवर्गको ग्राम सुवर्णादिक रूप धनको तथा चैत्यालय पात्र दानादिक रूप धर्मको अपने भारके चलानेमें समर्थ योग्य पुत्रके सुपुर्द करके अथवा यदि पुत्र न हो तो पुत्रके समान अपने वंशमें पैदा होनेवाले किसी भाई या भतीजे वगैरहके सुपुर्द करके घरका छोड़नेको चर्या कहते हैं। और चर्यामें लगे हुए दोषोंको प्रायश्चित्तसे दूर करके गृह-त्याग करनेके अन्तिम समयमें—अन्तमें अथवा मरण समयमें चतुर्विध आहारके मन, वचन, काय सम्बन्धी चेष्टाके—व्यापारके तथा शरीरमें ममत्वके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल ध्यानके द्वारा आत्माके रागादिक दोषोंके दूर करनेको साधन कहते हैं।

सारांश यह है कि विना प्रतिमा रूपसे—अभ्यास रूपसे आठ मूलगुणों और अणुव्रतादिक बारह उत्तरगुणोंका पालन करना पक्ष कहलाता है। तथा कृष्यादिक आरम्भोंसे होनेवाले पापोंको प्रायश्चित्तसे दूर करके घरको छोड़नेवाले गृहस्थके द्वारा जो पहली प्रतिमासे लेकर दशवीं प्रतिमा

तकके व्रतोंका पालन किया जाता है वह चर्या कहलाती है । और चर्या संबन्धी दोषोंको दूर करके ग्यारहवीं प्रतिमाका पालन करना अथवा समाधिमरण करना साधन कहलाता है ।

इस श्लोकमें जो 'त्वन्तेऽहेतनुज्झनात्' यहां पर तु शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि साधनमें भी कृष्यादिक आरम्भोंसे होनेवाले दोषोंको प्रायश्चित्तसे दूर करना चाहिये।

अब—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इसप्रकार श्रावकके तीन भेदोंको बता करके संक्षेपसे उनका लक्षण कहते हैं—

पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(पाक्षिकादिभिदा) पाक्षिक, नैष्ठिक और साधकके भेदसे (श्रावकः) श्रावक (त्रेधा) तीन प्रकारके होते हैं (तत्र) उनमेंसे (तद्धर्मगृह्यः) श्रावकके धर्मकी है पक्ष जिसके ऐसा अर्थात् अभ्यास रूपसे श्रावक धर्मको पालन करनेवाला पुरुष (पाक्षिकः) पाक्षिक श्रावक ('भवति') कहलाता है तथा (तन्निष्ठः) उसी श्रावक धर्ममें है निष्ठ=स्थिति जिसकी ऐसा अर्थात् निरतिचार श्रावक धर्मको पालन करनेवाला पुरुष (नैष्ठिकः) नैष्ठिक श्रावक ('भवति') कहलाता है और (स्वयुक्) अपनी आत्मामें है समाधि जिसकी ऐसा अर्थात् आत्मध्यानमें लीन होकर समाधिमरणको सिद्ध करनेवाला पुरुष (साधकः) साधक श्रावक ('भवति') कहलाता है ।

र्थ—श्रावकके तीन भेद हैं—१ पाक्षिक श्रावक, २ नैष्ठिक श्रावक और ३ साधक श्रावक। उनमेंसे जिसके एकदेश हिंसादिक पंच पापोंके त्याग रूप श्रावक धर्मकी पक्ष है तथा जो अभ्यास रूपसे श्रावक धर्मका पालन करता है उसको पाक्षिक श्रावक–प्रारब्ध देशसंयमी कहते हैं। और जो निरतिचार श्रावक धर्मका पालन करता है उसको नैष्ठिक श्रावक–घटमान देश संयमी कहते हैं। तथा जिसका देश संयम पूर्ण होचुका है और जो आत्मध्यानमें तत्पर होकर समाधिमरण करता है उसको साधक–श्रावक निष्पन्न देशसंयमी कहते हैं।

इसप्रकार आचार्यकल्प विद्वद्वर पं० आशाधरजी विरचित स्वोपज्ञ सागारधर्मामृतकी दीपिका भव्य कुमुदचन्द्र नामकी टीका अनगारधर्मामृतकी अपेक्षासे ११ वां और सागारके प्रकरणकी अपेक्षासे प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

द्वितीय अध्याय।

इस प्रकार पहले अध्यायमें सामान्य रूपसे सागारधर्मका निरूपण करके अब आगे— विस्तारपूर्वक पाक्षिक श्रावककी क्रियाओंके वर्णन करनेकी इच्छा करनेवाले ग्रन्थकार सबसे पहले " किस प्रकारके भव्यको धर्माचार्योंने गृहस्थ धर्म पालन करनेकी अनुमति दी है। " इस बातको बताते हैं—

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जिनाज्ञया) जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञासे (अजस्रं) निरन्तर (विषयान्) विषयोंको (त्याज्यान् पश्यतः अपि) त्याज्य समझता हुआ भी अर्थात् विषय छोड़नेके योग्य हैं ऐसा दृढ़ श्रद्धान करता हुआ भी जो (मोहात्) चारित्रमोहके उदयसे (त्यक्तुं) उन विषयोंको छोड़नेके लिए (अशक्तस्य) असमर्थ है ऐसे भव्यजीवके लिये ही ("धर्माचार्यैः") धर्माचार्योंके द्वारा (गृहिधर्मः) गृहस्थधर्म पालन करनेकी (अनुमन्यते) अनुमति दी है।

विशेषार्थ—' पश्यतोऽपि ' यहांपर जो ' अपि ' शब्द दिया है उससे यह ध्वनित होता है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधीके उदयसे मिथ्यादृष्टीको जैसी विषयोंमें आसक्ति होती है, विषय रुचिकर मालूम पड़ते हैं, वैसी आसक्ति सम्यग्दृष्टीको नहीं होती; किन्तु विषयोंको हेय मानता है।

भावार्थ—धर्माचार्य तो सबसे प्रथम मुनिधर्म पालनेका उपदेश करते हैं; परन्तु जो भव्य उस मुनिधर्मको पालन करनेमें असमर्थ हैं उनको श्रावक धर्मका उपदेश दिया जाता है। इसी कारणसे गृहस्थोंके द्वारा जो आरंभी हिंसा होती है उसकी अनुमतिका दोष धर्माचार्यको नहीं लगता है।[२]

अब—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे युक्त पाक्षिक श्रावकको अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये मद्यादिकका त्याग करना चाहिए ऐसा बताते हैं—

१—विषयविषमाशनोत्थित-मोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥

अर्थ—विषयरूपी विषके भक्षणसे एक प्रकारका मोह उत्पन्न होता है। उसको यहां ज्वरकी उपमा दी है। उस मोहरूपी ज्वरके कारण तीव्र तृष्णा उत्पन्न होती है और उससे रोगीके समान मोहीकी भी शक्ति क्षीण होती है। उसके लिये पेय आदिकी तजवीज करना ही ठीक है, वैसे ही मोहीको भी न्यायोचित भोगोंकी छूट ठीक है।

२—सर्वविनाशी जीवस्त्रसहनने त्याज्यते यतो जैनैः।
स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥ २ ॥

अर्थ—जो सब जीवोंके वधमें प्रवृत्त है उसे जैनाचार्य त्रसोंकी हिंसाका त्याग कराते हैं तो बताओ उनको स्थावर हिंसाकी अनुमति देनेका दोष कैसे लगेगा?

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनी-माज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झे-त्पञ्च क्षीरिफलानि च ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उस गृहस्थ धर्ममें (आदौ) सबसे पहले (जैनीं आज्ञां) जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका (श्रद्दधत्) श्रद्धान करता हुआ पाक्षिक श्रावक (हिंसां) हिंसाको (अपासितुं) छोड़नेके लिये (मद्यमांसमधूनि) मद्य, मांस तथा मधुको (च) और (पञ्चक्षीरिफलानि) पांच क्षीरफलोंको (उज्झेत्) छोड़े।

भावार्थ—'जैनीं आज्ञां श्रद्दधत्' इस विशेषणसे ग्रन्थकारने यह दिखाया है कि जिनागमके श्रद्धानपूर्वक मद्यादिकको पाप समझकर जो त्याग किया जाता है वही देशव्रत है और इसी कारणसे वह देशव्रती कहलाता है। अपने कुलके आचरणसे वा अन्य कारणोंसे त्याग करनेवाला देशव्रती (मूलगुणधारी) नहीं कहलाता।

आगे—अपने और दूसरे आचार्योंके मतसे मूलगुण कौन कौनसे हैं इस बातको बताते हैं—

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सूरिः) आचार्य (एतान्) मद्य मांस मधु और पंच क्षीर फलोंके त्यागको (गृहिणां) गृहस्थोंके (अष्ट) आठ (मूलगुणान्) मूलगुण (स्मरेत्) स्मरण करते हैं-मानते हैं (वा) अथवा मद्य, मांस तथा मधुके त्यागको और (फलस्थाने) पञ्च उदुम्बर फलोंके त्यागके स्थानमें (स्थूलवधादि) स्थूल हिंसादिकके त्यागरूप पांच अणुव्रतोंको (गृहिणां) गृहस्थोंके (अष्ट) आठ (मूलगुणान्) मूलगुण (स्मरेत्) स्मरण करते हैं (वा) अथवा (इहैव) मद्य, मांस, मधु तथा स्थूल हिंसादिक पांचों पापोंके त्यागरूप आठ मूलगुणोंके पक्षमें ही (मधुस्थाने) मधुके त्यागके स्थानमें (द्यूतं) जुआके त्यागको अर्थात् मद्य, मांस और जुआके त्यागको तथा पांच अणुव्रतोंको (गृहिणां) गृहस्थोंके (अष्ट) आठ (मूलगुणान्) मूलगुण (स्मरेत्) स्मरण करते हैं।

भावार्थ—श्रावकाचारके अनुसार सबसे प्रथम अनुष्ठान करनेयोग्य मूलगुण है। मद्य[२], मांस

१—मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
अनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ १ ॥

अर्थ—मांस भक्षियोंमें दया, मद्य पीनेवालोंमें सत्यता, और मधु और उदुम्बरके खानेवालोंमें भद्रता नहीं रह सकती है।

२—मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥१॥ (सोमदेवसूरि)

अर्थ—पांच उदुम्बर और तीन प्रकारके सेवनका त्याग करना गृहस्थोंके अष्टमूलगुण है।

और मधु तथा पांच उदंबरका त्याग करना श्रावकोंके आठ मूलगुण हैं। श्रीमान् स्वामी समन्तभद्राचार्यने पंच पाप और मद्य, मांस, मधुके त्यागको अष्ट[1] मूलगुण कहा है।

श्री आदिपुराणमें स्वामी जिनसेनाचार्यने पंच पाप और मद्य, मांस तथा द्यूत (जुआ) के त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है।

यह भिन्न भिन्न आचार्योंका भिन्न भिन्न कथन कुछ विवक्षावश है इसलिये उसमें कुछ बाधा नहीं आती है। मद्यादिकका विशेष वर्णन ग्रन्थकार स्वयं आगेके पद्योंसे करनेवाले हैं।

अब—मद्यमें बहुतसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है। और उसके सेवन करनेवाले पुरुष इसलोक तथा परलोक दोनोंमें ही दुःखी होते हैं, इस बातको दिखाते हुए अवश्य ही मद्यका त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं—

> यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवा-
> श्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
> यद्विक्लवाश्चेममम् च लोकं,
> यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (यदेकबिन्दोः) जिस मद्यकी एक बूंदके (जीवाः) जीव (प्रचरन्ति) संचार करें-फैलें (तत्) तो वे जीव (त्रिलोकीं अपि) तीनों लोकोंको भी (पूरयन्ति) पूर्ण कर देते हैं-भर देते हैं (च) और (यद्विक्लवाः) जिस मद्यके द्वारा मूर्छित हुए पुरुष (इमं) इस लोकको (च) तथा (अमुं लोकं) परलोकको भी (यस्यन्ति) नष्ट कर देते हैं-बिगाड़ डालते हैं (तत् कश्यं) उस मद्यको ('स्वहितैषी') अपने कल्याणको चाहनेवाला पुरुष (अवश्यं) अवश्य ही (अस्येत्) छोड़े।

१—मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहु-र्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ २ ॥ (समन्तभद्रः)

२-हिंसासत्यस्तेया-दब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्या-द्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥३॥ (जिनसेनाचार्य)

३-मनोमोहस्य हेतुत्वा-न्निदानत्वाच्च दुर्गतेः। मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥
विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा। मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वह्निकणादिव ॥५॥

१—पांचों पापोंके साथ तीन मकारका त्याग करना गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं।

२—पांचों पापोंके साथ जुआ, मद्य और मांसका त्याग करना गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं।

३—मनको मोहित करता है और दुर्गतिका कारण है अतः इहलोक और परलोकके बिगाड़नेवाले मद्यको सज्जनोंको छोड़ना चाहिये। जैसे आगके कणसे घासकी गंजी भस्म होजाती है वैसे ही मद्यके सेवनसे विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया और क्षमा नष्ट होजाती हैं।

भावार्थ—मद्यके पीनेसे जीववध होनेके कारण द्रव्यहिंसा और कामादिक उत्पत्ति होनेके कारण भावहिंसा होती है। मद्यके प्रत्येक बूंदमें असंख्यात जीव होते हैं। तथा उसके पीनेसे मनुष्य विवेक-भ्रष्ट होकर अपने इह-परलोकका नाश कर लेता है। इसलिये आत्मकल्याणकी इच्छासे उसका अवश्य त्याग करना चाहिये।

आगे—मद्यके पीनेसे द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी हिंसा होती है इस बातको दिखा करके उस मद्यको (मदिरा) छोड़नेवाले पुरुषोंके गुण तथा नहीं छोड़नेवाले पुरुषोंके दोषोंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रीतिसे प्रगट करते हैं—

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः,
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं,
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र पीते) जिस मद्यके पीनेपर (अखिलाः) सम्पूर्ण (रसाङ्गजीवनिवहाः) मद्यके रससे पैदा होनेवाले अथवा मद्यमें रसको पैदा करनेवाले जीवोंके समूह (क्षिप्रं) शीघ्र ही अर्थात् मद्य पीनेके अनन्तर ही (म्रियन्ते) मृत्युको प्राप्त होते हैं[१] (च) और (सावद्यं) पाप अथवा निन्दाके साथ साथ (कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः) काम, क्रोध, भय तथा भ्रम ये हैं प्रधान जिनमें ऐसे दोष (उद्यन्ति) उदयको प्राप्त होते हैं (तन्मद्यं) उस मद्यको (व्रतयन्) छोड़नेवाला पुरुष (धूर्तिलपरास्कन्दी इव) धूर्तिल नामक चोरकी तरह (आपदं) विपत्तिको (न याति) प्राप्त नहीं होता है (पुनः) और (तत्पायी) उस मद्यको पीनेवाला पुरुष (एकपाद् इव) एकपात् नामक सन्यासीकी तरह (दुराचारं) निंद्य आचरणको (चरन्) करता हुआ (मज्जति) दुर्गतिके दुःखोंको प्राप्त होता है।

भावार्थ—मद्यके रसमें असंख्यात जीव होते हैं। उसके पीनेसे उन सबका मरण होता है। मद्यपानसे मन और शरीरमें एक प्रकारकी अनुचित उत्तेजना पैदा होती है। उस उत्तेजनासे मनुष्य अविचारी होकर नाना प्रकारके अन्यायोंमें प्रवृत्त होता है। गुरुजनोंसे क्रोध करता है।

१–रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा सञ्जायतेऽवश्यम् ॥ १ ॥
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल।
मद्ये भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥ २ ॥

मद्य रससे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है इसलिए मद्य पीनेवालोंको उन जीवोंके वधका पाप लगता है। मद्यमें यथाकाल जीव मरते और उत्पन्न होते रहते हैं और उससे मन मूर्छित होता है इसलिए मद्य सदैव छोड़ना चाहिए।

माता-बहन आदिके भेदको भूल जाता है। भयातुर होता है, असिष्ट बनता है। इत्यादि हानियां मद्यपानसे होती हैं। 'धूर्तिल' नामक चोर, चोर होकर भी (चोरीका त्याग न कर सकनेपर भी) देव-गुरु-शास्त्रके समक्ष केवल मद्यपानके त्यागके प्रभावसे विचारी बनकर सब प्रकारकी आपत्तियोंसे मुक्त हुआ। प्रत्युत 'एकपाद' नामक परिव्राजक (संन्यासी), वैरागी होकर भी केवल मद्यपानकी बुरी आदतसे दुराचारी बनकर नरकमें गया है। इन शास्त्र-प्रसिद्ध उदाहरणोंसे भी मद्य सेवन अत्यन्त हानिकारक समझकर उसका त्याग करना चाहिये।

आगे—जो अपने शुद्ध आचरणका गर्व करते हुए भी मांस खाते हैं वे निंद्य हैं ऐसा बताते हैं—

स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचिकश्मलाः।
श्वादिलालावदप्यशुः शुचिम्मन्याः कथं नु तत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(कश्मलाः) जाति, कुल तथा आचारसे मलिन नीच पुरुष (स्वतः) स्वभावसे (च) और (हेतोः) शुक्र शोणितसे उत्पन्न होनेके कारण (अशुचिः) अपवित्र (पलं) मांसको यदि (अश्नन्तु) खावें तो किसी प्रकारसे (स्थाने) ठीक है किन्तु (नु) आश्चर्य है कि (शुचिम्मन्याः) आचार विचारके द्वारा अपनेको पवित्र माननेवाले पुरुष (श्वादि-लालावदपि) कुत्ते वगैरह जानवरोंकी लारसे युक्त अथवा उनकी लारके समान भी (तत्) उस मांसको (कथं) किसतरह (अशुः) खावेंगे?

भावार्थ—मांसकी उत्पत्ति रजवीर्यसे उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंके अपवित्र शरीरके घातसे होती है। जिस समय मारनेवाला मांसके लिये प्राणियोंको मारता है उस समय शिकारी कुत्ते वगैरे उस प्राणीको चींथते हैं। अतः उसमें उन नीच जानवरोंकी लारका सम्बन्ध अवश्य होजाता है। ऐसे अपवित्र मांसको यदि आचारविचारहीन नीच पुरुष खाते हैं तो उनके विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। परन्तु जिनको खाद्याखाद्यका विचार है वे तथा आचार-विचार पालनेवाले उच्च वर्णीय लोग स्वयं अपवित्र तथा अपवित्र कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले मांसको खाते हैं, यह आश्चर्य है।

१-भक्षयन्ति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसंभवम्।
यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मानः किं विडम्बनमतः परं बुधाः ॥
यतो मांसाशिनः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता।
सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥ २ ॥

अर्थ—मांस सप्त धातुमय देहके मारनेसे पैदा होता है उसे खानेको पवित्र और पंडित माननेवाले खावें इससे ज्यादा और क्या विडम्बनाकी बात होसकती है। जिससे मांस खानेवालोंमें दम दया सत्य शौच व्रत आचार विद्यादिक नहीं होसकते हैं। इसलिये मांसको छोड़ना चाहिये।

अब—अपने आप ही मरे हुए जीवोंके मांस खानेमें कोई दोष नहीं है, ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति कहते हैं—

हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलम्।
पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(स्वयं मृतस्य अपि) अपने आप मरे हुये जीवोंके भी (पलं) मांसको (अश्नन्) खानेवाला (वा) अथवा (स्पृशन्) छूनेवाला पुरुष (हिंस्रः स्यात्) हिंसक होता है (हि) क्योंकि (पक्वापक्वा) पके अथवा कच्चे दोनों ही प्रकारके मांसके छोटेर टुकड़े-खण्ड (सदा) सदैव (निगोदौघसुतः) अनन्त निगोदिया जीवोंको उत्पन्न करनेवाले (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—मांसके अनेक टुकड़ोंमें अनन्त निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति सतत होती रहती है। वह मांस अग्निसे पकनेपर भी अथवा वह सूकनेपर भी वनस्पतिकी तरह प्रासुक नहीं कहा जासकता। कारण उसमें भी निगोदिया जीव सदैव पैदा होते रहते हैं। अतः स्वयं अपने आप

१-अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यारतिकामशोककोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च नरकसंनिहिताः ॥
न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ २ ॥
ये भक्षयन्त्यन्यपलं स्वकीयपलपुष्टये।
त एव घातका यन्न वध को भक्षकं विना ॥ ३ ॥
मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्य इव दुर्धियः ॥ ४ ॥
२-आमां वा पक्वां वा खादति वा स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ५ ॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अभिमान, भय जुगुप्सा, हास्य, अरति, काम, शोक, कोप वगैरह यह सब दोष नरकको ले जानेवाले हैं तथा हिंसाके पर्याय हैं। विना वधके मांसकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए मांस भक्षण करनेवालेको जरूर हिंसा लगती है। जो अपने शरीरकी पुष्टिके लिए मांस खाते हैं बताओ, उनको छोड़कर दूसरा कौन हिंसाका भागी होगा? क्योंकि डाकिनके समान मांस-भक्षीकी दृष्टि प्राणीके वधके तरफ रहती है। कोई प्रश्न करे कि प्रासुक करके मांस खानेवालोंको हिंसाका दोष नहीं लगता है उसका समाधान यह है कि-मांसके सुखानेपर पकानेपर तथा कच्ची अवस्थामें भी निरन्तर उसी जातिके जीवोंकी उत्पत्ति मांसमें मानी है। अतः जो मांसकी डलीको चाहे वह कच्ची हो, सूखी हो, पकी हो, खाता है वह जीवोंका वध करता है।

ही कालवश होनेवाले प्राणियोंके मांसके न केवल भक्षणसे ही किंतु स्पर्श मात्रसे भी द्रव्यहिंसा होती है। तथा उसके भक्षणसे आत्मामें क्रूरता आती है। इसलिये भावहिंसा होती है। इसी भावको आगेके पद्यसे बताते हैं।

आगे—प्राणियोंकी हिंसासे उत्पन्न होनेवाले मांसका खाना इन्द्रियोंके दर्प (भावहिंसा) का तथा नरकादिक दुर्गतियोंका कारण है इस बातको बताते हैं—

प्राणिहिंसार्पितं दर्प-मर्पयत्तरसं तराम्।
रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(नृशंसः) प्राणिघातक क्रूर कर्मोंको करनेवाला पुरुष (तरां) अत्यन्त (दर्पं) मदको (अर्पयत) करनेवाले और (प्राणिहिंसार्पितं) प्राणियोंकी हिंसासे उत्पन्न होनेवाले (तरसं) मांसको (रसयित्वा) खा करके (संसृतौ) अनादि संसारमें (स्वं) अपनी आत्माको (विवर्तयति) भ्रमण कराता है।

भावार्थ—मांसकी प्राप्ति मूक प्राणियोंको मारनेसे होती है। तथा उसको भक्षण करनेवालेका अन्तःकरण दयाहीन होता है। अतः उसके द्वारा सदैव क्रूरकर्म बनते हैं। इस कारण वह धर्मसे रहित होकर संसारमें भ्रमण करता है।

अब—केवल मांस खानेके संकल्प तथा उस (मांस) के त्यागसे उत्पन्न होनेवाले दोष और गुणोंको उदाहरण द्वारा दिखाते हैं—

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगतीः।
तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत्खदिरवद्वा ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(पिशिताशनाभिध्यानादपि) केवल मांस भक्षणके संकल्पसे भी ('जीवः') यह जीव (सौरसेनवत्) सौरसेन नामक राजाकी तरह (कुगतीः) नरकादिक खोटी गतियोंमें

१—पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे।
यथा हि नरकप्राप्ति-र्न तथा धान्यभोजनात् ॥ १ ॥
धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते।
गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यंतबाधकः ॥ २ ॥
मांसखादकगतिं विमृशंतः शस्यभोजनरता इह संतः।
प्राप्नुवन्ति सुरसम्पदमुच्चै-र्जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि ॥ ३ ॥

अर्थ—किसी भी पंचेन्द्रिय जीवके मांसभक्षणसे जैसे नरककी प्राप्ति होती है वैसी धान्य भक्षणसे नहीं होती है। धान्यके भक्षणसे भी वनस्पतिकायिक जीवका वध होता है परन्तु वह देशसंयमीके लिये अत्यन्त बाधक नहीं है। (कारण उसके विना जीवन निर्वाह नहीं होता है इसलिये अशक्यानुष्ठान है।) मांस भक्षण करनेवालोंको दुर्गतिकी प्राप्ति होती है। अतः इसका विचार करनेवाले विचारवान मांसके त्यागी शाकाहारी जैन गृहस्थोंको उच्चगतिसम्बन्धी सुखसम्पत्तिकी प्राप्ति होती है।

(भ्रमति) भ्रमण करता है (च) और (तद्विरतरतः) मांस खानेके त्यागमें आसक्त होनेवाला (नरः) पुरुष (चण्डवत्) चण्ड नामक चाण्डालकी तरह (वा) अथवा (खदिरवत्) खदिरसार भीलकी तरह (सुगतिं) स्वर्गादिक गतियोंको (अयति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैसे 'चंड' नामक चांडाल तथा 'खदिरसार' नामक भीलोंके राजाने मांसभक्षणके त्यागमें अनुरागसे सद्गति पायी और 'सौरसेन' नामक राजाने मांस भक्षणके विचार मात्रसे नरकगति पायी, वैसे ही प्रत्येक जीव मांसभक्षणके संकल्प मात्रसे ही दुर्गति तथा उसके त्यागके संकल्पसे ही सद्गति प्राप्त करता है।

आगे—"जिस प्रकार मूंग उड़द गेहूं आदि पदार्थों (धान्यों) को एकेंद्रिय जीवोंके शरीर होनेपर भी उस (मुद्गादि धान्यों) के खानेमें कोई दोष नहीं है, इसी प्रकार मांस भी पंचेंद्रिय जीवोंका शरीर है, इसलिये उसके खानेमें भी कोई दोष नहीं है।" इस प्रकार अनुमान बनाकर मांस खानेमें दोष नहीं माननेवाले पुरुषोंके प्रति कहते हैं—

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(प्राण्यङ्गत्वे) जीवके शरीरपनेरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षासे (समेऽपि) अन्न और मांसके समानता रहनेपर भी[1] (धार्मिकैः) धार्मिक पुरुषोंके द्वारा (अन्नं) अन्न (भोज्यं) खानेके योग्य है किन्तु (मांसं न) मांस खानेके योग्य नहीं है क्योंकि (स्त्रीत्वाविशेषेऽपि) स्त्रीत्वरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षासे स्त्री तथा मातामें समानता रहनेपर भी (जनैः) पुरुषोंके द्वारा (जायैव) स्त्री ही (भोग्या) भोगनेके योग्य है किन्तु (अम्बिका न) माता भोगनेके योग्य नहीं है।

भावार्थ—जैसे स्त्रीत्व मात्रके साथ भोग्यनेकी व्याप्ति नहीं है। अर्थात् केवल स्त्रीपना होनेसे भोग्यताका अनुमान लगाना ठीक नहीं है। माता तथा पत्नी इनमें स्त्रीत्व सामान्य रहनेपर भी

१—मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्। यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥१॥
शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं। विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥ २ ॥
हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे। विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जीवका शरीर है वह मांस है ऐसी तर्कसिद्ध व्याप्ति नहीं है। किन्तु जो मांस है वह अवश्य ही जीव शरीर है ऐसी व्याप्ति अवश्य है जैसे जो वृक्ष है वह जरूर नीम है ऐसी व्याप्ति नहीं है, किन्तु जो नीम है वह जरूर वृक्ष है ऐसी व्याप्ति है। गायका दूध शुद्ध, मांस नहीं जैसे सांपका रत्न विषनाशक होता है और विषघातक। यद्यपि मांस और दूध दोनोंकी उत्पत्ति गायसे है तथापि ऊपरके दृष्टान्तानुसार दूध उपादेय और मांस त्याज्य है। दूसरा उदाहरण भी देते है कि विषवृक्षका पत्ता जीवनदाता और उसकी जड़ मृत्युदायक होती है।

पत्नी ही भोग्य है, माता नहीं। इसी प्रकार प्राणीके शरीरत्व मात्रके साथ भक्ष्यपनेकी व्याप्ति नहीं है। अन्न और मांस इनमें प्राण्यङ्गता (प्राणीका शरीरपना) सामान्य रहने पर भी अन्न भोज्य (भक्षणीय) है लेकिन मांस भक्ष्य नहीं है। इसलिये प्राणीके शरीरत्व मात्र हेतुसे रजवीर्यसे उत्पन्न मांसको भक्ष्य करनेके लिये अनुमान लगाना ठीक नहीं है।

अब—मधु (शहद) के दोषोंको बताते हैं—

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नात्यघं सप्त-ग्रामदाहांहसोऽधिकम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(मधुकृद्व्रातघातोत्थं) मधुको करनेवाले प्राणियोंके समूहके नाशसे उत्पन्न होनेवाली (अपि) और (अशुचि) अपवित्र (बिन्दुशः) केवल एक बूंद भी (मधु) मधुको (खादन्) खानेवाला पुरुष (सप्तग्रामदाहांहसः) सात ग्रामोंके जलानेके पापसे[1] (अधिकं) अधिक (अघं) पापको (बध्नाति) बांधता है।

भावार्थ—जैसे किसी बड़े नगरमें मनुष्योंकी बस्ती होती है, उसी प्रकार मधुमक्खियोंके छत्तोंकी रचना होती है। उसमें असंख्य मक्खियां अपने अंडे रखती हैं। तथा पुष्पादिकोंका रस चूसकर अपने छत्तेमें मधु इकट्ठा करती हैं। वह रस उनका एक प्रकारका अपवित्र वमन ही है। उसीमें उनके अंडे भी रहते हैं। मधु निकालनेवाले जब छत्तोंको तोड़ते उस समय उनके सब अंडोंका तथा तद्गत मक्खियोंका निर्दयतासे वध होता है।[2] अतः इसी अपेक्षासे मधुके भक्षणमें सप्तग्रामके भस्म करनेसे अधिक पाप बताया है।

१—ग्रामसप्तकविदाहरेफसः तुल्यता न मधुभक्षिरेफसः।
तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते ॥
यश्चिखादिषति सारघं कुधी-र्मक्षिकागणविनाशनस्पृहः।
पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हन्त करुणा कुतस्तनी ? ॥
स्वयमेव विगलितं यद् गृहीतमथवा छलेन निजगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥

२—अनेकजन्तुसङ्घात-निघातनसमुद्भवम्।
जुगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति माक्षिकम् ॥

मक्षिकागर्भसम्भूत-बालाण्डकनिपीडनात्। जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥
एकैककुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिकाः। यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥

अर्थ—मधुको सेवन करनेवालेके पापकी बराबरी सात गांव जलानेके पापसे भी नहीं की जा सकती। जैसे गंगाजलकी बराबरी अंजलीके जलसे नहीं हो सकती। जो कुबुद्धि मधु खानेकी इच्छा करता है उसके करोड़ों मक्खियोंके वधकी इच्छा प्रकट सिद्ध होती है। और उसके पापरूपी कीचड़को बहानेवाली दया

आगे—मधुकी तरह मक्खन भी बहुतसे जीवोंकी हिंसाका कारण है इसलिए उसका भी त्याग करना चाहिये ऐसा बताते हैं—

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः॥ १२॥

अन्वयार्थ—('धार्मिकः') धर्मिक पुरुष (मधुवत्) मधुकी तरह (नवनीतं च) मक्खनको भी[1] (मुञ्चेत्) छोड़े, क्योंकि (तत्रापि) मक्खनमें भी (द्विमुहूर्तात् परं) दो मुहूर्तके बादमें (शश्वत) निरन्तर (भूरिशः) बहुतसे (अङ्गिराशयः) प्राणियोंके समूह (शश्वत) निरन्तर (संसजन्ति) उत्पन्न होते रहते हैं।

भावार्थ—मद्य-मांस-मधुके समान चार घड़ीके बादका मक्खन भी अभक्ष्य बतलाया है। क्योंकि उसमें चार घड़ीके बाद विकृति होती है। प्रति समय संमूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होती रहना विकृति है। मद्य, मांस, मधुमें जिस प्रकार निरन्तर त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती है उसी-प्रकार चार घड़ीके बाद मक्खनमें भी प्रति समय संमूर्छन जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। इसलिये मद्यादिककी तरह यह भी त्याज्य है। जैसे वनस्पति आदिक स्थावर काय सूकने तथा अग्निसंस्कारके बाद प्रासुक हो जाती है वैसे ये चारों कभी भी प्रासुक नहीं होते। इसलिये इनको आगममें विकृति कहा है।

आगे—पञ्च उदुम्बर फलोंके खानेमें द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी हिंसा होती है। इस बातको बताते हैं—

भला कैसे हो सकती है। कोई स्वयं टपकी हुई अथवा मधुके छत्तोंसे निकालकर मधुको निकालता या उसे खाता है, उसको भी छत्तेके आश्रित जीवोंके वधका दोष लगता ही है। मधु नाना जीवोंके वधसे प्राप्त होता है, वह मधु मक्खियोंका झूठन है, अतः घृणास्पद है। उसे कौन भला खावेगा? मधु मक्खियोंके वधसे उत्पन्न होता है, मांसाकृति है, उसको अच्छे लोग कैसे खावेंगे। फूलके कोशसे रस चूसकर मक्खियां लाती हैं और उसे छत्तेमें इकट्ठा करती हैं, इस प्रकार उनके उच्छिष्टसे मधु तैयार होता है। अतः धार्मिक उसे नहीं खाते हैं।

१—यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्छति प्रचुरजीवराशिभिः।
तद्गिलन्ति नवनीतमत्र ये ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृताः॥
अंतर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
यत्र मूर्छन्ति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः॥

अर्थ—दो मुहूर्तके बाद सदैव नवनीतमें भी संमूर्छन जीव पैदा होते हैं इसलिये जो उसे खाते हैं वे मरकर किस गतिको जायेंगे? और किन्हीं आचार्यका मत यह है कि नवनीतमें अन्तर्मुहूर्तके बाद संमूर्छन जीवोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये विवेकियोंको उसे नहीं खाना चाहिये।

पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष-वटफल्गुफलान्यदन् ।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्का-ण्यपि स्वं रागयोगतः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(आर्द्राणि) गीले अथवा (शुष्काणि अपि) सूखे भी (पिप्पलोदुम्बर-प्लक्षवटफल्गुफलानि) पीपल, ऊमर, पाकर, बड़ तथा कठूमर इन पांच उदुम्बर आदि फलोंको (अदन्) खानेवाला पुरुष (त्रसान्) त्रस जीवोंको और (रागयोगतः) रागके सम्बन्धसे (स्वं) अपनी आत्माको भी (हन्ति) नष्ट करता है।

भावार्थ—वृक्षके काटको फोडकर उनके दूधसे उत्पन्न होनेवाले फलोंको क्षीरफल कहते है। उनमें वट, पिप्पल आदिक पंचोदुम्बर फल प्रसिद्ध हैं। उनके अन्दर स्थूल तथा सूक्ष्म त्रस जीव गचपच भरे रहते हैं। उसको फोडकर देखनेसे उनमेंसे स्थूल जीव बाहर भी पड़ते हैं। परन्तु स्वादकी लोलुपता आदि कारणोंसे जो इन फलोंको खाता है वह प्रत्यक्ष जीववधके कारण द्रव्य-हिंसाका तथा लोलुपता आदिके कारण आत्मगुणका विघातक होनेसे भावहिंसाका पात्र होता है। इस पद्यमें 'रागयोगतः' यह पद अन्त्यदीपक है। इसलिये मद्य, मांस, मधु तथा मक्खनके भक्षणमें भी पंचोदुम्बरके समान रागके उदयसे भावहिंसा होती है यह अर्थ-ध्वनित प्रगट होता है।

आगे—मद्यपानादिककी तरह दोषमय होनेसे रात्रिभोजन तथा विना छने पानी पीनेका भी त्याग करना चाहिए इस बातको बताते हैं—

रागजीववधापाय-भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् ।
रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—('धार्मिकः') धार्मिक पुरुष (तद्वत्) मद्यपानादिककी तरह (रागजीव-वधापायभूयस्त्वात) राग, जीवोंकी हिंसा और जलोदरादिक रोगोंकी अधिकताका कारण होनेसे (रात्रिभक्तं) रात्रिभोजनको[2] (उत्सृजेत) छोड़े (तथा) तथा (अगालितम्) वस्त्रसे नहीं

१—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष-न्यग्रोधादिफलेष्वपि ।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥
असंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता ।
अनन्तजीवव्यपरोपकाणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ॥

अर्थ—इन पांच उदुम्बरोंमें भी स्थूल प्राणी तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। तथा शास्त्र कथनानुसार सूक्ष्म जीव भी पाये जाते हैं। पांच उदम्बरोंके खानेकी जिनके चित्तमें लोलुपता है वे अनन्त जीवोंके वध करनेवाले हैं इसलिये उनकी असंख्यात जीवोंको मारकर आजीविका करनेवाले धीवरोंके साथ भी समानता नहीं है।

२—अर्काालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥

अर्थ—जो दिया लगाकर भी रातमें भोजन करते हैं वे भोज्यपदार्थोंके साथ मिश्रित होनेवाले सूक्ष्म जीवोंकी हिंसाको कैसे टाल सकते हैं ?

छाने गये (पानीयं) जलको और इतर पेय पदार्थोंको भी (न युञ्ज्यात्) उपयोगमें नहीं लावे।

भावार्थ—दिनकी अपेक्षा रातको खानेमें लोलुपता अधिक बढ़ती है। रातमें सूर्यप्रकाश न होनेसे रात्रिचर छोटे छोटे जीव अधिकतासे विचरने लगते हैं। अतः रातको भोजन बनानेमें तथा उसके खानेमें उनका घात होता है। तथा भोजनसंसर्गसे रोगोत्पादक जंतु खानेमें आ जानेके कारण नाना प्रकारके भयंकर रोगोंकी उत्पत्तिकी भी संभावना रहती है। इसलिये मद्यादिकके समान रात्रिभोजन भी छोड़ना चाहिये। तथा विना छानके पानीका व्यवहार भी नहीं करना चाहिये।

अब—दृष्टान्तपूर्वक रात्रिभोजन त्यागके फलको दिखाते हैं—

चित्रकूटेऽत्र मातंगी यामानस्तमितव्रतात्।
स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागराङ्गजा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस भरतक्षेत्रमें मालवा प्रांतके उत्तर दिशामें (चित्रकूटे) चित्रकूट नगरमें (मातङ्गी) किसी एक मातङ्गकी कन्या (स्वभर्त्रा मारिता) अपने पतिके द्वारा मारी गई हुई (यामानस्तमितव्रतात्) केवल एक प्रहर तक पाले हुये रात्रिभोजन त्यागव्रतके प्रभावसे उसी नगरमें (सागराङ्गजा नागश्रीः जाता) नागश्री नामसे प्रसिद्ध ऐसी सागरदत्त श्रेष्ठीकी कन्या उत्पन्न हुई।

भावार्थ—चित्रकूटमें एक मांतगिनीने रात्रिभोजन त्याग व्रत लिया था। वह व्रत अंतिम प्रहरमें उसने लिया था। रातमें उसके पतिने भोजनके लिए आग्रह किया परन्तु उस स्त्रीने व्रत भंग करना पसन्द नहीं किया इस पर वह पतिद्वारा बहुत पीटी गई। तथा पिटते पिटते मरणको प्राप्त हो गई, किन्तु व्रत नहीं छोड़ा। इसके फलस्वरूप वह सागरदत्त नामके प्रसिद्ध सेठकी पुत्री नागश्री नामसे प्रसिद्ध हुई। सारांश-एक प्रहरमात्र रात्रिभोजन त्यागका शास्त्रमें इतना फल बताया है।

आगे—पाक्षिक श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार पांच अणुव्रतोंके पालन करनेका अभ्यास करना चाहिये, इस बातका उपदेश देते हैं—

स्थूलहिंसानृतस्तेय-मैथुनग्रन्थवर्जनम्।
पापभीरुतयाऽभ्यस्ये-द्बलवीर्यनिगूहकः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') पाक्षिक श्रावक (बलवीर्यानिगूहकः) अपने बल और वीर्यको नहीं छिपा करके अर्थात् अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार (पापभीरुतया) पापके भयसे (स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम्) स्थूलहिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहके त्यागरूप पांच अणुव्रतोंके पालन करनेका (अभ्यस्येत) अभ्यास करे।

भावार्थ—"हिंसादिक पाप हैं। आत्माके लिये कल्याणकारी नहीं हैं। इनसे सदैव बचना चाहिये," इस प्रकार पापोंके डरसे अपनी शक्तिके अनुसार पंच पापोंके त्यागरूप पंचाणुव्रतका अभ्यास करो।

'पापभीरुतया' इस वाक्यसे यह ध्वनि निकलती है कि राज्यादिकके भयसे त्याग किये हुये हिंसादिक अणुव्रत नहीं हो सकते। अतः वे धर्म नहीं समझे जाते। केवल पापके डरसे त्याग किये हुये हिंसादिक ही व्रत कहलाते हैं।

अब—पञ्च अणुव्रतोंके अभ्यासको करनेवाले पाक्षिक श्रावकको वेश्यादि व्यसनोंमें आसक्ति नहीं करनेकी तरह जुआमें भी आसक्ति नहीं करना चाहिये, इस बातका उपदेश देते हैं—

द्यूते हिंसानृतस्तेय-लोभमायामये सजन्।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत्॥ १७॥

अन्वयार्थ—(वेश्याखेटान्यदारवत) वेश्या, शिकार और परस्त्रीमें आसक्तिको करनेवाले पुरुषकी तरह (हिंसानृतस्तेयलोभमायामये) हिंसा, झूंठ, चोरी, लोभ तथा माया ही की जाती है अधिकतासे जिसमें ऐसे (द्यूते) जुआमें (सजन्) आसक्तिको करनेवाला पुरुष (क्व अनर्थे) कौनसे अनर्थमें (स्वं) अपनी आत्मा और जातिको (न क्षिपति) नहीं फेंक देता है?[१][२]

भावार्थ—वेश्या, शिकार और परस्त्री व्यसनके समान द्यूत व्यसनमें भी पांचों पापोंकी प्रचुरता होती है। इसलिये द्यूतादि व्यसन हिंसादिक पंच पापोंकी अपेक्षा महापाप हैं। कारण जुआ, हिंसा, झूंठ, चोरी, माया और लोभमय होता है। अतः द्यूत व्यसनमें आसक्ति रखनेवाला अविचारी होकर चाहे जिस अनर्थमें प्रवृत्त होता है।

आगे—प्रकारान्तरसे अष्टमूलगुणोंको बताते हैं—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥ १८॥

१—सर्वानर्थप्रथनं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहर्तव्यं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥

२—कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्या धरा पांसुला।
जल्पाश्लीलगिरः कुटुम्बकजनद्रोहः सहाया विटाः॥
व्यापाराः परवञ्चनानि सुहृदश्चौरा महान्तो द्विषः।
प्रायः सैष दुरोदरव्यसनिनः संसारवासक्रमः॥

अर्थ—जुआ सब अनर्थका विस्तारनेवाला है, शौच गुणका नाश करनेवाला है, मायाका निधान है, चोरी और असत्यको ठहरनेकी जगह है इसलिये इसे दूरसे ही छोड़ना चाहिये। जुआरीके पास केवल लंगोटी ही वस्त्र रहता है। बुरा भला भोजन होता है। कंकरीली जमीन उनकी शय्या होती है। वे सदैव अश्लील वचन बोलते हैं। कुटुम्बियोंसे द्रोह करते हैं। गुंडे उनके सहायक होते हैं। दूसरोंको ठगाना यह उनका व्यापार रहता है, चोर उनके मित्र होते हैं, अच्छे लोग शत्रु होते हैं। प्रायः जुआरियोंकी लोकमें ऐसी स्थिति होती है।

अन्वयार्थ—(मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती) मद्यका त्याग, मांसका त्याग, मधुका त्याग, रात्रिभोजनका त्याग और पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग, ये पांच तथा त्रैकालिक देव वन्दना (जीवदया) जीवदया (च) और (जलगालनं) जलगालन, ये तीन (इति) इस प्रकारसे भी (क्वचित्) किसी शास्त्रमें (अष्टमूलगुणाः) आठ मूलगुण ('मताः') माने गये हैं।

भावार्थ—१ मद्य, २ मांस, ३ रात्रि भोजन, ४ पंचफली और ५ मधुका त्याग करना, ६ पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करना, ७ जीवोंकी दया पालना, और ८ छानकर पानी पीना भी किसी शास्त्रमें श्रावकोंके अष्टमूलगुण माने गये हैं।

आगे—जो पूर्वोक्त रीतिसे सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुण पालते हैं तथा जिनका उपनयन संस्कार होगया है, ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये जैन धर्मको श्रवण करनेका अधिकार है यह बताते हैं—

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः॥ १९॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकारसे (यावज्जीवं) जीवन पर्यंतके लिये (महापापानि) अनन्त संसारके कारणभूत मद्यपानादिक पापोंको (त्यक्त्वा) छोड़ करके (शुद्धधीः) सम्यक्त्वके द्वारा विशुद्ध बुद्धिवाला और (कृतोपनयः) विधिके अनुसार किया गया है मौञ्जीबन्धनरूप उपनयन संस्कार जिसका ऐसा (द्विजः) द्विज (जिनधर्मश्रुतेः) जिनधर्मके सुननेका[2] (योग्यः स्यात्) अधिकारी होता है।

भावार्थ—'श्रावक' शब्दका निरुक्ति अर्थ धर्म श्रवण करनेवाला है। श्रावक शब्दकी निरुक्तिके अनुसार जो सम्यग्दृष्टि उपनयन संस्कारयुक्त द्विज यावज्जीव सप्तव्यसनोंके त्यागकी प्रतिज्ञा लेता है वही श्रावक गुरुके पास जाकर धर्मको सुननेका अधिकारी है।

१–मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां।
नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतम्॥
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता।
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी॥ १॥

अर्थ—मद्य, पांच उदम्बर, मांस और मधुका त्याग, जीवोंपर दया, रात्रिभोजन त्याग, आप्त स्तुति, छानकर पानी पी लेना, ये श्रावकोंके आठ गुण गणधरोंने बताये हैं। ये सभी गुण श्रावकमें रहना चाहिये। इनमेंसे यदि एक भी गुण न हो तो वह श्रावक नहीं होसकता।

२–अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥

अर्थ—अनिष्ट, दुस्तर और पापोंके घर जो सप्तव्यसन हैं उनको छोड़कर और अष्टमूलगुण धारण कर शुद्ध हुई है बुद्धि जिनकी ऐसे गृहस्थ जिनधर्मके उपदेश सुननेके पात्र हैं।

आगे—जैन कुलमें जन्म लेकर सहज अष्टमूलगुण पालनेवाले और दीक्षोचित मिथ्यादृष्टिके कुलमें भी जन्म लेकर वक्ष्यमाण अवतारादि क्रियाओंसे अपनेको पवित्र करनेवाले भव्योंको यथा-योग्य माहात्म्य वर्णन करते हैं—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्‌गुणै-
र्येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ॥
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावात्) पूर्व जन्ममें सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्मके अभ्यासके महात्म्यसे (जैनकुले) जैन कुलमें (जाताः) उत्पन्न होनेवाले पुरुष (अयत्नो-पनतैः) बिना किसी प्रयत्नके प्राप्त हुये (गुणैः) सम्यक्त्वादिक गुणोंके द्वारा (स्फुरन्ति) लोगोंके चित्तमें चमत्कारको करते हैं (ते) वे (सुकृतां) पुण्यात्मा जीवोंके (अग्रसराः) अग्रेसर मुखिया (केऽपि) बहुत ही थोड़े ('सन्ति') हैं और (ये) जो (विधिवशात्) दैववशसे (दीक्षोचिते) दीक्षाके योग तथा (विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि) विद्या और शिल्पके द्वारा रहित है उपजीविका जिसमें ऐसे (कुदृक्कुलेऽपि) मिथ्यादृष्टियोंके कुलमें भी (उत्पद्य) उत्पन्न हो करके (गुणैः) तत्वार्थ-श्रद्धानादि गुणोंके द्वारा (स्वं) अपनी आत्माको (पुनन्ति) पवित्र करते हैं (ते अपि) वे पुरुष भी (तान् अन्वीरते) जैन कुलमें उत्पन्न होनेवाले पुरुषोंके सदृश हो जाते हैं।

भावार्थ—जिस कुलमें गर्भाधानादिक निर्वाण पर्यंत जैन संस्कार होते हैं उसे जैन कुल समझना चाहिये। श्रावक या मुनियोंके व्रतोंको लेनेको अर्थात् अपनेमें प्रगट करनेकी विधिको दीक्षा कहते हैं। अथवा उनके व्रतोंको लेनेके लिये सन्मुख होनेका नाम दीक्षा है। गायनादिक आजीविकाको विद्यावृत्ति और कारुकर्मको अर्थात् बढ़ई, लुहार आदिककी वृत्तिको शूद्रवृत्ति बताया है। ये दोनों वृत्ति जिन कुलोंमें नहीं पायी जाती हैं ऐसे असि, मसि, कृषि और वाणिज्य वृत्तिके धारक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यके कुलमें भी मिथ्यात्व सहित पुण्योदयसे उत्पन्न होकर जो मुनि या श्रावककी जैन दीक्षा लेनेके लिये उचित है तथा जो वक्ष्यमाण श्रावकोंकी अवतारिक आठ क्रियाको पालकर अपनेको पवित्र करते हैं वे भी जैन कुलमें उत्पन्न होकर सम्यक्त्व सहित अष्ट मूलगुणके पालनेवालोंके समान पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ हैं और विरल हैं।

आगे—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यमें जो कुलक्रमसे आये हुये मिथ्यात्वको छोड़कर जैन होते हैं तथा जैन धर्मानुसार किये हुये स्वाध्याय और ध्यानके बलसे अशुभ कर्मोंका नाश करते हैं और आत्मकल्याण करते हैं उनका अभिनन्दन करते हैं—

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं-
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः।
आंगं पूर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्धन्यो निहन्त्यंहसी ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(तीर्थकथनात्) धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके कथनसे (तत्त्वार्थं) जीवादिक पदार्थोंको (प्रतिपद्य) निश्चित करके (देशव्रतं) एक देशव्रतको (आदाय) ग्रहण करके, (तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामंत्रः) एक देशव्रतकी दीक्षाके पहले धारण किया है अपराजित नामक महामंत्रको जिसने ऐसा और (अस्तदुर्दैवतः) छोड़ दिया है, मिथ्या देवताओंका समूह जिसने ऐसा तथा (आङ्गं) द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान सम्बन्धी (अथ) और (पौर्वं) चौदह पूर्वगत श्रुतज्ञानसम्बन्धी (अर्थसंग्रहं) अर्थसंग्रहको-उद्धार ग्रन्थोंको (अधीत्य) पढ़ करके (अधीतशास्त्रान्तरः) पढ़े हैं व्याकरणादिक दूसरे शास्त्र जिसने ऐसा तथा (पर्वान्ते) पर्वके अन्तमें (प्रतिमासमाधिं) प्रतिमायोगको (उपयन्) धारण करनेवाला (धन्यः) पुण्यात्मा जीव (अंहसी) पापोंको (निहन्ति) नष्ट करता है।

भावार्थ—अजैनसे जैन बननेके ये संस्कार हैं।[1] उनके नाम अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढ़चर्या और उपयोगिता है। ये आठों ही संस्कार संक्षेप रूपसे

१—अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः। पूजाराध्य पुण्ययज्ञो दृढचर्योपयोगिता ॥ १ ॥

अर्थ—अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या और उपयोगिता यह अजैनको जैन धर्मकी दीक्षा देनेकी आठ क्रियायें हैं।

१-अवतार—गुरुर्जनयिता तत्त्व-ज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः।
तथा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥

२-वृत्तलाभ—ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात्तदैव गुरुपादयोः।
प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ ३ ॥

३-स्थानलाभ—ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरम्। स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ ४ ॥ जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत्। विलिखेद्वा जिनास्थान—मण्डलं समवृत्तकम् ॥५॥ श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा। वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥६॥ तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले। विधिना लिखिते तज्ज्ञै-र्विष्वग्विरचितार्चने ॥ ७ ॥ जिनार्चाभिमुखं सूरि र्विधिनैनं निवेशयेत्। तवोपासकदीक्षेय-मिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ ८ ॥ पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम्। पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषं च लम्भयेत् ॥ ९ ॥ ततः पञ्चनमस्कार-पदान्यस्मा उपादिशेत्। मंत्रोऽयमखिलात्पापा-त्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥ १० ॥ कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत्। गुरोरनुग्रहात्सोऽपि सम्प्रीतः स्वं गृहं व्रजेत् ॥ ११ ॥

इस पद्यमें बताये हैं। इनका विशेष वर्णन महापुराणके ३९ वें अध्यायमें जहां ४८ दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन है, उनमें ३६ क्रियायें जैन कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी बताई हैं। और अवतारादिक आठ क्रियायें अजैनसे जैन होकर जैन दीक्षा लेनेवालोंके लिये बताई हैं। उनका विवरण आदिपुराणके अनुसार इस प्रकारसे है।

४-गणग्रह—इयन्तं कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरम्। पूज्यास्त्विदानीमस्माभि-रस्मत्समय देवताः ॥१२॥ ततोऽपमृषितेनाल-मन्यत्र स्वैरमास्यताम्। इति प्रकाशमेवैता नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥१३॥ गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागणम्। विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः समयोचिताः॥१४

५-पूज्याराध्यक्रिया—पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा।
पूजोपवाससम्पत्या शृण्वतोऽङ्गार्थसंग्रहम् ॥ १५ ॥

६-पुण्ययज्ञ—ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्याना-मर्थं सब्रह्मचारिणः ॥ १६ ॥

७ दृढचर्या—तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुतम्।
निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रन्थान्बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥ १७ ॥

८-उपयोगिता—दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता।
पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥ १८ ॥

अर्थ-१-अवतार क्रिया—गुरु पिता है, तत्वज्ञान सुसंस्कृत गर्भ है, और उसमें धर्मरूपी जन्मसे यह भव्य उसका अवतार ग्रहण करता है।

२-वृत्तलाभ—जब गुरुके उपदेशसे मिथ्यात्व छूटता है, उस समय गुरुके चरणोंमें नम्र होकर आठ मूलगुण आदि व्रतोंको जो यह लेता है उसे वृत्तलाभ क्रिया कहते हैं।

३-स्थानलाभ—वृत्तलाभके अनन्तर उपवास पूर्वक जिनपूजा करके स्थानलाभ क्रिया की जाती है, उसकी विधि इस प्रकार है—

जिनालयकी पवित्र रंगभूमिमें अष्टदलका कमल मांडे अथवा गोल समवसरणका मंडल मांडे। उक्त मंडलको चिकने चूनसे अथवा पानीमें घुले हुवे चूनसे मांडें अथवा घिसे हुये चंदनसे मांडें। इसप्रकार अष्टदल कमल अथवा समवसरणका मंडल विधिपूर्वक लिख लिये जानेके बाद उसके ज्ञाताओंके द्वारा उसकी पूजा करनी चाहिये। जिनेन्द्रके सामने आचार्य जिनदीक्षा लेनेवालेको बैठावे। और उसके मस्तकपर स्पर्श करते हुये यह बोलें कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है। तथा इसके मस्तकपर पंचमुष्टि विधानसे स्पर्श करके तू पवित्र होगया, दीक्षा ले, ऐसा कहकर सिद्धशेषका (आशीर्वाद) देवें। उसके बाद सबसे पहले उसे पंचणमोकार मंत्र देवें। और कहें कि यह मंत्र सब पापोंसे तुझे बचावें। इस प्रकार यह विधि करके पारणाको जानेकी आज्ञा देवें। और वह श्री गुरुके अनुग्रहसे प्रसन्न होकर अपने घर जावे।

४-गणग्रह—उसके बाद घर जाकर घरके देवताओंको यह कहकर कि—आजतक अज्ञानसे हमने आपकी पूजा की है, अब हमको केवल हमारे (जैन) देवता ही पूज्य हैं। इसलिये आप चिढ़ना नहीं। अब आप स्वतन्त्र है चाहें जहां विराजिये। इस प्रकार सबके सामने उन मूर्तियोंको ले जाकर कहीं छोड़ आवे। इस प्रकार पहले कुदेवतागणोंको छोड़कर शास्त्रोक्त शान्त देवताओंकी पूजा करनेवाले गणग्रह नामकी क्रिया होती है।

आहार-विहारादिककी शुद्धि पालनेवाले शूद्र गृहस्थ भी ब्राह्मणादिकके समान यथायोग्य धर्मक्रियाका पालन कर सक्ते हैं यह बताते हैं-

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तुतादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(उपस्कराचारवपुःशुद्ध्या) उपकरण, आचार और शरीरकी पवित्रता से युक्त (शूद्रोऽपि) शूद्र भी (तादृशः) जिनधर्मके सुननेका अधिकारी (अस्तु) होता है (हि) क्योंकि (जात्या) वर्णके द्वारा (हिनोऽपि) हीन भी (आत्मा) जीव (कालादिलब्धौ) कालादिकलब्धियोंकी प्राप्ति होनेपर (धर्मभाक्) श्रावक धर्मकी आराधना करनेवाला (अस्ति) होता है।

भावार्थ—जो वर्णहीन शूद्र हैं परन्तु जिनका रहन सहन स्वच्छ है, जो मद्यादिकका सेवन नहीं करते, और जो शरीरशुद्धिपूर्वक भोजनादिक करते हैं वे भी धर्मश्रवणके अधिकारी हैं। कारण बाह्य शुद्धि अंतरंग शुद्धिके लिये कारण है। उसका आत्मा यद्यपि जातिसे हीन है तथापि काललब्धि आदि प्राप्त होनेपर वह भी धर्मका पालन करनेसे धर्मधारक हो सक्ता है।

इस प्रकार क्रूरता न करना, झूठ न बोलना, परधन न हरना, निविद्ध स्त्रीमें ब्रह्मचर्य पालना, अनुचित विषयमें तृष्णा न करना यह चातुर्वर्ण्यका सर्वसाधारण धर्म है। तथा अध्ययन, पूजन और दान यह त्रैवर्णिकोंका साधारण धर्म है। लोगोंको पढ़ाना, पूजन करवाना, दान लेना यह ब्राह्मणोंका विशेष धर्म है। इसी बातको दर्शाते हुए दार्शनिक-पाक्षिक श्रावकके लिये देव पूजा आदिककी प्रेरणा करते हैं—

यजेत देवं सेवेत गुरून्पात्राणि तर्पयेत्।
कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') पाक्षिक श्रावक (देवं) अर्हन्तदेवकी (यजेत) प्रतिदिन पूजा करे (गुरून्) गुरुओंकी (सेवेत) उपासना करे (पात्राणि) पात्रोंको (तर्पयेत) सन्तुष्ट करे (च) और (यथालोकं) लोकव्यवहारको उलंघन नहीं करके अर्थात् लोक व्यवहारके अनु-

---

५. पूजाराध्यक्रिया— द्वादशांगरूप सिद्धान्त-शास्त्रोंका सारांश जिनशास्त्रोंमें है उसे अर्थसंग्रह कहते हैं और इन अर्थसंग्रह ग्रन्थोंको पूजा और उपवासपूर्वक पढ़नेवालेके पूजाराध्य नामकी क्रिया होती है।

६. पुण्ययज्ञ—अनन्तर अपने साथियोंके साथ चौदह पूर्व शास्त्र सम्बन्धी विद्याओंको सुननेवालेके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञ क्रिया होती है।

७. दृढ़चर्या—अंग और पूर्वके सारांश बतानेवाले शास्त्रोंको पढ़कर श्रद्धाकी दृढ़ताके लिये जो कुछ अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता है उसको दृढ़चर्या कहते हैं।

८. उपयोगिता—पर्वके दिन उपवास करना, और जबतक उपवास है तबतक प्रतिमायोग धारण करना यह उपयोगिता नामकी क्रिया है।

सार अथवा आप्तके उपदेशके अनुसार (धर्म्यं) धर्म तथा (यशस्यं) यशसे युक्त (कर्म) कर्तव्य कर्मोंको भी (सदा) सदैव प्रतिदिन (चरेत्) करे।

भावार्थ—कर्म शब्दके दो अर्थ हैं। पहला अर्थ इसी अध्यायके ७६वें पद्यमें बताया हुआ है और दूसरा अर्थ नित्यक्रिया सम्बन्धी दन्तधावन आदिक। तथा 'यथालोकं' इस शब्दके भी दो अर्थ किये हैं। एक-लोकानुसार और दूसरा—'यथा+आलोकं' ऐसी निरुक्ति करके आगमानुसार ऐसा अर्थ किया है। १-देवपूजा, २—गुरूपासना, ३-पात्रदान ये तीनों धार्मिक और कीर्तिको बढ़ानेवाले सत्कर्म लोकानुसार और आगमानुसार पाक्षिकको सदैव करना चाहिये।

आगे—१८ श्लोकोंमें देवपूजाका वर्णन करते हैं—

यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
सङ्कल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') पाक्षिक श्रावक (नित्यमहादिभिः) नित्यमहादिक पूजाओंके द्वारा (अर्हद्देवं) अर्हन्तदेवकी (यथाशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (यजेत) पूजा करे क्योंकि (सङ्कल्पतः अपि; संकल्प मात्रसे भी (तं) अर्हन्त देवकी (यष्टा) पूजा करनेवाला पुरुष (भेकवत्) मेढ़ककी तरह (स्वः) स्वर्गमें (महीयते) महर्द्धिक देवोंके द्वारा पूज्य होता है।

भावार्थ—पूजनके पांच प्रकार हैं। तदनुसार अर्हंत भगवानकी यथाशक्ति (अपनी शक्ति न छिपाकर जहांतक होसके वहांतक) पूजन अवश्य करना चाहिये।

पूजन फलका दृष्टांत बताते हैं-राजगृही नगरमें केवल कमलके पत्रको मुहमें रखकर एक मेंढक श्री महावीरस्वामीके पूजनके लिये जारहा था। लेकिन दुर्दैववश वह रास्तेमें ही राजा श्रेणिकके हस्तीके पैरके नीचे दबकर मर गया। परन्तु केवल पूजनके संकल्पके प्रभावसे वह स्वर्गमें प्रतिष्ठित देव हुआ।

जब पूजनके संकल्पका ही इतना महात्म्य है तो फिर जो नानाप्रकारकी स्तुति पूर्वक पूजन करते हैं उनका महात्म्य तो और भी अधिक वर्णनीय होता है।

१-दानं पूजा जिनः शीलमुपवासश्चतुर्विधः। श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥
आराध्यंते जिनेंद्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः। पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं। तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥

अर्थ—पात्रदान, जिनपूजा, शील पालना और चार प्रकारका उपवास करना यह संसारका भस्म करनेवाला श्रावकोंका धर्म है। जिस गृहस्थाश्रममें जिनेन्द्रकी पूजा, गुरुकी विनय, धार्मिकोंसे गाढ़ी प्रीति, पात्रदान, करुणा बुद्धि, विपद्ग्रस्तोंकी सहायता, निर्मल सम्यग्दर्शनकी पूजा, तत्वाभ्यास और अपने व्रतोंमें अनुराग पाया जाता है वही विवेकियोंका सच्चा गृहस्थाश्रम है और जहां यह बातें नहीं है वह तो केवल दुःखद मोहका जाल है, गृहस्थाश्रम नहीं।

नित्यमहका लक्षण—

प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवैश्चैत्यादिनिर्मापणम्।
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसन्ध्याश्रया
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(निजगृहात्) अपने घरसे (नीतेन) लाये गये (गन्धादिना) जलगन्धादिक अष्टद्रव्योंके द्वारा (चैत्यगृहे) जिन मन्दिरमें (अर्हतः) अर्हन्त भगवानकी (अन्वहं) प्रतिदिन (पूजा) पूजा करना अथवा (स्वविभवैः) अपने धनके द्वारा (चैत्यादिनिर्मापणं) जिन-प्रतिमा तथा जिनमन्दिरादिक बनवाना अथवा (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (ग्रामगृहादिशासनविधादानं) ग्राम घर वगैरहका शासनविधिके द्वारा दान करना अथवा (स्वेऽपि गृहे) अपने घरमें या जिन-मन्दिरमें भी (त्रिसन्ध्याश्रया) तीनों सन्ध्याओंमें ('अर्हतः' सेवा) अर्हन्त भगवानकी आराधना करना अथवा (नित्यप्रदानानुगं) सदैव आहार दान देना है पीछे जिसके ऐसी (यमिनां) मुनियोंकी (अर्चनं च) पूजा करना भी (नित्यमहः) नित्यमह नित्य पूजन (प्रोक्तः) कही गई है।

भावार्थ—जिन कारणोंसे पूजनके लिये सदैव सामग्री मिलती रहे, अथवा जिन कारणोंसे नित्य पूजनके लिये साधन प्राप्त होते हैं अथवा जिनसे पूजनका मार्ग सदैव खुला रहता है उन साधन सामग्रीके दान देनेको भी आगममें नित्यमह कहा है। जैसे जिन चैत्य-चैत्यालय निर्माण करना, मंदिरको अपनी जायदाद (स्थावर मालमत्ता) देना, अपनी घरकी सामग्रीसे रोज पूजन करना, त्रिकाल पूजन करना तथा संयमी मुनियोंको दान देनेके बाद पूजा करना यह सब नित्यमह कहलाता है।

अष्टाह्निक और इन्द्रध्वज पूजाका लक्षण—

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(या) जो (जिनार्चा) जिनेन्द्र भगवानकी पूजा (नन्दीश्वरपर्वणि) नन्दीश्वर पर्वमें (भव्यैः) भव्य जीवोंके द्वारा (क्रियते) की जाती है (असौ) वह (आष्टाह्निकः) आष्टाह्निक नामक पूजन (तु) और ('या जिनार्चा') जो जिनेन्द्र भगवानकी पूजन (इन्द्राद्यैः) इन्द्रादिक देवोंके द्वारा (साध्या) की जाती है (सा) वह (ऐन्द्रध्वजः) ऐन्द्रध्वज नामक (महः) पूजन ('प्रोक्तः') कही गई है।

भावार्थ—आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें अष्टमीसे लेकर पौर्णिमा तक अष्टाह्निक पर्व होता है। ऐसे महान् पर्वमें बड़े समारम्भके साथ जो पूजा की जाती है उसको

अष्टाह्निकमह कहते हैं। देवलोक नन्दीश्वरद्वीपमें जाकर यह पर्व मनाते हैं। इसी नन्दीश्वरकी स्थापना उपरोक्त कालमें यहां पर भी की जाती है। तथा इन्द्र प्रतीन्द्र और सामानिक देवोंके द्वारा जो जिन पूजा की जाती है उसे ऐंद्रध्वजमह कहते हैं।

आगे—महामहका लक्षण बताते हैं—

भक्त्या मकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते।
तदाख्याः सर्वतोभद्र-चतुर्मुखमहामहाः॥ २७॥

अन्वयार्थ—(या) जो (जिनपूजा) जिनेन्द्र भगवानकी पूजन (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (मुकुटबद्धैः) मंडलेश्वर राजाओंके द्वारा (विधीयते) की जाती है (तदाख्याः) उस पूजनके ही (सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः) सर्वतोभद्र चतुर्मुख और महामह ये तीन अन्वर्थ नाम ('भवन्ति') होते हैं।

भावार्थ—सब जीवोंके कल्याणके लिये होनेसे इस पूजनका नाम 'सर्वतोभद्र' है। चतुर्मुख बिंब विराजमान करके चारों ही दिशामें राजा लोग खडे होकर पूजन करते हैं इसलिये इस पूजाका दूसरा नाम 'चतुर्मुख मह' है। तथा अष्टाह्निक पूजनसे यह पूजन बड़ी है इसलिये इसका तीसरा नाम 'महामह' है। इस प्रकार ये तीनों नाम अन्वर्थक हैं। यह पूजन कल्पद्रुमके समान ही राजा लोग करते हैं। जैसे चक्रवर्ती छह खंडोंपर विजय प्राप्त करके किमिच्छक दानपूर्वक कल्पद्रुम पूजन करते हैं उसी प्रकार राजालोग अपने अपने देशके ऊपर साम्राज्यपद प्राप्त करते समय यह 'सर्वतो भद्र' पूजन करते हैं।

कल्पद्रुम पूजाका लक्षण—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्ह-द्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥ २८॥

अन्वयार्थ—(किमिच्छकेन दानेन) किमिच्छक दानके द्वारा अर्थात् 'तुम क्या चाहते हो' इस प्रकारके प्रश्नपूर्वक याचकोंके मनोरथोंको (प्रपूर्य) पूर्ण करके (यः) जो (अर्हद्यज्ञः) अर्हन्त भगवानकी पूजन (चक्रिभिः) चक्रवर्तियोंके द्वारा (क्रियते) की जाती है (सः) वह (कल्पद्रुमः) कल्पवृक्ष नामक पूजन (मतः) मानी गई है।

भावार्थ—चक्रवर्ती छह खंडका विजय प्राप्त करनेके बाद अपना साम्राज्यपदका अभिषेक करते हैं। उस समय अपने आधीन सब राजाओं तथा प्रजाओंसे 'आप क्या चाहते हैं' ऐसा प्रश्न करते हैं। और वे जो जो मांगते हैं वह सब उनकी इच्छानुसार पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार सबको संतुष्ट करके सब राजाओंके साथ जो पूजन की जाती है उसका नाम कल्पद्रुम है।

आगे—नित्य तथा नैमित्तिक द्रव्यपूजन, अभिषेक आदि जो किया जाता है उसका इन्हीं पूजाओंमें समावेश है यह बताते हैं—

बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत्॥ २९॥

अन्वयार्थ—(भक्ताः) जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति करनेवाले गृहस्थ (यत्) जो (नित्यं) नित्य (च) और (नैमित्तिकं) नैमित्तिक (बलिस्नपननाट्यादि) उपहार, अभिषेक तथा गीत नृत्यादिकोंको (कुर्वन्ति) करते हैं (तत्) वे सब (यथास्वं) यथायोग्य (तेषु एव) नित्य-महादिक पूजाओंमें ही (विकल्पयेत्) अन्तर्भूत हैं अर्थात् नित्यमहादिक पूजाओंके ही भेद समझना चाहिये।

भावार्थ—इन पांचों ही पूजाके समय भक्तिवान् लोक अपनी अपनी शक्तिके अनुसार नित्य तथा नैमित्तिक (विशेष प्रसंगपर) जो भेंट लाते हैं, अभिषेक करते हैं, गायन वादन या नृत्यादिकका प्रबन्ध करते हैं, प्रतिष्ठा रथयात्रा आदि करते हैं वे सब जिस पूजनके सम्बन्धमें किये गये हों उसको उस पूजामें गर्भित समझना चाहिये। प्रतिदिन होनेवाली अभिषेक आदि विधिको नित्य और पर्व आदि विशेष उत्सवपर होनेवाली विधिको नैमित्तिक कहते हैं।

आगे—जलादिक प्रत्येक द्रव्य चढ़ानेका फल बताते हैं—

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हतः।
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः॥
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे-
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः॥ ३०॥

अन्वयार्थ—(अर्हतः) अर्हन्त भगवानके (पदयोः) दोनों चरण-कमलोंमें (सम्यक्) विधिपूर्वक (प्रयुक्ता) चढ़ाई गई (वार्धारा) जलकी धारा (यष्टुः) पूजा करनेवालेके (रजसः) पापोंकी (शमाय) शान्तिके लिये ('भवति') होती है (सद्गन्धः) उत्तम चन्दन (तनुसौरभाय) शरीरकी सुगन्धिके लिये ('भवति') होता है (अक्षताः) अखण्ड तन्दुल (विभवाच्छेदाय) विभूतिके नष्ट नहीं होनेके लिये-उसकी निरन्तर प्रवृत्ति बनी रहनेके लिये (सन्ति) होते हैं (स्रक्) पुष्पमाला (दिविजस्रजे) स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली मन्दारवृक्षकी मालाकी प्राप्तिके लिये ('भवति') होती है (चरुः) नैवेद्य (उमास्वाम्याय) लक्ष्मीके स्वामीपनेकेलिये ('भवति') होता है (दीपः) दीप (त्विषे) कान्तिके लिये ('भवति') होता है (धूपः) धूप (विश्वदृगुत्सवाय) संसारके नेत्रोंके उत्सवके लिये-उत्कृष्ट सौभाग्यके लिये ('भवति') होता है (फलं) फल (इष्टार्थाय) अभिमत वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये ('भवति') होता है (च) और (सः) प्रसिद्ध वह अर्घ (अर्घाय) पूजाविशेषके लिये—विशेष मान तथा प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये अथवा अभिमत वस्तुओंके मूल्यके लिये ('भवति') होता है।

भावार्थ—भलेप्रकारसे जिनेन्द्रके सामने जलके चढ़ानेसे, पूजा करनेवालेके पापका अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरणकी मंदता होती है जैसे पानीसे धूल शान्त होती है वैसे जलके चढ़ानेसे पाप व आवरणकी शान्ति होती है। भगवानके चरणोंमें चंदनके चढ़ानेसे शरीर सुगंधित होता है, अक्षत चढ़ानेसे अणिमा आदि ऋद्धियोंकी व धनकी क्षति नहीं होती है, पुष्पमालाके चढ़ानेसे देवगतिगत पुष्पमाला प्राप्त होती है, नैवद्यके चढ़ानेसे लक्ष्मीपतिकी पदवी प्राप्त होती है, दीपके चढ़ानेसे दीप्तिकी प्राप्ति होती है, धूपके चढ़ानेसे परम सौभाग्यकी प्राप्ति होती है, फलोंके चढ़ानेसे मनोवांछित पदार्थकी प्राप्ति होती है और सब मिलाकर अर्घ चढ़ानेसे उसकी जगमें पूजाविशेष भी की जाती है। सारांश यह है कि जो २ जिसको इष्ट है वह भक्तिपूर्वक भलेप्रकारसे जिनेन्द्र भगवानके समक्ष लाकर अर्पण किया जाय तो वह सब उसे भगवानकी पूजाके प्रतापसे इसी भव तथा अगले भवमें यथायोग्य रीतिसे प्राप्त होता है।

अब—श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजाकी विधि बताकर उसका लोकोत्तर फल बताते हैं—

> चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
> श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः।
> नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
> र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघश्रद्धानात्) अनन्त और उपमारहित उन उन प्रसिद्ध ज्ञानादिक गुणोंके समूहमें अत्यन्त अनुरागसे (अयं) ये (सः अर्हन्) वे ही जिनेन्द्र भगवान हैं (इति) इस प्रकारसे (शुद्धे) दोषरहित (चैत्यादौ) प्रतिमादिकमें (जिनं) जिनेन्द्र भगवानकी (न्यस्य) स्थापना करके (अनघैः) पापके कारणभूत दोषोंसे रहित और (तद्विधोपाधिसिद्धैः) पापरहित कारणोंके द्वारा उत्पन्न तथा (चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभिः) सुन्दर गद्यपद्यात्मक वचनोंके द्वारा चमत्कारको करनेवाले बहुतसे गुणोंके समूहोंने अनुरक्त होते हैं। लोगोंके मन जिन्होंमें ऐसे (नीराद्यैः) जल चन्दनादिक अष्टद्रव्योंके द्वारा ('जिनं') जिनेन्द्र भगवानकी (अर्चन्) पूजा करनेवाला (भव्यः) भव्य जीव (दृग्विशुद्धिं) सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको (प्रबलयतु) अधिक बलवान करता है कि (यया) जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा वह भव्यजीव (तत्पदाय) तीर्थंकर पदकी प्राप्तिके लिये (कल्पते) समर्थ होता है—तीर्थंकर पदको प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिनेन्द्रको जो सामग्री चढ़ाई जाती है हठाग्रहसे नहीं लानी चाहिये। अपने और परके भोगोंसे बची हुई न होनी चाहिये। और अन्यायसे उपार्जित न होनी चाहिये तथा सामग्री चढ़ाते समय जो छंद बोले जाते हैं वे काव्यके प्रासादादिक सद्गुणोंसे परिपूर्ण होने चाहिये।

जिनके बोलनेसे बाचनेवाले और सुननेवालेका मन रंजायमान होता रहे। इस प्रकार भक्तिपूर्वक जो पूजन की जाती है उससे पूजन करनेवालेको दर्शनविशुद्धिकी प्राप्ति होती है। और उसके प्रतापसे वह कालांतरमें तीर्थंकर पदवीकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है।

अब—व्रतसे विभूषित होकर जिनेन्द्रकी पूजन करनेवालोंके माहात्म्यका वर्णन करते हैं—

दृक्पूतमपि यष्टार-मर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥ ३२॥

अन्वयार्थ—(दृक्पूतं अपि) सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध भी (अर्हतः) अर्हन्त भगवानकी (यष्टारं) पूजा करनेवालेको (अहम्पूर्विकया) "मैं पहले, मैं पहले" इस प्रकारसे जब (अभ्युदयाश्रयः) पूजा और ऐश्वर्यादिक सम्पत्तियां (श्रयन्ति) आश्रय करती हैं तब (व्रतभूषितम्) व्रतके द्वारा शोभायमान ('अर्हतः यष्टारं') अर्हन्त भगवानकी पूजा करनेवालेकी तो (किं पुनः) फिर कहना ही क्या है? अर्थात् उसको तो विशेष रूपसे वे सम्पत्तियां आश्रय करती हैं।

भावार्थ—जब पूजनके माहात्म्यसे अविरत सम्यग्दृष्टीको नाना प्रकारके अभ्युदयकी प्राप्ति होती है तो फिर व्रती होकर पूजन करनेवालोंको उत्तमोत्तम अभ्युदयकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी।

आगे—जिनपूजनमें आनेवाले विघ्नोंको टालनेके उपाय बताते हैं—

यथास्वं दानमानाद्यैः सुखीकृत्य विधर्मणः।
सधर्मणः स्वसात्कृत्य सिद्ध्यर्थी यजतां जिनम्॥ ३३॥

अन्वयार्थ—(सिद्ध्यर्थी) "निर्विघ्न रूपसे जिनपूजाकी समाप्ति होवे" इस प्रकारकी सिद्धिको चाहनेवाला पुरुष (यथास्वं) यथायोग्य (दानमानाद्यैः) दान और मानादिकके द्वारा (विधर्मणः) अन्य धर्मावलम्बियोंको (सुखीकृत्य) सुखी करके—अपने अनुकूल करके तथा (सधर्मणः) जैन धर्मावलम्बियोंको (स्वसात्कृत्य) अपने आधीन करके (जिनं) जिनेन्द्र भगवानकी (यजतां) पूजा करे।

भावार्थ—पूजादिकमें विघ्न सहधर्मी और विधर्मी दोनोंके द्वारा उपस्थित होना संभव है। अतः निर्विघ्न पूजाकी सिद्धिके लिये विधर्मियोंको दान सन्मानादिक उचित व्यवहारके उपायोंसे सन्तोषित कर लेना चाहिये तथा सहधर्मियोंको भी स्वाधीन कर लेना चाहिये। उसके अनन्तर पूजनका समारम्भ करनेसे विघ्न नहीं आते हैं।

अब—गृहस्थको विना स्नानकी पूजाका अधिकार नहीं है यह बताते हैं—

स्न्यारम्भसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः।
स्वयं यजेतार्हत्पादा-नस्नातोऽन्येन याजयेत्॥ ३४॥

अन्वयार्थ—(स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः) स्त्रीसेवन और कृष्यादिक कर्मोंको करनेसे दूषित है शरीर तथा मन जिसका ऐसा ('गृही') गृहस्थ (आकण्ठं) कण्ठपर्यंत (अथ) अथवा (आशिरः) शिरपर्यंत (स्नात्वा) स्नान करके[1] (स्वयं) स्वयं (अर्हत्पादान्) अर्हन्तभगवानके चरणोंकी (यजेत) पूजा करे और (अस्नातः) नहीं किया है स्नान जिसने ऐसा वह गृहस्थ (अन्येन) स्नान किये हुये किसी दूसरे साधर्मी भाईसे (अर्हत्पदान्) अर्हन्त भगवानके चरणोंकी (याजयेत्) पूजा करावे।

भावार्थ—स्त्रीसंभोग या कृष्यादिक कर्मसे शरीरमें पसीना आना, तन्द्रा और आलस्य, तथा मनमें दुर्बलता आदिके आनेसे शरीर और मन संक्लेश युक्त रहता है। इसलिये गृहस्थोंको स्नान करके ही शरीर और मनकी शुद्धिपूर्वक स्वयं पूजन करनी चाहिये। यहांपर 'स्वयं' शब्दपर विशेष जोर है। श्रावकको जिनभगवानकी पूजा नौकर आदिके द्वारा नहीं करानी चाहिये। स्वयं करनेमें जो भक्ति और आनन्द आता है वह नौकर आदमियोंसे करानेमें नहीं आता। यदि किसी

१- नित्यं स्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥
वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये। अवगाह्याचरेत्स्नान-मतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥
पादजानुकटिग्रीवा शिरःपर्यन्तसंश्रयम्। स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः। यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तु द्वयम् ॥
सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः। अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्नोपास्त्यधिकारिता ॥
आप्लुतः सम्प्लुतश्चान्तः शुचिवासोविभूषितः। मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः। असञ्जातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥

अर्थ—देवपूजाके लिये गृहस्थको रोज स्नान करना चाहिये। और मुनिको दुर्जनके छूनेसे स्नान करना चाहिये। दूसरे और कभी भी मुनिको स्नान नहीं करना चाहिये। करे तो वह निन्दनीय है, गर्हित है शास्त्रोक्त नहीं है। गृहस्थोंको जहां हवा और सूर्यकी किरणोंके कारण जल कल्लोलें लेता है ऐसे पानीसे भरपूर सरोवरमें घुसकर स्नान करना चाहिये। अर्थात् वहांका पानी स्नानके लिये छाने हुए पानीके समान है। इसलिये प्रवेश कर ऐसे सरोवरमें स्नान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त सब प्रकारके पानीको छानकर उपयोग करना चाहिये। पैरोंका स्नान, जांघों तकका स्नान, कमर तकका स्नान, गर्दन तकका स्नान, और शिर तकका स्नान इस प्रकारसे स्नान पांच प्रकार है। सो इनमेंसे गृहस्थोंको जैसा दोष हो तदनुसार स्नान करना चाहिये। इन पांच प्रकारके स्नानोंमेंसे जिन्होंने सब प्रकारके आरंभ छोड़ रक्खे हैं, जो ब्रह्मचारी हैं, उनके लिये अन्तका स्नान अर्थात् शिरका स्नान जब कहीं बताया है और २ सबके लिये ग्रीवा स्नान और शिरका स्नान करना चाहिये। विना स्नानके वे पूजन नहीं कर सकते हैं। जो किसी प्रकारका भी आरम्भ करते हैं, स्त्रीप्रसंग करते हैं ऐसे व्यक्ति जबतक बाह्यशुद्धि अर्थात् स्नानादिक न कर लेवें तबतक उनको देवपूजाका अधिकार नहीं है। स्नान करके मौन संयमको धारण करके देवपूजा करनी चाहिये। दन्तधावन करके, मुखपर वस्त्र लपेटकर दूसरेको न छूकर विवेकी भगवानकी पूजा करे।

(सूतकादि) कारण वश अस्पर्श होनेपर अथवा प्रकृतिके अस्वास्थ्यके कारण स्नान करना अशक्य होनेपर दूसरे किसी साधर्मी भाईयोंसे स्नान कराने पर ही पूजन कराना चाहिये।

अब—चैत्य देवका निर्माण करनेका फल विशेष बताते हैं—

निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत्।
हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम्॥ ३५॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (महते) बड़े भारी (धर्मानुबन्धाय) धर्मसाधन करनेके लिये कारणभूत (अस्ति) हैं (तत्) वे (जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं) जिन बिम्ब, जिनमंदिर, मठ-वसतिका तथा स्वाध्याय शाला वगैरह (श्रद्धाशक्त्यनुरूपं) अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुसार पाक्षिक श्रावकोंको (निर्माप्यं) निर्माण कराना चाहिये[1] (हि) क्योंकि (हिंसारम्भविवर्तिनां) प्रायः हिंसासे पूर्ण कृष्यादिक कर्मोंमें निरन्तर प्रवृत्ति करनेवाले (गृहिणां) गृहस्थोंका (तत्तादृगालम्बनप्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं) जिनप्रतिमादिक तथा उन जिन-प्रतिमादिकके समान तीर्थयात्रादिक सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके कारणोंकी प्रौढताके द्वारा शोभायमान है स्वाभिमानसे परिपूर्ण हर्ष जिसमें ऐसा (मानसम्) मन (पुण्यचित्) पुण्यको बढ़ानेवाला (स्यात्) होता है।

भावार्थ—'महते धर्मानुबन्धाय' इस पदसे चैत्यादिक बनवानेमें कोई लोक सावद्य दोष लगनेकी आशंका करते हैं, उसका निराकरण होजाता है, क्योंकि कहा भी है "तत्सावद्यमपि न पापं स्यात्, यत्र महान् धर्मसंबंधः" अर्थात् जिसके करनेसे बड़ा भारी धर्मानुबन्ध होता हो तो वह सावद्य कर्म भी पाप नहीं है। जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर आदिक धर्मके आयतन हैं। इनके निमित्तसे नये धर्मकी प्राप्ति और प्राप्त धर्मकी रक्षा और रक्षित धर्मकी वृद्धि होती है। और इसीसे धर्म-परम्परा चलती है। आरम्भमें आसक्त गृहस्थोंके मनमें इन आयतनोंके निर्माणके अवलम्बनसे मनमें एक प्रकारका अपने जीवनमें सत्कृत्य सम्बन्धी गौरवका अनुभव करानेवाला

१—यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसम्भवः। तथाऽप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते॥
निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्। मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः॥
अर्थ—यद्यपि मंदिरके बनवानेके आरम्भसे हिंसा होती है। और हिंसासे पापबंधन होता है तथापि जिनेन्द्रके मंदिर बनवानेमें जो आरम्भ होता है उसके करनेवालेको महान पुण्यका लाभ होता है, कारण धर्म निरालम्ब है उसकी स्थिति सज्जनोंके द्वारा मंदिरसे होती है इसलिये आप्त गणधरादिकोंने मुक्तिरूपी महलकी प्राप्तिके लिये जिनालयको सीढ़ियोंकी उपमा दी है। जैसे सीढ़ीसे महल पर चढ़ते हैं वैसे जिनालयके आधारसे मुक्ति तकके अभ्युदयकी प्राप्ति होती है।

स्वाभिमान रससे युक्त परिणाम होता है। और उन परिणामोंसे उनको पुण्यबन्ध होता है। आरम्भमें फंसे रहनेवाले श्रावकोंके मनमें जिनमंदिर आदिकके निर्माण करानेसे "हमारे जीवनमें अमुक सत्कृत्य बन गया" इस प्रकारके जिनमंदिरादि निर्माणरूपी सत्कृत्यके अवलम्बनसे होनेवाले 'अभिमानिक 'धर्म-हर्ष' युक्त मनसे हमेशा पुण्यबन्ध होता रहता है।

अब—जिनचैत्यादिककी आवश्यकता बताते हैं—

धिग्दुष्षमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मतिः॥ ३६॥

अन्वयार्थ— (दुष्षमाकालरात्रिं) मरण रात्रिके समान इस दुःषमा नामक पंचमकालको (धिक्) धिक्कार है कि (यत्र) जिस पंचमकालमें (चैत्यालोकात् ऋते) जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाके दर्शनके विना (शास्त्रदृशां अपि) शास्त्र ही हैं चक्षु जिनके ऐसे पुरुषोंकी भी (मतिः) बुद्धि (प्रायः) प्रायः करके (देवविशा) परमात्माकी भक्ति करनेमें प्रवृत्त होनेवाली (न स्यात्) नहीं होती है।

भावार्थ—यहांपर पंचमकालको कालरात्रि (मरणरात्रि) की उपमा दी है और चैत्यको आलोक (प्रकाश) की उपमा दी है। जैसा कालरात्रिमें मोहका आवेग पसरता है उसी प्रकार इस पंचमकालमें मोहका वेग पसरता है। अतः कालरात्रिके समान इस पंचमकालको धिःकार किया है। क्योंकि इस कालमें मोहान्धकारके कारण जिनप्रतिमाके दर्शन विना ज्ञानीजनोंकी भी बुद्धि स्थिर नहीं रहती।

जिन चैत्यालयकी आवश्यक्ता बताते हैं—

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं
न यत्रार्हद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितम्॥ ३७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिननगरादिकोंमें (दलितकलिलीलाविलसितं) नष्ट हो गया है कलिकालकी लीलाका विलास जहांपर ऐसा और (श्रमणगणधर्माश्रमपदं) मुनियोंके समूहको धर्मसाधन करनेके लिए निवासस्थान स्वरूप (अर्हद्गेहं) जिन मंदिर (न 'अस्ति') नहीं है ('तत्र') उन नगरादिकोंमें (प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरणस्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः) प्रतिष्ठा तथा यात्रादिकोंके समूहमें पुण्याश्रवका कारणभूत जो स्वच्छन्दतापूर्वक होनेवाला मन बचन कायका व्यापार, उस व्यापारसे प्रकाशित होनेवाले धार्मिक उत्सवके विस्तारको

जो हर्ष, उस हर्षरूपी जलके प्रवाहके द्वारा धो डाली है पापरूपी धूलिको जिन्होंने ऐसे (आगाराः) गृहस्थ (कथं स्युः) किसतरह हो सकते हैं ?

भावार्थ—जहां मंदिर होते हैं वहां उनके निमित्तसे धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं। उन धार्मिक उत्सवोंमें धर्मात्मा लोगोंके एकत्रित होनेसे जनसमूहसे बड़ा धर्मप्रचार होता है। धर्मके विषयमें उत्साहरस बहता है और उससे धर्मात्माओंके पापोंका प्रक्षालन होता है। यदि पंचमकालकी लीलाके विलासको दलित करनेवाले तथा श्रमणगणोंका आश्रयस्थान और धर्मका आयतन ऐसे जिनमंदिर न होवें तो उनके निमित्तसे होनेवाली उपरोक्त बातें कैसे हो सकतीं ?

आगे—कलिकालमें वसतिकाके विना सत्पुरुषोंका भी चित्त अस्थिर होता है यह बताते हैं—

मनो मठकठेराणां वात्ययेवानवस्थया।
चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(अद्यत्वे) इस पञ्चमकालमें, (वात्यया इव) वायु मंडलके द्वारा चलायमान रुईकी तरह (अनवस्थया) रागादिकके परिणमनसे होनेवाली अस्थिरताके द्वारा (चेक्षिप्यमाणं) बार बार चलायमान (मठकठेराणां) वसतिकासे रहित मुनियोंका भी (मनः) मन (धर्मकर्मसु) आवश्यकादिक धार्मिक क्रियाओंके करनेमें (न क्रमते) उत्साहको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—जैसे चपल झंझावातसे झोंपडी स्थिर नहीं रहती वैसे ही वर्तमानमें विना ठहरनेकी व्यवस्थाके यतियोंका भी चपल मन उनकी आवश्यक क्रियाओंमें उत्साही नहीं रहता, वृद्धि नहीं कर सकता। इसलिये गृहस्थोंको उनके लिये मठोंका भी निर्माण करना चाहिये। इस कथनका यह भाव मालूम पड़ता है कि मुनियोंके लिये वर्तमानमें मठोंकी ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिये कि जिससे सदैव विहार करनेवाले मुनि अपने अपरिग्रह महाव्रतको पालते हुए कुछ दिन धर्मसाधनके लिये निवास कर सकें।

स्वाध्यायशालाके विना उपाध्याय, गुरु आदिकोंको भी शास्त्रका अन्तस्तत्त्व, मर्मके ज्ञानकी स्थिरता रहना कठिन है—

विनेयवद्विनेतॄणा-मपि स्वाध्यायशालया।
विना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(स्वाध्यायशालया विना) स्वाध्यायशालाके विना (विनेयवत्) शिष्योंकी तरह (विनेतॄणां अपि) गुरुओंकी भी (विमर्शशून्या) तत्त्वोंके विचारसे रहित होती हुई (धीः) बुद्धि (दृष्टे अपि) अच्छी तरहसे अभ्यास किये गए भी (अध्वनि) शास्त्र अथवा मोक्षरूपी मार्गमें (अन्धायते) अंधे पुरुषकी तरह आचरण करती है।

भावार्थ—जहां स्वाध्यायशाला नहीं है वहां शिष्योंके समान उपाध्यायोंकी भी बुद्धि तत्वकी विचारणाका मार्ग नहीं रहनेसे, परामर्शशीलताके साधनके अभावमें परिचित विषयोंमें भी अर्थात् अभ्यस्त भी शास्त्र व मोक्षमार्गके विषयमें आंधारीसी हो जाती है, सारांश मंजी हुई नहीं रह सकती है। अतः जगह जगह स्वाध्यायशालाएं भी स्थापित करानी चाहिए।

गृहस्थ अन्य बह्वारंभ तो करते ही हैं इसलिये उनको अनुकम्पा, तथा जीवोंपर अनुग्रह बुद्धिसे भोजनशाला तथा औषधालय बंधवाना और जिनपूजनके लिये बगीचा आदि निर्माण कराना दोष नहीं है यह बतलाते हैं—

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया।
चिकित्साशालवद्दुष्ये-न्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—('पाक्षिकः') पाक्षिक श्रावक (चिकित्साशालवत्) चिकित्साशालाकी तरह-औषधालयकी तरह (अनुकम्प्यानां) दयाके विषयभूत दुःखी प्राणियोंके (अनुजिघृक्षया) उपकार करनेकी इच्छासे (सत्रं अपि) अन्न और जलके वितरण करनेके स्थानको भी (सृजेत्) बनवावे तथा (इज्यायै) जिनेन्द्र भगवानकी पूजाके लिये (वाटिकाद्यपि) बगीचा और बावड़ी बगाहका बनवाना भी (न दुष्येत्) दोषावायक नहीं होता है।

भावार्थ—पाक्षिक श्रावक अनुग्रह बुद्धिसे बुभुक्षितोंके लिए व रोगियोंके लिए अन्नक्षेत्र खोले। 'अपि' शब्दसे पियाऊ खोले तथा जैसे औषधालयोंकी स्थापना आरम्भका साधन होनेपर भी दोषावायक नहीं है वैसे ही जिनभगवानकी पूजाके लिए आवश्यक पुष्प व फलोंके लिए बगीचोंका लगाना भी दोषजनक नहीं है। यहां भी 'अपि' शब्दसे कुआ बावड़ी आदिका भी ग्रहण है। अथवा यहां 'अपि' शब्द अनादरवाचक है। इसलिए अपने लिए कृषि आदि षट्कर्म करनेवाले गृहस्थके लिए धर्मबुद्धिसे बगीचा लगवाना लोक व्यवहारसे दोषी ठहर नहीं सकता। तथापि कीमतसे लाकर पुष्पोंसे पूजा करनेका मार्ग श्रेष्ठ है। यहां इस अभिप्रायका भी दर्शक 'अपि' शब्द है।

निष्कपट भक्तिसे जिस किसी प्रकारसे जिनभगवानको पूजनेवालोंके सर्व दुःख दूर होते हैं और संपूर्ण इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश देते हैं।

यथाकथञ्चिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम्।
नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान्दुहन्ति च ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(यथाकथञ्चित्) जिस किसी भी प्रकारसे (जिनं) जिनेन्द्र भगवानकी (भजतां) आराधना करनेवाले (निर्व्याजचेतसां) कपटसे रहित है चित्त जिन्होंका ऐसे ('भक्तिकानां') भक्त

पुरुषोंके (सर्वदुःखानि) संपूर्ण दुःख (नश्यन्ति) नष्ट होजाते हैं (च) और (दिशः) दशों ही दिशाऐं (कामान्) उनके मनोरथोंको (दुहन्ति) पूर्ण करती हैं ।

भावार्थ—सरल भावोंसे जितने भी साधन मिल सकते हैं उतनेसे ही जिनेन्द्रकी पूजन करनेवालोंके सब ही दुःख दूर होते हैं । वे जिधर भी जो इच्छा करते हैं सब ही जगह उनकी इच्छाएं पूर्ण होती हैं । यही सब दिशाएं मनोरथको पूर्ण करती हैं । इसका भावार्थ है । जिन्हे सब साधन मिलें इन्हें ही पूजन करना चाहिये । यह साधन सामग्रीकी आवश्यकता बतानेका अभिप्राय नहीं है । किंतु जिन्हें अधिकसे अधिक साधन मिल सकते हैं उन्हें अवश्य मिलाना चाहिये । जिन्हे ऐसे साधन नहीं मिल सकते उन्हें सरल भावों द्वारा प्राप्त साम्ग्रीसे ही पूजन करनी चाहिये । उनके भावोंकी सरलतासे इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार जिनपूजनके प्रभावसे सब ही जगह होता है ।

इस प्रकार जिनपूजन विधानका उपदेश करके सिद्ध पूजा, साधु पूजा आदिका भी उपदेश करते हैं—

जिनानिव यजन्सिद्धान्साधून्धर्मं च नन्दति ।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मङ्गलं च यत् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(जिनान् इव) अर्हन्तोंकी तरह (सिद्धान्) सिद्धोंकी (साधून्) साधुओंकी–आचार्य, उपाध्याय तथा मुनियोंकी (च) और (धर्मं) व्यवहार निश्चय रत्नत्रय रूप धर्मकी (यजन्) पूजा करनेवाला प्राणी (नन्दति) अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग विभूतिके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है (यत्) क्योंकि (ते अपि) वे सिद्धादिक भी (तद्वत्) जिनेन्द्र भगवानकी तरह (लोकोत्तमाः) लोकमें उत्तम ( ) शरण (च) और (मङ्गलं) मङ्गलरूप ('सन्ति') हैं ।

भावार्थ—जिनेन्द्रके समान सिद्ध, साधु और रत्नत्रयादि धर्म भी मंगल, लोकोत्तम और शरण है अतः इनकी भी पूजन करनी चाहिए । यहां "चत्तारि मंगलं" इत्यादि प्रार्थनाओंका अभिप्राय ग्रन्थकारने दर्शाया है । ये पुण्यवर्धक और पापनाशक होनेसे मंगल हैं । इनमें परम उत्कृष्ट माननेकी भावना लोकोत्तम भावना है तथा ये ही दुःखके हरण करनेवाले हैं और विघ्नोंसे बचानेवाले हैं इसलिए सच्चे शरण हैं ।

अब—सब पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेकी विधिको प्रगट करके अनुग्रह करनेवाली श्री सरस्वती देवीका भी पूजन करनेका उपदेश करते हैं—

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—('श्रेयोऽर्थी') कल्याणको चाहनेवाला पुरुष (यत्प्रसादात्) जिस जिनवाणीके प्रसादसे (जातु) कदाचित् भी (पूज्यपूजाव्यतिक्रमः) पूज्य अर्हन्तादिकोंकी पूजामें शास्त्रोक्त विधिका उल्लंघन (न स्यात्) नहीं होता है (तां) उस (जगत्पूज्यां) संसारके द्वारा पूज्य तथा (स्यात्कारोद्भरां) स्यात् पदके प्रयोगसे सर्वथा एकांतवादियोंके द्वारा जीती नहीं जानेवाली (गिरं) जिनवाणीकी ('श्रेयोऽर्थी') कल्याणको चाहनेवाला पुरुष (पूजयेत्) पूजा करें।

भावार्थ—जिन शास्त्रोंके द्वारा ही पूज्योंकी पूजाका व्यतिक्रम नहीं हो रहा है, कारण शास्त्र ही इस विषयमें हमारे मार्गदर्शक हैं। अतः "स्यात्" पदसे युक्त एकांतवादियों द्वारा अजेय, हितोपदेशदा भी होनेसे जगतभरके द्वारा पूज्य जिनवाणीकी भी पूजा करो। उद्भुर शब्दका अर्थ अजेय है। यथोक्त विधिके उल्लंघनको व्यतिक्रम कहते हैं। और व्यतिक्रमके अभावको अव्यतिक्रम समझना चाहिये।

श्रुत पूजक परमार्थसे जिनपूजक ही है ऐसा उपदेश करते हैं—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (श्रुतं) शास्त्रकी (यजन्ते) पूजा करते हैं (ते) वे पुरुष (अञ्जसा) परमार्थ रीतिसे (जिनं) जिनेन्द्रभगवानकी (यजन्ते) पूजा करते हैं (हि) क्योंकि (आप्ताः) सर्वज्ञ देव (श्रुतदेवयोः) शास्त्र और परमात्मामें (किञ्चित्) कुछ भी (अन्तरं न) अन्तर नहीं है ऐसा (प्राहुः) कहते हैं।

भावार्थ—भक्तिभावसे जिनवाणीकी पूजाका आदरभाव रखना ही सच्ची जिनपूजा है कारण आप्त परमेष्ठीने परमार्थसे जिन और जिनवाणीमें अन्तर नहीं बताया है।

इसप्रकार देवपूजा विधिको संक्षेपसे कहकर साक्षात् उपकारक होनेसे गुरुकी भी पूजन दररोज करनेका उपदेश देते हैं—

उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षताक्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(अप्रमत्तैः) प्रमाद रहित (शिवार्थिभिः) मोक्षको चाहनेवाले पुरुषोंको (गुरवः) गुरुओंकी (नित्यं) सदैव ही (उपास्याः) उपासना करना चाहिये क्योंकि (तत्पक्षताक्ष्यपक्षान्तश्चराः) गुरुओंके अधीन होकर रहनारूपी गरूडके पंखोंके भीतरमें चलनेवाले पुरुष (विघ्नोरगोत्तराः) विघ्नरूपी सर्पोंसे दूर ही रहते हैं।

भावार्थ—अप्रमादी होकर मुमुक्षुओंको गुरुकी उपासना सदैव करनी चाहिये। जो गुरु-भक्ति करते हैं उनके धर्मानुष्ठानमें किसी प्रकारके विघ्न नहीं आते हैं। उनके अनुभव व सत्संग-

तिके कामसे सब विघ्न टलते रहते हैं या आ ही नहीं पाते हैं। जैसे गरुडके पक्षोंको ओढकर चलनेवालोंके पास सांप नहीं फटक सकते हैं।

गुरूपासिका विधि बताते हैं—

निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः।
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरञ्जयेत् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ— ('श्रेयोऽर्थी') कल्याणको चाहनेवाला पुरुष, (राजवत्) राजाके मनमें प्रवेश करके उसको अनुरक्त करनेवाले सेवक वर्गकी तरह (निर्व्याजया) कपट रहित और (सानुवृत्त्या) गुरुकी अनुकूलतासे युक्त (मनोवृत्त्या) अपनी चित्तवृत्तिके द्वारा (गुरोर्मनः) गुरुके मनमें (प्रविश्य) प्रवेश करके (विनयेन) विनयसे ('गुरोर्मनः') गुरुके मनको (शश्वत्) निरन्तर (अनुरञ्जयेत्) अनुरक्त करे।

भावार्थ—गुरुके सन्मुख आते समय उठना उनकी कायिक विनय है। हित मितका प्रतिपादन करना उनकी वाचनिक विनय है और उनके विषयमें सदैव शुभ चिन्तवन करना मानसिक विनय है। इसप्रकार मन, वचन और कायकी विनयसे गुरुको अपने ऊपर प्रसन्न करे। जैसे राजाके साथ उसके हृदयमें अपना स्थान करके विनय पूर्वक व्यवहार किया जाता है वैसे ही गुरुके मनको भी सरल और उनके अनुकूल अपनी मनोवृत्ति बनाकर उनके हृदयमें अपना गुणानुरागीपनेका स्थान बनाकर यथायोग्य व्यवहार करें।

विनयसे गुरुका मन रञ्जित करना इसी अर्थको स्पष्टतासे बताते हैं—

पार्श्वे गुरूणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—('उपासकः') गुरुओंकी उपासना करनेवाला श्रावक (नृपवत्) राजाओंकी तरह–राजाओंके समीपमें विरुद्ध क्रियाओंको नहीं करनेवाले सेवकवर्गकी तरह (गुरूणां) गुरुओंके (पार्श्वे) समीपमें (प्रकृत्यभ्यधिकाः) क्रोध करना हंसी करना आदि, स्वभावसे अधिक (च) और (अनिष्टाः) शास्त्रनिषिद्ध (सर्वाः) संपूर्ण (क्रियाः) क्रियाओंको (त्यजेत्) छोड़े–नहीं करे तथा राजाओंकी तरह ('गुरूणां' मनः) गुरुओंके मनको (जातु) कदाचित् भी (न दूषयेत्) दूषित नहीं करे।

---

१ निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभंजनम्, असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥ १ ॥
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम्। विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ २ ॥
अर्थ—थूंकना, ऐंडाई लेना, जिमाई लेना, हाथ पैर तोड़ना, झूंठ बोलना, क्रीड़ा करना, हंसना, पैर फैलाना, अभ्याख्यान करना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, विकार करना, श्रृंगार करना, आदिको श्रावक गुरुके सामने न करें।

भावार्थ—गुरुके समीप जाते हुये अप्राकृतिक और अनिष्ट क्रियाओंको न करे। कोप करना, हंसना, विवाद करना आदि अप्राकृतिक चेष्टाएं हैं। पर्यस्तिक, उपाश्रय आदि शास्त्र-निषिद्ध अनिष्ट क्रियायें हैं। श्रावक गुरुके समीप इन्हें न करे।

अब—'पात्राणं तर्पयेत्' पात्रोंको संतुष्ट करना ऐसा पीछे कहा है, इसलिये उस पूर्वोक्त दानकी विधि बताते हैं—

पात्रागमविधिद्रव्य-देशकालानतिक्रमात्।
दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः॥ ४८॥

अन्वयार्थ—(गृहस्थेन) गृहस्थको (पात्रागमविधिद्रव्य-देशकालानतिक्रमात्) पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश, तथा कालको उल्लंघन नहीं करके (शक्तितः) अपनी शक्तिके अनुसार (दानं) दान (देयं) देना चाहिये (च) और (तपः) अनशनादिक तप (चर्यं) करना चाहिये।

भावार्थ—यथापात्र अर्थात् तीन प्रकारके पात्रोंमेंसे जैसा पात्र मिले तदनुसार यथागम, यथाविधि, यथादेश, यथाकाल और यथाद्रव्य गृहस्थको दान देना चाहिये। यथायोग्य अपनी शक्ति न छिपा कर उपवासादिक तप करना चाहिये। सारांश अपनी शक्ति न छिपा कर दान और तपका अनुष्ठान श्रावकोंको सदैव करना चाहिये।

नित्य नियमसे सम्यग्दृष्टी पुरुषने यदि दान और तप किया तो उसको अवश्य प्राप्त होनेवाले फल विशेषको बताते हैं।

नियमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः।
सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः॥ ४९॥

अन्वयार्थ—(अन्वहं) प्रतिदिन (नियमेन) नियम पूर्वक (किञ्चित्) शास्त्रविहित कुछ भी (यच्छतः) दानको देनेवाले (वा) अथवा (तपस्यतः) तपको करनेवाले (जिनश्रितः) जिनेन्द्र भगवानकी सेवामें तत्पर भव्य जीवके (परे लोकाः) दूसरे भव (अवश्यं) अवश्य ही (महीयांसः) इन्द्रादिक पद विशिष्ट (सन्ति) होते हैं अर्थात् दूसरे भवोंमें उसे इन्द्रादि पदोंकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—नियमसे शास्त्रविहित रीतिके अनुसार दान और तप करनेवाले जिनभक्त श्रावकके परलोक अर्थात् आगामी पर्याय महत्वपूर्ण होती है अर्थात् परभवमें वह तप और दानके प्रभावसे इन्द्रादिक पदवीको पाता है।

अब—कौनसा दान किस हेतुसे देना चाहिये यह बतलाते हैं—

धर्मपात्राण्यनुग्राह्या-ण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत्॥ ५०॥

अन्वयार्थ—('श्रेयोऽर्थिना') कल्याणको चाहनेवाले श्रावकको (अमुत्र) परलोकमें (स्वार्थसिद्धये) अपने अर्थकी सिद्धिके लिये—स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्तिके लिये (धर्मपात्राणि) मुनि वगैरह धर्मपात्रोंका (च) और (अत्रैव) इसी लोकमें ('स्वार्थसिद्धये') अपने कार्यकी सिद्धिके लिये (कार्यपात्राणि) कार्यपात्रोंका—त्रिवर्गके साधन करनेमें सहायक पुरुषोंका (अनुग्राह्याणि) उपकार करना चाहिये (तु) तथा (कीर्त्यै) कीर्तिके लिए (औचित्यं) दूसरोंके साथमें संतोषजनक उचित व्यवहारको (आचरेत्) करे।

भावार्थ—रत्नत्रयकी सिद्धिमें जो तत्पर रहते हैं वे धर्मपात्र हैं। तथा धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थके लिए सहायक व्यवहारीजनोंको कार्यपात्र समझना चाहिए। परलोककी स्वार्थसिद्धिके लिए धर्मपात्रोंके प्रति और इहलोककी स्वार्थसिद्धिके लिये कार्यपात्र प्रति अनुग्रह करना चाहिए। तथा कीर्तिके उत्पादनके लिए सदैव उचित व्यवहार करते रहना चाहिए। अर्थात् दान और प्रिय वचनों द्वारा उनमें सन्तोष उत्पन्न करना चाहिए।

आगे—धर्मपात्रोंको यथायोग्य संतुष्ट करनेका उपदेश देते हैं—

समायिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान्धिनुयात्।
दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यम् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(सद्गृही) पाक्षिक श्रावक (दानादिना) दान तथा मानादिकके द्वारा (यथोत्तरगुणरागात्) [२]समायिकादिकोंमें जो जो उत्कृष्ट हों उन उनके गुणोंमें अथवा जिनके और

१—वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम्। दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविधायिना ॥

अर्थ—वैय्यावृत्य करनेवालोंको यथायोग्य उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रोंको दान देना चाहिये।

१-गृहस्थो वा यतिर्वाऽपि जैनं समयमास्थितः। यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥
२-ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु। मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥
३-दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः। तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥
४-मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः। साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥
५-ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः। सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥

अर्थ—१-जिनधर्मधारक यति वा श्रावक जो भी दान देते समय मिले सम्यग्दृष्टियों द्वारा पूज्य है। २-परोक्ष अर्थको जाननेमें जिसकी बुद्धि समर्थ है ऐसा जो ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र आदि निमित्तोंका ज्ञाता, कर्तव्यकर्मका जाननेवाला पात्र जैनोंके द्वारा मान्य है। ३-यदि ऐसे ज्ञानी न रहे तो उनके बिना जैनधर्मके मर्मज्ञके दीक्षा, प्रतिष्ठा, यात्रा, क्रिया कैसे बनेगी तथा इस विषयकी परिपृच्छाके होनेपर अर्थात् दूसरेसे पूछे जानेपर जैन समयकी कैसी उन्नति होगी? इसलिये समयद्योतक विद्वानका भी आदर करना चाहिये। ४-मूलगुण उत्तरगुण और प्रशंसनीय तपके द्वारा जिनका विशेष स्थान है और इसी कारण जो नैष्ठिक कहलाते हैं ऐसे साधु भी धर्मात्माओं द्वारा भलेप्रकार पूजनीय है। ५-जो ज्ञानकाण्ड तथा क्रियाकाण्डके विषयमें चतुर्वर्णके द्वारा अग्रणी माने जाते हैं और जो संसार-सागरसे पार उतरनेमें जहाजके समान होते हैं वे सूरि भी देवके समान पूज्य हैं।

उत्कृष्ट गुण हों उनके उन २ गुणोंमें अनुरागसे (नित्यं) सदैव (समयिकसाधकसमयद्योतक-नैष्ठिकगणाधिपान्) समयिक, साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिपोंको (धिनुयात्) सन्तुष्ट करे।

भावार्थ—(१) जैनधर्मके आश्रय करनेवाले यति व श्रावकको समयिक कहते हैं। (२) ज्योतिषशास्त्र, मंत्रवाद आदि लोकोपकारी शास्त्रज्ञको साधक कहते हैं। (३) वाद आदिके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनेवाले विद्वानको समयद्योतक कहते हैं। (४) मूलगुण, उत्तरगुण श्लाघ्य तपके अनुष्ठाननिष्ठ श्रावक व यतिको नैष्ठिक कहते हैं। (५) धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यको गणाधिप कहते हैं। "यथोत्तरगुणरागतः" इस पदके दो अर्थ हैं (१) उत्तरोत्तर अधिक अधिक गुण हैं अतः उन उन विशेष गुणोंके अनुसार यथायोग्य दान सन्मान संभाषणादिकके द्वारा उनको दान देवें। (२) जिसका जैसा२ जोर२ उत्कृष्ट गुण है उसके अनुसार उनको उसके अनुकूल परमप्रीति करते हुए दानादिक देकर संतुष्ट करे। इस पद्यका अभिप्राय पात्रदत्ति और समदत्ति दोनोंमें लगा लेना चाहिए। उक्त प्रकारसे मुमुक्षु यति व श्रावकोंमें यथायोग्य रत्नत्रय बुद्धिसे दिया हुआ दान पात्रदानकी कोटिमें जाता है। और बुभुक्षु गृहस्थोंमें यथायोग्य रीतिसे वात्सल्य बुद्धिसे दिया हुआ दान समदत्तिकी कोटिमें आता है ऐसा समझना चाहिए।

'समदत्ति' दानकी विधि बतलाते हैं—

स्फुरत्येकोऽपि जैनत्व-गुणो यत्र सतां मतः।
तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस जैनमें (सतां मतः) सज्जनोंको प्रिय ऐसा (एकोऽपि) ज्ञान और तपसे रहित केवल एक भी (जैनत्वगुणः) जैनत्व गुण—सम्यक्त्वगुण (स्फुरति) स्फुरायमान होता है (तत्रापि) उस जैनके सामने भी (सत्पात्रैः) ज्ञान तथा तपसे अधिक (अजैनैः) अजैन पुरुष (रवौ) सूर्यके सामने (खद्योतवत) जुगनूकी तरह (द्योत्यं) प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें संसारसे पार उतारनेवाले एक जिन भगवान ही हैं ऐसी दृढ़ श्रद्धाका नाम जैन गुण है। यदि ज्ञान तप कम भी रहे तो केवल एक इस श्रद्धान गुणके कारण मन्द ज्ञानी भी जैन पात्र है और उसके सामने, विना समीचीन श्रद्धाके ज्ञानादिककी अधिकतासे सत्पात्र होते हुए भी सूर्यके सामने जुगुनूकी भांति निष्प्रभ है। "एकोऽपि" में जो अपि शब्द आया है उससे यह ध्वनित होता है कि श्रद्धानके साथ२ यदि ज्ञान और तपका जोड़ रहा तो फिर क्या कहना है। वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही।

अब—कल्याणेच्छु पुरुषको सबसे प्रथम जैन लोगोंपर अनुग्रह करना बतलाते हैं—

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः।
दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि॥ ५३॥

अन्वयार्थ—(उपकृतः) अनुगृहीत किया गया (एकः अपि) एक भी (जैनः) जैन (वरं) श्रेष्ठ है किंतु ('उपकृताः') अनुगृहीत किये गए (सहस्रशः) एक हजार (अन्ये) अजैन (वरं न) श्रेष्ठ नहीं हैं क्योंकि (रससिद्धे) दारिद्र्य तथा व्याधि वगैरहको दूर करनेकी शक्तिसे युक्त पारेको सिद्ध करनेवाले पुरुषके (प्रसेदुषि) प्रसन्न होने पर (दलादिसिद्धान्) साररहित और कृत्रिम सुवर्णादिक द्रव्योंके बनानेमें प्रसिद्ध पुरुषोंको (कः अन्वेति) कौन पुरुष अनुगमन करेगा—कौन पुरुष चाहेगा ?

भावार्थ—जो पारदभस्म मूलभूत सुवर्णादिसे तैयार नहीं कीगई है ऐसे कृत्रिम सुवर्ण आदिका नाम यहां 'दल' है। दलादिमें आदि पदसे वर्णकी उत्कृष्टता लेनी चाहिये। ऐसे कृत्रिम सुवर्णादि निर्मित पारद भस्ममें प्रसिद्ध अथवा ऐसे कृत्रिम सुवर्णादि द्वारा प्रसिद्ध अर्थात् नकली पारद भस्ममें प्रसिद्ध लोगोंका, असली पारदमें प्रसिद्धि प्राप्तके सामने कौन अनुवर्तन करता है ? कोई नहीं। जैसे जबतक असली पारद भस्मकी प्राप्ति नहीं होती तबतक नकली पारदभस्मका लोग भले ही आदर करते हैं परन्तु असली मिलने पर नहीं कर सकते। वैसे ही सच्चे श्रद्धानके धारकोंके अभावमें कुश्रद्धानी, ज्ञानी, तपस्वी पात्र भले ही समझेजाते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टियोंके सामने तो वे अत्यन्त निष्प्रभ हैं, कारण कि पात्रताके लिये असली कारण श्रद्धा है, ज्ञान तप नहीं। श्रद्धाके होने पर यदि ज्ञान और तप और हो तो फिर पूछना ही क्या ?

यहां पारदका उदाहरण देनेका प्रयोजन यह मालूम पडता है कि पारदभस्म वैद्योंके लिये बडे महत्वकी है। असली पारदकी भस्म जिनके पास है उनके सामने नकली पारदवालोंको जैसे कोई नहीं पूछता, ठीक वैसे सच्चे जैन पात्रोंके सामने नकली कोई नहीं पूछता।

नामादि निक्षेपसे जैनके भी चार भेद होते हैं, उनमें यथोत्तर पात्र विशेषता बताते हैं:—

नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायतेतराम्।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः॥ ५४॥

अन्वयार्थ—(नामतः) नामसे तथा (स्थापनातः अपि) स्थापनासे भी (जैनः) (पात्रायतेतरां) अजैन पात्रोंकी अपेक्षा विशेष रूपसे पात्रकी तरह आचरण करता है और (द्रव्यतः) द्रव्यसे (सः) वह जैन (धन्यैः) पुण्यात्मा जीवोंको (तु) तथा (भावतः) भावसे वह जैन (महात्मभिः) महात्माओंको (लभ्यः) प्राप्त होता है।

भावार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे जैनत्व गुणधारी जैन चार प्रकारके हैं। जैन इस संज्ञाके धारक जैन नाम जैन हैं। यह वही जैन है इस प्रकारकी कल्पनावाले जैन स्थापना जैन हैं। और जिनको आगे, उक्त जैनत्व गुण अर्थात् जीवादि पदार्थका सच्चा श्रद्धान

होनेवाला है वे द्रव्य जैन हैं तथा सम्यग्दर्शन अवस्थाको प्राप्त जैन भाव जैन हैं। अजैन पात्रोंकी अपेक्षा नाम व स्थापनासे जैन अधिक पात्रताधारक हैं। कारण यहां 'पात्रायते' क्रियाका यह अर्थ है कि वे सम्यक्त्व सहचारी पुण्यके आश्रवका कारण होनेसे सुपात्रके समान हैं। द्रव्यजैन पात्र जिनको मिल सकता है वे धन्य हैं तथा भाव जैन पात्र जिन्हें मिल सकता है वे महात्मा हैं। इस पद्यसे जैनके प्रति अत्यन्त आदरणीय भाव व्यक्त किया है।

अब जैनपर निष्कपट प्रेम करनेवालेको अभ्युदय तथा मोक्षसुख भी मिलता है यह बतलाते हैं—

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन्निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानाम्।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरहप्तस्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(प्रतीतजैनत्वगुणे) प्रसिद्ध है जैनत्व गुण जिसका ऐसे पुरुषमें (निर्व्याज) कपट रहित होकर (अनुरज्यन्) अनुराग करनेवाला और (आसंसृति) संसारपर्यंत (तद्गुणानां) प्रसिद्ध जैनत्व गुणवाले पुरुषोंके (धुरि) अग्रभागमें (स्फुरन्) शोभायमान होनेवाला ('गृही') गृहस्थ (अहप्तः) मदरहित होता हुआ (अभ्युदयैः) ऐश्वर्यादिकके द्वारा (तृप्तः) सन्तुष्ट हो करके (त्रिलोकीतिलकत्वं) तीनों लोकोंके तिलकपनेको—मोक्षपदको (एति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैनोंके प्रति, जो सच्चे भाव उनके गुणोंमें अनुराग भाव निश्चलवृत्तिसे करता है वह जबतक संसारमें रहता है तबतक निर्मद होकर संसारगत ऐश्वर्योंसे तृप्त होता हुआ अर्थात् जैनोंमें भव भव अग्रणी होकर मुक्तिको प्राप्त करता है।

अब—कन्यादिकका दान प्रथमतः गृहस्थाचार्यको अथवा उसके अभावमें मध्यम पात्र श्रावकको देना चाहिये। यह बतलाते हैं:—

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे।
कन्याभूहेमहस्त्यश्व-रथरत्नादि निर्वपेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—('गृही') गृहस्थ (सधर्मणे) अपने समान है धर्म जिसका ऐसे (निस्तार-कोत्तमाय) गृहस्थाचार्यके लिये (अथ) अथवा उसके अभावमें (मध्यमाय) मध्यम गृहस्थके लिये (कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि) कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न, और मकानादिक पदार्थोंको (निर्वपेत्) देवे।

भावार्थ—जिनके क्रिया मंत्र व्रतादिक अपने समान हैं उनको साधर्मी कहते हैं। उन-मेंसे जो प्रधान हैं उनको कन्या और उसके साथ दिये जानेवाले दहेजमें भूमि, सोना, हाथी, घोड़े देने चाहिये। यदि उत्तम पात्र न मिल सकता हो तो उक्त गुणविशिष्ट मध्यमके लिये उक्त चीजें अर्पण करनी चाहिये। यहां 'अथ' शब्द पक्षान्तरसूचक व अधिकार वाचक है। उसका अर्थ यह है कि गृहस्थ अधिक गुणी हो तो भी मुनिकी अपेक्षा वह मध्यम है। इससे यहां यह अर्थ निक-

कहा है कि "नामतः स्थापनातोऽपि" इत्यादि जो वर्णन किया गया है वह जघन्य समदत्ति है। यह कन्यादानादिक मध्यम समदत्ति है।

अब—साधर्मी बांधवोंके लिए कन्यादि दान करनेका हेतु बतलाते हैं:—

आधानादिक्रियामन्त्र-व्रताद्यच्छेदवाञ्छया।
प्रदेयानि सधर्मभ्यः कन्यादीनि यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—(आधानादिक्रियामन्त्र-व्रताद्यच्छेदवाञ्छया) गर्भाधानादिक क्रियाओंके, तत्सम्बन्धी मंत्रोंके तथा व्रत नियमादिकोंके नष्ट नहीं होनेकी आकांक्षासे ('गृहिणा') गृहस्थको (सधर्मभ्यः) साधर्मी भाइयोंके लिये (यथोचितं) यथायोग्य (कन्यादीनि) कन्यादिक पदार्थोंको (प्रदेयानि) देना चाहिये।

भावार्थ—गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति, क्रियाएं जिनका वर्णन आदिपुराणमें है, और उन क्रियाओंके समय जो मंत्र प्रयुक्त हैं वे मंत्र अथवा अपराजित मंत्र=णमोकार मंत्र अष्टमूलगुण तथा आदि पदसे देवपूजा पात्रदानादि इतर सत्कर्मकी निरन्तर प्रवृत्ति चलती रहे इस हेतुसे कन्यादि साधर्मीको देना चाहिये।

अब—कन्यादानविधि तथा उसके फलको बताते हैं—

निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैर्गुणैः
स्फूर्जन्तं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यञ्जसा।
दम्पत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात्त्रैवर्गिकेष्वग्रणी-
र्भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(यः 'गृही') जो गृहस्थ, (सुनिमित्तसूचितशिवां) उत्तम लक्षणोंके द्वारा सूचित किया है अपना और पतिका कल्याण जिसने ऐसी (निर्दोषां) दोष रहित (कन्यां) कन्याका (वरार्हैः) वरके योग्य (गुणैः) गुणोंके द्वारा (स्फूर्जन्तं) शोभायमान साधर्मी पुरुषके साथ (धर्म्यविधिना) धार्मिक विधिसे (परिणाय्य) विवाह कराकरके (अञ्जसा) श्रद्धापूर्वक (सत्करोति) यथायोग्य वस्त्रादिके द्वारा आदर सत्कार करता है (सः) वह गृहस्थ (तयोः दम्पत्योः) उन दोनों स्त्री पुरुषोंके (त्रिवर्गघटनात्) धर्म अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थोंको

१—ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा-वैवाहिकी क्रिया। वैवाहिके कुले कन्या-मुचितां परिणेष्यतः ॥
सिद्धार्चनविधिं सम्यग्नि-र्वर्त्य द्विजसत्तमाः। कृताग्नित्रयसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षिकां क्रियाम् ॥
पुण्याश्रमे कचित्सिद्ध-प्रतिमाभिमुखं तयोः। दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥
वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम्। ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥
पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम्। आसप्ताहं चरेद्ब्रह्म-व्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च। स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥

सम्पादन करनेसे (त्रैवर्गिकेषु) धर्म अर्थ और कामको पालन करनेवाले गृहस्थोंमें (अग्रणीः) प्रधान–मुख्य (भूत्वा) होकरके (सत्समयास्तमोहमहिमा) जिनागमके द्वारा नष्ट कर दी है मोहकी महिमा जिसने ऐसा होता हुआ (परेऽपि) परलोक सम्बन्धी भी (काय) अवश्य करनेयोग्य कार्योंमें (ऊर्जति) समर्थ होता है।

विमुक्तकंकणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकम्। अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्। शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥

अर्थ—तदन्तर अर्थात् व्रतावरण क्रिया समाप्त होनेके पीछे पिताकी आज्ञानुसार विवाहके योग्य कुलमें जन्मी हुई कन्याको विवाह कर स्वीकार करनेवालेको वैवाहिकी क्रिया कही है। उसकी विधि यह है कि प्रथम ही सिद्धार्चन-विधि अर्थात् विधिपूर्वक सिद्ध परमेष्ठीकी आराधना अच्छी तरह करे। पीछे गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि, और आहवनीय ऐसी तीन अग्नियोंको स्थापन कर विधिपूर्वक उनकी पूजा करे और विवाहकी समस्त क्रियायें इन अग्नियोंके समक्ष ही करे, [१–जो वेदी तीन कटनीकी बनाई जाती है उनमेंसे प्रथम द्वितीय तृतीय कटनीगत अग्निकी स्थापना इन तीन अग्नियोंसे कही जाती है।] किसी किसी पवित्र प्रदेशमें सिद्ध प्रतिमाके सन्मुख अथवा सिद्धप्रतिमा न होनेपर सिद्धयंत्रके सन्मुख उन दोनों वर-कन्याओंके पाणिग्रहणका उत्सव बड़े ठाठबाठसे करे। वधू और वर दोनों ही वेदीपर सिद्ध की गई तीन, दो, अथवा एक ही अग्निकी प्रदक्षिणा दे और फिर आसन बदलकर बैठ जाय अर्थात् वरके आसनपर वधू और वधूके आसनपर वर बैठे। जिनको पाणिग्रहण दीक्षा दे दी गई है अर्थात् जिनकी विवाहविधि समाप्त होगई है ऐसे वे दोनों ही वर-वधू देव और अग्निके समक्ष सात दिनतक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करें। तदनन्तर उनके विहार करनेयोग्य किसी भूमिका (किसी देश वा नगरका) देशाटन कराकर तथा किसी तीर्थस्थानके दर्शन कराकर उन दोनों वर-वधुओंको बड़ी विभूतिके साथ घरमें प्रवेश करावें। घर जाकर वे दोनों ही अपना कंकण छोड़े और भोगोपभोग सामग्रीसे शोभायमान ऐसे घरमें अपनी शय्यापर शयन करें। उन दोनोंको सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ऋतुकालमें ही परस्पर कामसेवन करना चाहिये, अन्यकालमें नहीं। शक्ति और कायकी अपेक्षा रखनेवाला यह क्रम केवल समर्थ लोगोंके लिये कहा है। असमर्थ लोगोंके लिये इससे उलटा समझना चाहिये। अर्थात् असमर्थ लोग यथाशक्ति ब्रह्मचर्यका पालन करें।

१–द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः। लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्। तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्ति-हेतुधीस्तत्र दुर्लभा। संसारव्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथाऽऽगमः ॥

अर्थ—गृहस्थोंके लौकिक और पारलौकिक दो धर्म हैं, लोकाश्रित धर्मको लौकिक और आगमाश्रित धर्मको पारलौकिक धर्म कहते हैं। जैनोंके लिए जहां सम्यक्त्व और चारित्रकी हानि नहीं होती है वह सब लौकिक धर्म प्रमाण है। रत्नोंके समान स्वजातिसे ही वर्ण विशुद्ध है। केवल उनकी क्रियाओंके विनियोग विधि बतलानेके लिए आगममें विधि दिखाई है, उन दोनों धर्मोंसे भवके भ्रमणके छुटानेमें कारण जो विधि वही दुर्लभ है, और सांसारिक व्यवहार तो स्वतः-सिद्ध है, उसको आगम विधानकी क्या जरूरत है। उसमें आगमकी विधिका बताना एक प्रकारसे वृथा है।

भावार्थ—' निर्दोषां '=इस पदका प्रकरणवश सामुद्रिक शास्त्रमें प्रतिपादित दोषोंसे रहित यह अर्थ है। सुनिमितसूचितशिवां=इस पदका सामुद्रिक ज्योतिष, दूत आदि निमित्तोंसे अर्थात् भविष्यतकालीन अवस्थाके सूचक कारणोंसे, दर्शाया है वर आदिको कल्याण जिसने ऐसी कन्याको यह अर्थ है। कुल, शील, सनाथपना, विद्या, धन, सौरूप्य, योग्यवय और अर्थित्व इन गुणोंसे युक्त बलको धर्मविधिसे विवाह कर श्रद्धामें तत्पर होकर जो अपने साधर्मीका सत्कार करता है वह सत्समयसे चारित्रमोहको मन्द करके, वरवधूको धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थका दाता होनेसे उसके फलस्वरूप गृहस्थोंमें श्रेष्ठ होकर इस और परलोकके आवश्यक कृत्यमें समर्थ होता है। 'परेऽपि' शब्दमें अपि शब्द आया है उससे इहलोकका भी ग्रहण होता है। 'सत्समयाहतमोहमहिमा' यहां सत्समय शब्दके दो अर्थ ग्रहण किये हैं-एक जिनशासन, दूसरा सत्संगति। अतः आर्ष पद्धतिसे विवाह करनेके कारण मंद किया है चारित्रमोह कर्म जिसने ऐसा अर्थ होकर, अथवा सत्संगतिसे मंद किया है चारित्रमोहकी महिमाको जिसने ऐसा अर्थ होकर यहां दो अर्थ लगाना चाहिए। धर्म्यविवाह, आर्ष, प्राजापत्य, ब्राह्म, देवके भेदसे ४ प्रकारके हैं। अब आर्ष विवाहकी पद्धति नीचेके पद्यमें बताई है।

साधर्मीको सत्कन्या देनेसे पुण्यलाभ होता है—

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ—(सत्कन्यां) उत्तम कन्याको (ददता) देनेवाले ('सगृहिणा') साधर्मी गृहस्थने ('साधर्मिकाय') साधर्मी गृहस्थके लिये (सत्रिवर्गः) त्रिवर्ग सहित (गृहाश्रमः) गृह (दत्तः) दिया है (हि) क्योंकि ('विद्वांसः') विद्वानलोग (गृहिणीं) स्त्रीको ही (गृहं) घर (आहुः) कहते हैं किंतु (कुड्यकटसंहतिं) दीवाल और वांसोंके समूहको (गृहं न आहुः) घर नहीं कहते हैं।

भावार्थ—तपके स्थानको आश्रम कहते हैं। घर रूपी तपस्थानको गृहस्थाश्रम कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामका मूल स्त्री है। इसलिये जिसने साधर्मीको कन्यादान किया उसने उसे गृहाश्रम दिया। कारण कुलपत्नीका नाम घर है। दीवालें छप्पर आदिका नाम असली घर नहीं है। योग्य स्त्रीके कारण स्वदार संतोषादि संयम पलते हैं, देवपूजा बनती है, सत्पात्रको दानदेते आता है। ये तीन प्रकारके धर्म गृहस्थको योग्य स्त्रीके कारण बनते हैं। इसलिये धर्म पुरुषार्थकी सिद्धि होती है। योग्य स्त्रीके कारण वेश्यादि व्यसनसे व्यावृत्ति होती है। अतः धनकी रक्षा होती है। अथवा स्त्रीके कारण एक प्रकार आकुलता अभाव होता है। इसलिये गृहस्थ निराकुल होकर धन कमाता है, रखता और बढाता है। और इसतरह अपने दैवानुसार सुवर्णादि संपत्तिका अधिकारी होता

है और संकल्प-रमणीय प्रीतिसंभोगसे शोभावाली जो रुचिर अभिलाषा है उसीको काम कहते हैं। इन तीनों सहित कन्याको देनेवालोंने गृहस्थाश्रम दिया यह सिद्ध होता है।

श्रावकके लिए, आर्षविवाह करना लोकद्वयमें अभिमत फलका देनेवाला है। इसलिए श्रावकको योग्य सत्कन्याका पाणिग्रहण करना चाहिए।

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम्।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन्सत्कन्यां यत्नतो वहेत्॥ ६०॥

अन्वयार्थ—(धर्मसन्ततिं) धर्मके लिये सन्तानको अथवा धर्मकी परम्पराके नष्ट नहीं होनेको, (अक्लिष्टां) विघ्न रहित (रतिं) रतिको-स्त्री सम्भोगको, (वृत्तकुलोन्नतिं) चारित्र तथा वंशकी उन्नतिको (च) और (देवादिसत्कृतिं) देव द्विज तथा अतिथि वगैरहके आदर सत्कारको (इच्छन्) चाहनेवाला ('श्रावकः') पाक्षिक श्रावक (यत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (सत्कन्यां) उत्तम कन्याको (वहेत्) स्वीकार करे।

भावार्थ—धर्म, सन्तान, निर्विघ्न भोगविलास, आचार और कुलकी उन्नति तथा देव, द्विज, अतिथि और बांधवोंका सत्कार, विना स्त्रीके नहीं बनता। इसलिये इन बातोंके चाहनेवालोंको समीचीन कन्या, व सज्जनोंकी कन्याके साथ विवाह करना चाहिए। धर्मकी सन्तति अथवा धर्म पुत्रपरम्परा ये दो अर्थ यह धर्म सन्तति शब्दके हैं। कारण संतान पैदा न होगी तो धर्मको कौन पालेगा? अतः धर्मविवाह करना चाहिए। अथवा वंशपरम्परा चलनेके लिये विवाहकी जरूरत है। अतः कामवासनाकी पूर्ति धर्माविरुद्ध चाहनेवालोंको, अतिथिसत्कारादि चाहनेवालोंको, आचार-कुलकी उन्नति चाहनेवालोंको योग्य कन्यासे विवाह करना चाहिए।

कलत्रके अभावमें अथवा कुमार्याके सद्भावमें भूमि वगैरह देना कुछ भी उपकार करनेवाला नहीं है। इसी भावको दर्शानेके लिये सुकन्या दान देनेका उपदेश अर्थांतर न्याससे उदाहरण द्वारा देते हैं—

सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा।
कीटैर्दन्दश्यमानेऽन्तः कोऽम्बुसेकाद् द्रुमे गुणः॥ ६१॥

अन्वयार्थ—(सुकलत्रं विना) सद्गृहिणीके विना (पात्रे) पात्रमें (भूहेमादिव्ययः) भूमि तथा सुवर्ण वगैरहका दान देना (वृथा) व्यर्थ है क्योंकि (अन्तः) भीतरमें (कीटैः) कीड़ोंके द्वारा (दंदश्यमाने) बुरी तरहसे खोये गये (द्रुमे) वृक्षमें (अम्बुसेकात्) जलके सींचनेसे (कः गुणः) कौनसा लाभ है?

भावार्थ—कन्याके साथ दहेजमें भू हेमादि देना चाहिए ऐसा पहले कह आये हैं। यदि कन्यादान न देकर केवल साधर्मीको भू हेमादि दिया जावे तो कैसा है? ऐसा प्रश्न होनेपर ग्रंथकार

कहते हैं कि जैसे जिस वृक्षमें घुन लगा है उसमें पानी सींचना वृथा है। ठीक वैसे ही विना कलत्रके साधर्मीको और दान देना वृथा है।

अब–विषयोंके उपभोगसे ही चारित्र मोहके तीव्र उदयका प्रतीकार करना शक्य है। अतः अपने समान, साधर्मीको भी विषयोंके उपभोगके बाद निवृत्त होनेकी प्रेरणाका भाव बताते हैं:—

विषयेषु सुखभ्रांतिं कर्माभिमुखपाकजाम्।
छित्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान्स्ववत्परम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—('सद्गृही') सद्गृहस्थ (कर्माभिमुखपाकजां) कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली (विषयेषु) विषयोंमें (सुखभ्रान्तिं) सुखकी भ्रान्तिको अर्थात् विषयोंके सेवन करनेमें सुख है इस प्रकारके भ्रमको (तदुपभोगेन) उन विषयोंके सेवनसे (छित्वा) नाश करके (स्ववत्) अपनी तरह (परं) दूसरेसे भी (तान्) उन विषयोंको (त्याजयेत्) छुड़वावे।

भावार्थ—कर्मके अभिमुख=निज फल देनेमें तत्पर जो चारित्रमोहका रस और इसीके कारण साधर्मी सज्जनोंकी स्त्री आदिके भोगमें सुखका भ्रम हो रहा है। अतः कन्यादान देकर साधर्मी उसका अनुभव करे और फिर हमारे समान वह उसके स्वरूपको छोड़कर त्यागे यह भी कन्यादानका प्रयोजन है। चारित्रमोहके उदयसे स्त्री पुत्रादिकमें सुखका भ्रम हो रहा है यह बात विना उपभोगके समझमें नहीं आती है। इसलिए साधर्मीको कन्यादान देना चाहिए और उसके उपभोग द्वारा वह भी अपने समान पुत्र कलत्रादिकसे विरक्त होवे, यह भी सत्कन्यादानका एक हेतु है।

अब–कलिकालके प्रभावसे जनताको आचारमें शिथिलाचार देखकर दान देनेके लिए नफरत करनेवाले दाताओंके चित्तके समाधानके लिए उपदेश देते हैं।

दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च।
बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समयिकान्क्षिपेत् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(प्राणैः सह) प्राणोंके साथ (अवश्यं विनाशि) नियमसे नाश होनेवाले (च) और (दैवात्) पुण्यके उदयसे (लब्धं) प्राप्त हुए (धनं) धनको (बहुधा) नाना प्रकारसे (विनियुञ्जानः) विनियोग करनेवाला–लगानेवाला (सुधीः) कल्याणका इच्छुक गृहस्थ (समयिकान्) साधर्मी जनोंका क्या (क्षिपेत्) तिरस्कार करेगा ?

भावार्थ—'समयिकान् क्षिपेत्' यहां सामयिक–साधर्मियोंको क्या छोड़ देगा ? इस प्रकारके अर्थमें 'काकु' के अर्थमें क्षिपेत्का ग्रहण किया है, जिससे 'न छोड़ेगा' ऐसा अर्थ ध्वनित होजाता है। प्राणोंके साथ धन भी जरूर छूटनेवाला है। इसलिये विचारवान श्रावक नानाप्रकारसे उस धनका विनियोग करता है, सो क्या वह धनके विनियोगके समय अपने साधर्मीकी सहायताका ख्याल नहीं रखेगा ? जरूर रखेगा।

तो फिर क्या करना चाहिये। अर्थात् आधुनिक पात्रोंमें पूर्व पात्रोंकी स्थापना करके दान देना चाहिये, नुक्ताचीनी नहीं करना चाहिये।

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम्॥ ६४॥

अन्वयार्थ— ('सद्गृही') सद्गृहस्थ (प्रतिमासु जिनान् इव) प्रतिमाओंमें स्थापित किये गए अर्हन्तोंकी तरह (ऐदंयुगीनेषु) वर्तमानकालके मुनियोंमें (पूर्वमुनीन्) पूर्वकालके मुनियोंको (विन्यस्य) नामादिक विधिके द्वारा स्थापित करके (भक्त्या) भक्ति पूर्वक उनकी (अर्चेत्) पूजा करे क्योंकि (अतिचर्चिनां) अत्यन्त क्षेमक्षेम करनेवालोंके (कुतः) कहांसे (श्रेयः) पुण्य ('भवति') प्राप्त होसक्ता है?[1]

भावार्थ—जैसे प्रतिमाओंमें जिनेन्द्रकी स्थापना करके पूजा की जाती है, उसी प्रकार आधुनिक मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे पूर्व मुनिके समान नहीं मिलते। इसलिये उनमें भी पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनकी पूजा करनी चाहिये। कारण अत्यधिक नुक्ताचीनी करनेवालोंको कल्याणकी प्राप्ति कहांसे होगी?

१-भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्। ते संतः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति॥१॥
सर्वारंभप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः। बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा॥२॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः। तथा तथाऽधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः॥३॥
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते। एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमं॥४॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्। नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥५॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः। भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु॥ ६॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते। पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव॥ ७॥
काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥ ८॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्। तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः॥९॥

अर्थ—भोजन मात्र देनेके लिये तपस्वियोंकी परीक्षा करनेसे क्या लाभ? वे ठीक मुनि रहो वा न रहो, दानसे तो गृही भी शुद्ध होता है। हर प्रकारके आरम्भमें गृहस्थोंकी प्रवृत्ति होरही है और उसमें धनका भी व्यय होता रहता है, इसलिये अत्यधिक चर्चा गृहस्थोंको नहीं करना चाहिये। जैसे २ तप ज्ञान आदि गुणसे मुनि अधिक २ बढ़े चढ़े होंगे उतने ही अधिकके पूज्य होंगे। दैवसे मिला धन अपने जैन सामयिकको अर्पण करना चाहिये। आगमानुसार कोई एकाध मुनि मिले अथवा न मिले, न्यून अधिक योग्यतावाले तो लोग रहते ही हैं यह आगमसम्मत बात है। जैसे एक खंभेपर घर नहीं टिकता, ठीक वैसे ही अकेले छोटे वा बड़ेके ऊपर लोकस्थिति निर्भर नहीं रह सकती। जैसे जिन प्रतिमाओंकी स्थापनासे पुण्यार्जन होता है वैसे ही कलिकालका समय, चलायमान चित्त और अन्नकीट यह हीन संहननका देह, देखकर यही आश्चर्य है जो आज नग्नरूपधारी व्यक्ति मिलते हैं। जैसे लेपादिसे निर्मित जिनबिम्ब पूज्य हैं वैसे ही पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके आधुनिक मुनि भी पूज्य हैं।

उसीका पुनः समर्थन करते हैं । पुण्य पाप भावसे होते हैं अतः शासन प्रेमवश मनको विकारोंसे बचाते रहना चाहिये ।

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।
तं दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि (शुभः) शुभ (भावः) परिणाम (पुण्याय) पुण्याश्रवके लिये (च) और (अशुभः भावः) अशुभ परिणाम (पापाय) पापाश्रवके लिये (मतः) माने गये हैं (अतः) इसलिये (धीरः) धीर पुरुष (समयभक्तितः) जिनागममें भक्ति रख करके (दुष्यंतं) विकारको प्राप्त होनेवाले (तं) उन भावोंको (रक्षेत्) निवारण करे ।

भावार्थ—इस कलिकालमें जिनशासनकी भक्तिसे जिनरूपको धारण करनेवाले जिनके समान मान्य है ऐसी धर्मानुरागी बुद्धिसे चित्तमें विकार न लाकर धीर बनो । कारण भाव ही पुण्य और पापका कारण है अतः उसे मत बिगडने दो ।

ज्ञान तप, और दोनों मिलकर तथा ज्ञानी, तपस्वी, तथा ज्ञानी और तपस्वी भी उत्तरोत्तर पृथक् २ व समुदित रीतिसे पूज्य हैं यह बताते हैं—

ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः ।
द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात्तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(तपोऽङ्गत्वात्) अनशनादिक तपोंका कारण होनेसे (ज्ञानं) ज्ञान (अर्च्यं) पूज्य है तथा (तत्परत्वतः) ज्ञानकी अतिशयताका—वृद्धिका कारण होनेसे (तपः) तप (अर्च्यं) पूज्य है और (शिवाङ्गत्वात्) मोक्षके कारण होनेसे (द्वयं) ज्ञान तथा तप दोनों (अर्च्यं) पूज्य हैं और (यथागुणं) अपने २ गुणोंके अनुसार (तद्वन्तः) ज्ञानसे युक्त, तपसे युक्त तथा ज्ञान और तप दोनोंसे युक्त पुरुष भी (अर्च्याः) पूज्य हैं—विशेष रूपसे पूजा करनेके योग्य हैं ।

भावार्थ—साधकस्य ('समयिक साधक' इस पद्यमें वर्णित साधकस्य) प्रतिष्ठा यात्रादिके उपयोगमें आनेवाला ज्ञान अनशन आदि तपका कारण होनेसे पूज्य हैं और तप ज्ञानके माहात्म्यका बढानेवाला होनेसे पूज्य है तथा मोक्षके कारण होनेसे दोनों पूज्य हैं अतः ज्ञानी, तपस्वी यथायोग्य उत्तरोत्तर अधिक पूज्य हैं ।

मिथ्यादृष्टिको भी कुपात्र और सुपात्रमें दिए हुए आहारदानके फलको बताकर, सम्यग्दृष्टिको आहारदानका विशेष फल होता है यह बताते हैं तथा अपात्रदानकी व्यर्थता भी बताते हैं—

न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्त्वावशेषाद्वृषा—
त्तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुहग्देवो यथास्वं भवेत् ।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम—
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(तादृक्पात्रवितीर्णमुक्तिः) जघन्य, मध्यम, उत्तम पात्रों तथा कुपात्रोंके लिये दिया है आहारदान जिसने ऐसा (असुदृक्) मिथ्यादृष्टि जीव (न्यग्मध्योत्तम कुत्स्य-भोगजगतीभुक्तावशेषात्) जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमि और कुभोगभूमिमें इष्ट विषयोंके भोगनेसे बाकी बचे हुये (वृषात्) पुण्यसे (यथास्वं) यथायोग्य (देवः) देव (भवेत्) होता है (तु) तथा (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी जीव (सुपात्रदान सुकृतोद्रेकात्) सुपात्रोंके लिये दान देनेसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यके उदयसे (सुभुक्तोत्तमस्वर्भूमर्त्यपदः) यथेष्ट रूपसे महर्द्धिक कल्प-वासी देवोंके और चक्रवर्त्यादिकके पदोंको भोग करके (शिवपदं) मोक्षपदको (अश्नुते) प्राप्त होता है (तु) किन्तु (अपात्रे) अपात्रमें (व्ययः) दान देना (व्यर्थः) विपरीत फलको देनेवाला अथवा निष्फल ('भवेत्') होता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी जीव भी जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्र और कुपात्रके दानसे यथायोग्य जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि तथा कुभोगभूमिको प्राप्त करता है और भोगभूमिज जीव निय-

---

१–उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥
उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया। अविरदसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वम्॥

(इनका अर्थ भावार्थमें आचुका है)

मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु। दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु।
कारुण्यादथवाचित्यात्तेषां किंचिद्दिशन्नपि। दिशेदुद्धृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत्॥
सत्कारादिविधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत्। यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात्॥
पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्वा समाधिना। अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः॥
ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः। पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये॥
अपात्रदानतः किंचिन्न फलं पापतः परम्। लभ्यन्ते हि फलं खेदो वालुकापुंजपेषणे॥
अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्। साधुं विहाय चौराय तदर्पयति स स्फुटम्॥

अर्थः—जैसे सांपको दूध पिलाना दोषका कारण है वैसे ही मिथ्यादृष्टी परन्तु चारित्रवानसे दिखने-वालोंको भी दान देना दोषाधायक है। औचित्यकी रक्षा अथवा करुणा बुद्धिसे उन्हें दान देनेका अवसर हो तो उठाकर देना। घरमें बुलाकर पात्रके समान आदरसे नहीं देना चाहिये, कारण जैसे विषभरे भोजनके संसर्गसे पानी दूषित होता है वैसे कुपात्रके प्रति भक्ति भाव दिखानेसे दर्शन दूषित होता है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी समाधि सहित मरणकर १६ वें स्वर्गमें उत्पन्न होसकते हैं और वहां ये जिनभक्त अपने यहां आनेके कारण सुपात्र दानको समझकर स्वयं सबसे प्रथम अपने धर्मकी वृद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करते हैं। जैसे वालुका पीसनेमें सिवाय खेदके कुछ फल नहीं है वैसे ही अपात्रको दान देनेसे सिवाय पापके और कुछ फल नहीं है। जो व्यक्ति उत्तम पात्रको छोड़कर अपात्रको दान देता है वह सज्जनको छोड़कर चोरको धन अर्पण करता है, यह स्पष्ट है।

मसे देव होते हैं। इस कारण भवनत्रिकमें जन्म लेता है तथा मानुषोत्तर पर्वतके बाहरके तिर्यंच होकर भोग भोगते हैं। म्लेच्छ राजाओंके उत्तम अश्व आदि होकर सुख भोगते हैं। इन राजाओंकी प्रेमिका बनकर सुख भोगते हैं यह सब कुपात्रदानका फल है और सम्यग्दृष्टि तो उत्तम भोगभूमिके सुख भोगकर शेष रहे दानजनित पुण्योदयसे कल्पवासी देव होता है और वहांसे चयकर उत्कृष्ट मनुष्य पदवी पाकर शिवफलका भोग करता है। परन्तु अपात्रमें दिया हुआ दान व्यर्थ है। मुनि, श्रावक, अविरत सम्यग्दृष्टि तथा सम्यक्त्व रहित द्रव्यलिंगी मुनि, श्रावकका नाम क्रमसे उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र और कुपात्र हैं और जो न तो भावमे मुनि, श्रावक व सम्यग्दृष्टि हैं और न द्रव्यसे ही हैं वे सब अपात्र हैं। व्यर्थ शब्दके दो अर्थ हैं (१) निष्फल (२) विपरीत फल।

अब—पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिमें जन्मसे लेकर ७ सप्ताहमें होनेवाली अवस्थाओंको बताते हैं:-

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान्स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः।
कौ रिङ्गन्ति ततः पदैः कलगिरो यान्तिस्खलद्भिस्ततः॥
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गताः।
सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः॥ ६८॥

अन्वयार्थ—(आर्याः) भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य (उत्तानशयाः) ऊपरको मुख करके सोते हुए (सप्त) सात (दिवसान्) दिन तक अर्थात् जन्मके अनन्तर एक सप्ताह तक (स्वाङ्गुष्ठं) अपने अँगूठेको (लिहन्ति) चूसते हैं (ततः) इसके अनन्तर ('सप्त दिवसान्') सात दिनतक (कौ) पृथ्वीपर (रिङ्गन्ति) हाथों तथा घुटनोंके बलपर रेंगते हैं (ततः) इसके अनन्तर ('सप्त दिवसान्') सात दिनतक (कलगिरः) मनोहर वचनोंको बोलते हुए (स्खलद्भिः) स्खलित अर्थात् इधर उधर गिरनेवाले (पदैः) पैरोंके द्वारा (यान्ति) गमन करते हैं (ततः) इसके अनन्तर (सप्ताहेन) एक सप्ताहमें (स्थेयोभिः) अत्यंत स्थिर ('पदैः') पैरोंसे ('कौ') पृथ्वीपर ('यान्ति') गमन करने लगते हैं (ततः) इसके अनन्तर ('सप्ताहेन') एक सप्ताहमें (कलागुणभृतः) गीत नृत्यादिक कलाओं और लावण्यादिक गुणोंको धारण करनेवाले (भवन्ति) होजाते हैं (ततः) इसके अनन्तर ('सप्ताहेन') एक सप्ताहमें (तारुण्यभोगोद्गताः) नवयौवन अवस्थावाले तथा इष्ट विषयोंको सेवन करनेवाले ('भवन्ति') होजाते हैं (च) और (ततः) इसके अनन्तर ('सप्ताहेन') एक सप्ताहमें (सुदृगादाने अपि) सम्यग्दर्शनके ग्रहण करनेमें भी (योग्याः 'भवन्ति') योग्य होजाते हैं।

अब—मुनियोंको क्या २ देना चाहिये—

तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः।
मुनिभ्योऽन्नौषधावास-पुस्तकादीनि कल्पयेत्॥ ६९॥

अन्वयार्थ—('सद्गृही') सद्गृहस्थ (मुनिभ्यो) मुनियोंके लिये (निरवद्यानि) दोषोंसे रहित और (तपःश्रुतोपयोगीनि) तप तथा श्रुतज्ञानका उपकार करनेवाले (अन्नौषधावासपुस्तकादीनि) आहार, औषध, वसतिका और शास्त्रादिक पदार्थोंको (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (कल्पयेत्) देवे।

भावार्थ—अनगारधर्मामृत पिंडशुद्धि अधिकारमें निरूपित उद्गम, उत्पादन आदि आहारके दोषोंसे रहित और साधुके तप और स्वाध्यायके उपयोगमें सहायक होनेवाले अन्न औषध आवास, शास्त्र तथा यहां आदि शब्दसे पीछी कमण्डल आदि मुनियोंके लिये देना चाहिये।

अब—आहारादि दानका फल बताते हैं—

भोगित्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदाना-
च्छ्रीषेणो रुग्निषेधाद्धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिम्।
प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात्सूकरः स्वर्गमग्र्यं
कौण्डेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(संयते) मुनियोंके लिए (अन्नप्रदानात्) विधिपूर्वक आहारदान देनेसे (श्रीषेणः) श्रीषेण नामक राजा (भोगीत्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदं) उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न होना है आदिमें और शांतिनाथ तीर्थंकरके पदको पाना है अन्तमें जिसके ऐसे (उदयं) अभ्युदयको (प्राप) प्राप्त हुए तथा (रुग्निषेधात्) व्याधियोंको दूर करनेवाले औषध दानको देनेसे (धनपतितनया) वृषभसेना नामक धनपति सेठकी पुत्री (सर्वौषधर्द्धिं) सर्वौषध नामक ऋद्धिको (प्राप) प्राप्त हुई और (प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात्) पूर्व तथा इस जन्ममें मुनियोंके निवास व उनकी रक्षा करनेके विषयमें शुभ परिणामोंसे (सूकरः) सूकर (अग्र्यं स्वर्गं) पहले सौधर्म स्वर्गको ('प्राप') प्राप्त हुआ (अपि) और (पुस्तकार्चा वितरणविधिना) शास्त्रोंकी विधिपूर्वक पूजा करने तथा उनका दान देनेसे (कौण्डेशः) कौण्डेशनामक मुनि (आगमाम्भोधिपारं) द्वादशांग श्रुतज्ञानके पारको (प्राप) प्राप्त हुए।

भावार्थ—श्रीषेण नामा राजाने श्री आदित्यगति और अरिंजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनियोंको आहारदान करनेसे भोगभूमिसे लेकर अन्तमें शांतिनाथ तीर्थंकर भगवानकी पर्यायतकके अभ्युदयोंकी प्राप्ति की है। धनपति सेठकी पुत्री वृषभसेनाको मुनियोंके लिये औषध दानसे सर्वौषधी ऋद्धि प्राप्त हुई। शूकर पहले भवमें आवासदानके शुभ परिणामसे, अपने वर्तमान भवमें मुनिके निवासस्थानकी रक्षाके भावसे प्रथम स्वर्गको प्राप्त हुआ। गोविन्द नामके गोपालका जीव, कौंडेश नामके मुनि श्रुतकेवलऋद्धिको शास्त्रकी पूजा और दानके प्रतापसे प्राप्त हुए हैं।

अब—जिन धर्मकी परिपाटीकी रक्षाके लिए, यदि मुनियोंका अभाव हो तो उनकी उत्पत्तिके

लिए तथा यदि मुनियोंका सद्भाव हो तो उनमें गुणोंकी विशेषता के मग न करनेका उपदेश देते हैं—

जिनधर्मं जगद्बन्धु-मनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीञ्जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥ ७१॥

अन्वयार्थ—('सद्गृही') सद्गृहस्थ (अपत्यवत्) पुत्रकी तरह (जगद्बन्धुं) संसारके समस्त प्राणियोंका उपकार करनेवाले (जिनधर्मं) जिन धर्मकी (अनुबद्धुं) परम्पराको चलानेके लिए (यतीन्) मुनियोंको (जनयितुं) उत्पन्न करनेका (यस्येत्) प्रयत्न करे (तथा) और ('वर्तमानान् यतीन्') विद्यमान मुनियोंको (गुणैः) श्रुतज्ञानादिक गुणोंके द्वारा (उत्कर्षयितुं) उत्कृष्ट करनेके लिये ('यस्येत्') प्रयत्न करे।

भावार्थ—जगके सच्चे बन्धु जैन धर्मकी परम्परा चलानेके लिये यतियोंकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्न करो, तथा जो वर्तमान मुनि हैं उनमें श्रुतज्ञानादि वृद्धिके लिये प्रयत्न करो। जैसे अपने वंशकी परम्परा चलानेके लिये सन्तानकी उत्पत्ति और गुणी बनानेका प्रयत्न करते हैं।

अब—क्या करें, वर्तमानकालमें पुरुषोंमें गुण पैदा ही नहीं होते, उल्टे दुर्गुण बढ़ रहे हैं इसलिये प्रयत्न करना व्यर्थ है, इस प्रकारसे प्रयत्न करनेवालोंका जो मन गिर रहा है उसकी स्थिरताका उपदेश देते हैं—

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद्गुणद्युतौ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान्॥ ७२॥

अन्वयार्थ—(कलिदोषात्) पञ्चमकालके दोषसे (गुणद्युतौ असिद्धौ अपि) मुनियोंके, गुणोंके विकाशकी सिद्धि नहीं होनेपर भी ('गुणद्युतौ') उनको गुणोंके अतिशयसे ही शोभायमान करनेके विषयमें (यत्नवतः) प्रयत्न करनेवाले गृहस्थका (श्रेयः) कल्याण (अस्त्येव) होता ही है और (तत्सिद्धौ) मुनियोंके, गुणोंके विकाशकी सिद्धि होनेपर (महान) बड़ा भारी (स्वपरानुग्रहः) अपना तथा दूसरे जीवोंका उपकार ('भवति') होता है।

भावार्थ—"कलिदोषात्" इस वाक्यके 'कलि' शब्दके दो अर्थ हैं—एक पञ्चमकाल, और दूसरा पापकर्म। इनके दोषसे यदि गुणोंका द्योतन न होसके तो प्रयत्नके करनेवालोंको तो पुण्यबन्ध होगा ही। यदि कदाचित् गुणोंका द्योतन होगया तो वैयावृत्य करनेवाले और साधर्मीजन व साधारण जनताका महान उपकार होगा। सारांश—सच्चे त्यागीके कारण ही धर्मकी स्थिति रक्षा और वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इसलिये त्यागी संस्थाके निर्माण करने, गुणी बनानेका प्रयत्न सदैव करना चाहिये।

अब—अणुव्रत अथवा महाव्रत धारणकरनेवाली स्त्रियां भी धर्मपात्र हैं—अतः उनमें पात्रदान करनेका उपदेश देते हैं—

आर्यिकाः श्राविकाश्चापि सत्कुर्याद्गुणभूषणाः ।
चतुर्विधेऽपि संघे यत्फलत्युप्तमनल्पशः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—('सद्गृही') सद्गृहस्थ (गुणभूषणाः) ज्ञानादिक गुण ही है आभूषण जिनके ऐसी (आर्यिकाः) आर्यिकाओंका (च) और (श्राविकाः अपि) श्राविकाओंका भी (सत्कुर्यात) यथायोग्य विनयके द्वारा आदरसत्कार करे (यत) क्योंकि (चतुर्विधे संघे अपि) चार प्रकारके संघमें भी (उप्तं) विधिके अनुसार दिया गया आहारादिक दान (अनल्पशः) बहुत होकरके (फलति) इष्ट फलोंको देता है ।

भावार्थ—"श्राविकाश्चापि" में अपि शब्दसे विना व्रतवाली गुणवती स्त्रियोंका भी सन्मान करना चाहिए यह अर्थ निकलता है और "चतुर्विधेऽपि" में अपि शब्दका यह अर्थ है कि केवल जिन मन्दिर चैत्य आदिमें लगाया धन ही पुण्यवर्धक है । दूसरे कामोंमें लगाया हुआ पुण्यवर्द्धक नहीं है ऐसा नहीं है, किंतु चार प्रकारके (मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका) संघमें दान दिया हुआ धन भी मनवांछित फलका दाता है । इस कथनसे ४ प्रकारका संघ, जिन-मंदिर, जिनप्रतिमा और शास्त्र लिखाना इन सप्त क्षेत्रोंमें दिया गया दान इष्ट फलदाता है यह भाव निकलता है ।

अतः गुणी, अर्जिका और श्राविकाओंको भी पात्र समझकर शास्त्रोक्त रीतिसे दान देना चाहिए।

अब—इसप्रकार धर्मपात्रोंको दान देना जरूरी बताकर अब कार्यपात्रोंको भी मदद करनेका उपदेश करते हैं:—

धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन् ।
सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मार्थकामसध्रीचः) धर्म अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थोंके साधन करनेमें सहायता पहुंचानेवाले पुरुषोंका (यथौचित्यं) यथायोग्य (उपाचरन) उपकार करने-वाला (सुधीः) पाक्षिक श्रावक (त्रिवर्गसम्पत्या) धर्म अर्थ और कामरूपी सम्पत्तिके द्वारा (प्रेत्य) परलोकमें (च) तथा (इह च) इस लोकमें भी (मोदते) आनंदित होता है ।

भावार्थ—"प्रेत्य चेह च" यहां दो च हैं उनका यह अर्थ है कि इस लोक और परलोक दोनों ही भवोंमें एकसा फल होता है, हीनाधिक नहीं । जो अपने धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थके सहायकोंका यथोचित सत्कार करता है वह बुद्धिमान इहलोक और परलोकमें त्रिवर्ग-सम्पत्तिकी प्राप्तिसे आनंदित रहता है ।

अब—इस प्रकार समदत्ति पात्रदत्तिका व्यवस्थित रीतिसे वर्णन करके अब दयादत्ति भी करनी चाहिए यह बताते हैं—

सर्वेषां देहिनां दुःखाद्बिभ्यतामभयप्रदः।
दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(दातृधौरेयः) आहारादिक दानोंको देनेवाले गृहस्थोंमें प्रधान और (दयार्द्रः) दयाके द्वारा कोमल है चित्त जिसका ऐसा (दुःखात्) शारीरिक तथा मानसिक दुःखोंसे (बिभ्यतां) डरनेवाले-दुखी होनेवाले (सर्वेषां) सम्पूर्ण (देहिनां) प्राणियोंको (अभयप्रदः) अभयदान देनेवाला गृहस्थ[1] (निर्भीः) भयरहित होता हुआ (सौरूप्यं) उत्तम रूपादिक गुणोंको (अश्नुते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—शारीरिक और मानसिक दुःखसे प्रत्येक प्राणी डरता है। जो अभयदान देता है वह दयालु दाताओंमें अग्रणी और निर्भय होकर अतिशय स्वौरूपको पाता है।

यहां स्वौरूप शब्दका अर्थ रूपातिशय है। सुखशांतिके प्रदानसे निराकुलता होती है और उससे एक प्रकारके सौंदर्यकी छटा प्रगट होती है। सौंदर्य स्वास्थ्यमें है, देहके चमडेमें नहीं। जीवनके ऊपर ही सब पुरुषार्थ निर्भर है। इसलिये अभयदान देनेवालेको (दातृधौरेयः) दाताओंका धुरीण कहा है। क्योंकि जीवनदाताने क्या नहीं दिया है इतना ही नहीं, उपलक्षणसे अभयदानीको अभयदानके प्रतापसे स्थैर्य, गांभीर्य, तेजस्विपना, आदेयत्व, सौभाग्य, सौम्यत्व, त्यागित्व, भोगित्व, यशस्वित्व, निरामयत्व और चिरजीवित्व आदि अनेक लोकोत्तर गुणोंकी प्राप्ति होती है।

१-तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं परं तपः। तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते। तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतम् ॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः। सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥
यो भूतेष्वभयं दद्यात् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम्। यादृग्वितीर्यते दानं तादृगाप्स्यते फलम् ॥
सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान्भवेत्। आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली ॥
मनोभूरिव कान्ताङ्गः सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः। सरस्वानिव गम्भीरः विवस्वानिव भासुरः ॥
आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः। भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥

अर्थ—जिसने अभयदान दिया उसने सब शास्त्र पढ लिए, परम तप तप लिया और सब प्रकारके दान दे लिए। यह जीवन धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थका मूल है, इसलिए जीवनकी रक्षा करनेवालेने क्या नहीं दिया? सब कुछ दिया। और जीवनके नाशको करनेवालेने क्या नहीं छुडा लिया? सब ही वस्तुओंका अपहरण कर लिया। और कुछ दान हाथसे नहीं बने, और मनुष्य केवल अभय देनेवाला हो तो भी वह श्रेष्ठ है कारण सब दानोंमें अभयदान उत्तम दान है। जो प्राणियोंको अभयदान देता है उसे संसारमें किसीसे भी डर नहीं रहता है। ठीक ही है क्योंकि जैसा ही दान दिया जाता है वैसा ही उसे फल मिलता है। अभयदानसे सौरूप्यकी, आहारदानसे भोगोंकी, औषधदानसे आरोग्यकी और शास्त्रदानसे श्रुतकेवल ऋद्धिकी प्राप्ति होती है। जो अभयदान करता है वह कामदेवके समान सुस्वरूप, सुमेरुके समान स्थिर, समुद्रके समान गम्भीर, सूरजके समान प्रतापी होता है और आदेय, सुभग, सौम्य, त्यागी, भोगी, यशोनिधि, चिरजीवी और नीरोग होता है

अब—" कर्म धर्म्यं यशस्यं च " यह जो पहले कह आए हैं उसे स्पष्ट करते हुए आश्रितोंका भरणपोषण और निराश्रितोंका भी यथाशक्ति भरणपोषण करना चाहिए यह बताकर गृहस्थोंको दिनमें भोजन करना चाहिए, रात्रिमें केवल पानीय आदिक ले सकता है यह बताते हैं—

भृत्वाऽऽश्रितानवृत्त्याऽऽर्तान्कृपयाऽनाश्रितानपि ।
भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्य-ताम्बूलैलादि निश्यपि ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—('गृही') गृहस्थ (अवृत्त्यार्तान्) आजीविकाके अभावसे दुःखी ऐसे (आश्रितान्) अपने आश्रित मनुष्य तिर्यञ्चोंका और (कृपया) करुणाबुद्धिसे (अनाश्रितान् अपि) अनाश्रित मनुष्य तिर्यञ्चोंका भी (भृत्वा) भरणपोषण करके (अह्नि) दिनमें (भुञ्जीत) भोजन करे-खावे तथा इसी तरहसे ही (अम्बुभैषज्यताम्बूलैलादि) जल, औषध, पान और इलायची आदि पदार्थोंको (निशि अपि) रात्रिमें भी ('भुञ्जीत') खावे ।

भावार्थ—जिनकी कोई आजीविका नहीं है ऐसे आश्रित मनुष्य और तिर्यंचोंको तथा दयाबुद्धिसे जो अपने आश्रित नहीं हैं ऐसे व्यक्तियोंको भी दिनमें इनका भरणपोषण करके खावे । तथा रात्रिमें भोजन नहीं कर सकता परन्तु पानी, तांबूल, सुपारी, इलायची, औषध वगैरह जो कुछ पीता व खाता है उसे भी अपने आश्रितोंको खिलापिलाकर तथा दयाबुद्धिसे अनाश्रितोंको भी पिलाकर खिलाकर पीवे व खावे । " निश्यपि " में अपि शब्दसे जायफल, कपूर, मुखको सुगंधित करनेवाले पदार्थोंका ग्रहण है ।

अब—सेव्य भी भोग जबतक सेवनमें नहीं आसकते हैं तबतक उनको कालकी मर्यादा करके छोड़ देने चाहिए । इस प्रकारके त्यागका भी फल बताते हैं—

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जिस समयसे (विषयाः) स्त्री आदि विषयोंके (न सेव्याः) सेवन करनेकी संभावना नहीं है (तावत्) उसी समयसे ('गृही') गृहस्थ (तान्) उन विषयोंको (आप्रवृत्तितः व्रतयेत्) फिरसे उन विषयोंमें प्रवृत्ति करनेके काल तक छोडे अर्थात् जबतक मैं इन विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं करूंगा तबतकके लिये मेरे इन विषयोंका त्याग है इस प्रकारका नियम लेवे ।

भावार्थ—कारणवश जबतक जिन विषयोंके भोगनेकी संभावना नहीं है तब तकके लिये

१-ताम्बूलमौषधं तोयं मुक्त्वाऽऽहारादिकां क्रियाम् । प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत् ।
अर्थ-दिन ऊगे तक ताम्बूल, औषध और पानीको छोड़कर सब प्रकारके आहारादिका व्रत देना चाहिए ।

उनका भी नियम ले लेना चाहिये कि "इतने दिन तक रातमें तांबूल वगैरह भी नहीं खाऊंगा।" ऐसे व्रतोंका यह फायदा है कि इतने कालमें उसका यदि मरण होजावे तो उसके व्रती होनेसे पर भवमें अच्छी पर्यायकी प्राप्ति होती है और उसके कारणसे वह परभवमें सुखी रहता है।

अब—"तपश्चर्यं च शक्तितः" अर्थात् यथाशक्ति तप करना चाहिए। इस कथनकी विशेष विधिका निरूपण करते हैं—

पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा शिवान्ताभ्युदयप्रदम्।
उद्योतयेद्यथासम्पन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः॥ ७८॥

अन्वयार्थ—(शिवान्ताभ्युदयप्रदं) मोक्ष पर्यन्त इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोंको देनेवाले (पञ्चम्यादिविधिं) पञ्चमी, पुष्पांजलि, मुक्तावली तथा रत्नत्रयादिक व्रत विधानोंको (कृत्वा) शास्त्रानुसार करके (यथासम्पत्) अपनी सम्पत्तिके अनुसार उनका (उद्योतयेत्) उद्यापन करावे क्योंकि (निमित्त) दैनिक क्रियाओंको करनेकी अपेक्षासे नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमें (मनः) मन (प्रोत्सहेत्) अधिक उत्साहको प्राप्त होता है।

भावार्थ—मोक्षपर्यंतके अभ्युदय देनेवाले पुष्पांजलि, मुक्तावली, रत्नत्रय आदि व्रतोंको पूर्ण करके अपने २ गृहीत व्रतोंका अपनी संपत्तिके अनुसार उद्यापन भी करना चाहिये। कारण निमित्तके जुटने व जुटानेसे मनमें उत्साहकी वृद्धि होती है।

अब—व्रतोंका लेना, उसकी रक्षा करना, यदि कदाचित् भंग होजावे तो उसका प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रतकी स्थापनाको बताते हैं।

समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।
छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा॥ ७९॥

अन्वयार्थ—('श्रेयोऽर्थिना') कल्याणको चाहनेवाले गृहस्थको (समीक्ष्य) देश कालादिका अच्छी तरहसे विचार करके (व्रतं) व्रतको (आदेयं) ग्रहण करना चाहिये और (आत्तं) ग्रहण किये हुए व्रतको (प्रयत्नतः) प्रयत्नसे (पाल्यं) पालन करना चाहिये तथा (दर्पात्) मदके आवेशसे (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमादसे (छिन्नं) व्रतके खण्डित हो जानेपर (अञ्जसा) शीघ्र ही (प्रत्यवस्थाप्यं) प्रायश्चित लेकर फिरसे उसे ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—सोच विचार कर व्रत लेना चाहिए, लिए हुए व्रतको प्रयत्न पूर्वक पालना चाहिए और यदि अहंकारके आवेशसे या असावधानीके होनेसे व्रत सदोष होजावे तो तुरन्त प्रायश्चित्त विधानसे व्रतकी शुद्धि करके पुनः उसकी स्थापना करनी चाहिये।

अब—व्रतका स्वरूप बताते हैं:—

सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(सेव्ये) सेवन करनेके योग्य स्त्री आदि विषयोंमें (संकल्पपूर्वकः) संकल्पपूर्वक (नियमः) नियम करना (वा) अथवा संकल्पपूर्वक (अशुभकर्मणः) हिंसादिक अशुभ कर्मोंसे (निवृत्तिः) विरक्त होना (वा) अथवा संकल्पपूर्वक (शुभकर्मणि) पात्रदानादिक रूप शुभकर्मोंमें (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति करना (व्रतं स्यात्) व्रत कहलाता है।

भावार्थ—स्वदार, तांबूल आदि विषयोंमें कुछ दिनोंकी मर्यादासे संकल्प पूर्वक नियम कर लेना व्रत है। अशुभ कर्मोंका संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा संकल्पपूर्वक शुभ कर्मोंकी प्रवृत्तिको व्रत कहते हैं।

अब—विशेष आगमपर विश्वास करनेवालोंके आधारपर प्राणियोंकी रक्षाका उपदेश देते हैं—

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन्।
सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वभूतानि न हिंस्यात्) सम्पूर्ण त्रस स्थावर जीवोंमेंसे किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करना चाहिये (इति) इस प्रकारके (आर्षं) ऋषिप्रणीत शास्त्रको (प्रमाणयन्) श्रद्धापूर्वक माननेवाला ('धार्मिकः') धार्मिक गृहस्थ (धर्मे) धर्मके निमित्त (सदा) सदैव (शक्त्या) अपनी शक्तिके अनुसार (सागसोऽपि) अपराध सहित जीवोंको भी (रक्षेत्) रक्षा करे और (निरागसः) निरपराध जीवोंकी तो (किं नु) कहना ही क्या है अर्थात् उनकी तो वह विशेष रूपसे रक्षा करे।

भावार्थ—धर्मके लिए कभी भी त्रस और स्थावर किसी भी जीवको नहीं मारना चाहिए। इस शास्त्रकी आज्ञाको जो प्रमाण मानता है उसे अपना अपराध करनेवाले भी जीवोंकी अपनी शक्तिभर सदैव रक्षा करनी चाहिए। 'किं नु निरागसः' इस पदका यह अर्थ है कि वह निरपराधियोंकी रक्षा क्या नहीं करेगा? किन्तु जरूर करेगा। इससे यह मथितार्थ निकलता है कि निरपराधी प्राणीकी धार्मिक व्यक्तिको विशेष रीतिसे रक्षा करनी चाहिए।

अब—संकल्पी हिंसाके छोड़नेका उपदेश देकर इसीका समर्थन दृष्टांत द्वारा करते हैं—

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(सुधीः) समझदार पुरुष–हिंसाके फलको जाननेवाला पुरुष (आरम्भेऽपि) कृष्यादिक कर्मोंमें भी (साङ्कल्पिकीं) सङ्कल्प है पूर्वमें जिसके ऐसी अर्थात् सङ्कल्पी (हिंसां)

हिंसाको (सदा) सदैव (त्यजेत्) छोड़े क्योंकि (घ्नतोऽपि) असङ्कल्प पूर्वक बहुतसे जीवोंको मारनेवाले भी (कर्षकात्) किसानसे (अघ्नन् अपि) जीवोंके मारनेका सङ्कल्प करके उनको नहीं मारनेवाला भी (धीवरः) ढीमर (उच्चैः पापः) उत्कृष्ट पातकी-अधिक पापी ('भवति') होता है-कहलाता है ।

भावार्थ—मांस प्राप्ति आदि हेतुओंसे मैं इसे मारता हूं इस बुद्धिका नाम संकल्प है और ऐसे संकल्प पूर्वक होनेवाली हिंसाको सांकल्पी हिंसा कहते हैं । शास्त्रबलसे हिंसाके भयानक फलोंका जिसे निश्चय होचुका है ऐसा सुधी श्रावक कृषि आदि कर्ममें प्रवृत्ति करते समय भी संकल्पी हिंसाका सदैव त्याग करे, कारण आरम्भ तो गृहस्थ अवस्थामें छोडा नहीं जा सकता है । इसी भावको उदाहरण पूर्वक समझाते हैं कि मछलीको मारनेके लिये तत्पर धीवर यद्यपि साक्षात् मार नहीं रहा परन्तु मारनेके संकल्प सहित है । इसलिये वह आरम्भमें प्रवृत्त किसानसे अधिक पापी है । सारांश-आरम्भमें उतना पाप नहीं है जितना संकल्पमें है । इस संकल्पी हिंसाका त्याग सदैव करना चाहिये ।

अब—जो हिंस्र आदि प्राणियोंकी हिंसाका विधान बताते हैं उसका खंडन करते हैं-

हिंस्रदुःखिसुखिप्राणि-घातं कुर्यान्न जातुचित् ।
अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—('श्रेयोऽर्थी') कल्याणको चाहनेवाला गृहस्थ (अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात्) अतिप्रसङ्ग रूप दोष, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुखके नाशका कारण होनेसे (हिंस्रदुःखिसुखीप्राणिघातं) हिंसक दुखी और सुखी प्राणियोंके घातको (जातुचित्) कभी भी (न कुर्यात्) नहीं करे ।

भावार्थ—कोई कहते हैं कि क्रूर प्राणीको मारनेसे बहुतोंकी रक्षा होती है इसलिये धर्म भी होता है और पापकी प्रवृत्ति भी कम होती है । उसका समाधान यह है कि यदि मारनेवालेको मारना चाहिये तो तुम भी मारनेवाले हो तुम्हें भी मारनेका प्रसंग आयगा । इसप्रकार अतिप्रसंग दोषके कारण मूलोच्छेदका प्रसंग आवेगा अतः क्रूरको भी नहीं मारना चाहिये । कारण दयाके कारण धर्म और पापकी प्रवृत्ति कम होती है, क्रूर जीवोंके मारनेसे नहीं होती है ।

कोई कहते हैं कि दुःखी जीव मार डालने चाहिए, उनकी वेदना कम होजावेगी । इसका भी उत्तर यह है कि दुःखी अवस्थामें दुःखी होकर आकुलता सहित मरनेवाले नरकमें जाते हैं इसलिए उनके दुःखोंका अन्त नहीं होता है, किंतु नरकमें अधिक दुःखकी प्राप्ति होती है, अतः दुःखीका भी वध नहीं करना चाहिए । कोई कहते हैं कि मरते समय जीव यदि सुखी रहा तो वह सदैव सुखी

रहता है । अतः सुखीका वध करना चाहिये, यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मरण बड़ा दुःख है, मरनेके दुःखसे सुखीके सुखमें बाधा आती है । अतः उसका भी वध नहीं करना चाहिये। कारण मृत्युके समय दुःखसे दुर्ध्यानका होना संभव है और दुर्ध्यानसे मरा जीव नरकके दुखोंको पाता है । अतः हिंस्र दुःखी और सुखी प्राणीका भी कभी वध नहीं करना चाहिये, क्योंकि हिंसा चाहे स्वगत हो, चाहे परगत हो, वह पुण्यजनक नहीं होसकती, वह पापकी ही जननी है । अतः धर्मेच्छुओंको हिंसाके त्यागके लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए।

अब—पाक्षिकको दर्शनविशुद्धि और लौकिक व्यवहारके क्या २ कार्य करना चाहिए यह बताते हैं:—

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये ।
कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(स्थूललक्षः) व्यवहारको प्रधान रीतिसे माननेवाला गृहस्थ (दृग्विशुद्धये) सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए (तीर्थयात्राद्याः) तीर्थयात्रादिक (क्रियाः) क्रियाओंको (तथा) और (लोकानुवृत्तये) लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिये (प्रीत्या) आनन्दपूर्वक-हर्षपूर्वक (इष्टभोज्याद्याः) प्रीतिभोज्यादिक ('क्रियाः') क्रियाओंको भी (कुर्यात) करे ।

भावार्थ—व्यवहारको मुख्य माननेवाला गृहस्थ तीर्थयात्रा करे और लोगोंको अपने अनुकूल बनानेके लिये प्रीतिभोज भी करावे ।

अब—धार्मिकोंको कीर्ति भी अर्जनीय है यह बताते हैं:—

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः ।
तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—(अकीर्त्या) अकीर्तिसे (चेतः) चित्त (तप्यते) संक्लेशको प्राप्त होता है और (चेतस्तापः) चित्तका संक्लेश-सन्ताप (अशुभाश्रवः) पाप कर्मोंके आश्रवका कारण होता है (तत्) इसलिए ('गृही') गृहस्थ (श्रेयसे) पुण्यके अर्थ (तत्प्रसादाय) चित्तकी प्रसन्नताके लिये अथवा (श्रेयसे) पुण्यकी कारणभूत (तत्प्रसादाय) चित्तकी प्रसन्नताके लिये (सदा) सदैव (कीर्ति) कीर्तिको (अर्जयेत्) उपार्जन करे—कमावे ।

भावार्थ—कीर्तिसे मन प्रफुल्लित रहता है और मनके प्रफुल्लित रहनेसे श्रेय अर्थात् पुण्याश्रव होता है तथा मनका प्रफुल्लित रहना, किन्तु संतप्त न रहना अशुभाश्रवका कारण है । इसलिए कीर्तिका उपार्जन करना चाहिए ।

अब—कीर्ति उपार्जनके उपाय:—

परासाधारणान्गुण्यप्रगण्यानघमर्षणान् ।
गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(कीर्तिविस्तारणोद्यतः) कीर्तिके विस्तार करनेमें तत्पर गृहस्थ (परासाधारणान्) दूसरे पुरुषोंमें नहीं पाये जानेवाले (गुण्यप्रगण्यान्) गुणवान पुरुषोंके द्वारा अत्यंत माननीय और (अघमर्षणान्) पापोंके नाश करनेवाले (गुणान्) दान तथा शीलादिक गुणोंको (नित्यं) सदैव (विस्तारयेत्) बढ़ावे ।

भावार्थ—दान, सत्य, शौच और शील=सुस्वभाव ये चार बातें कीर्तिकी जनक हैं, इनके तीन विशेषण हैं । ये चारों बातें दूसरोंकी अपेक्षा असाधारण विशेषताको लिए होनी चाहिए । बड़े २ गुणीजनोंके द्वारा उल्लेखयोग्य होनी चाहिए, तथा स्वार्थके लिए न होकर निष्पाप वृत्तिसे होनी चाहिए । इस प्रकारसे असाधारण, गणनीय और निष्पाप वृत्तिसे दानशील, सचाई और शीलकी सुगन्धको कीर्ति मिलानेवालोंको सर्वत्र फैलाना चाहिए ।

अब—पाक्षिकके आचारमें तत्पर श्रावक नैष्ठिकके आचारको पालकर मुनिचर्याको प्राप्त होवे, इसका सालंकार वर्णन करते हैं—

सैषः प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृ-
न्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्गारोद्धुरं बिभ्रति ।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्त्येतस्य चर्याफला
न्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनवचोऽभ्यासामृतेन) जिनेन्द्र भगवानके वचनोंके अभ्यासरूपी अमृतके द्वारा (निर्वेदद्रुमं) वैराग्यरूपी वृक्षको (असकृत्) निरन्तर (आवपन्) सींचनेवाला (सैषः प्राथमकल्पिकः) वही यह पाक्षिक श्रावक (शमरसोद्गारोद्धुरं) प्रशम सुखरूपी रसकी अभिव्यक्तिके द्वारा लबालब भरे हुए और (कालिकं पाकं) कालकृत आत्मीय परिणति रूपी पाकको (बिभ्रति) धारण करनेवाले तथा (उत्तरोत्तर महान्ति) उत्तरोत्तर वृद्धिको लिये हुए अर्थात् आगे२ बड़े२ ऐसे (एतस्य) वैराग्यरूपी वृक्षके (चर्याफलानि) दर्शनिकादि प्रतिमारूपी फलोंको (आस्वाद्य) आस्वादन करके (उद्यतशक्तिः) उत्पन्न हुई है शक्ति जिसके ऐसा अर्थात् सामर्थ्यवान होता हुआ (उद्धचरितप्रासादं) मुनिधर्मरूपी प्रासादको (आरोहतु) आरोहण करे अर्थात् मुनिधर्मरूपी प्रसादके ऊपर चढ़े ।

भावार्थ—पाक्षिक श्रावक जिन वचनरूपी अमृतके अनुभव द्वारा संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर ७ सल्लेखना पर्यन्त यति धर्मरूपी महलके ऊपर चढ़नेकी सामर्थ्यको प्राप्त

करे। किससे प्राप्त करे ? ऐसा पूछे जानेपर यह बताया जाता है कि ११ प्रतिमारूपी निर्वेद वृक्षके मधुर फलोंका उपभोग कर अपनेमें शक्ति बढ़ानी चाहिए। पहले अध्यायमें पाक्षिकका लक्षण कहा जा चुका है, नैष्ठिक अवस्थाकी तैयारी करनेवाला पाक्षिक होता है। यह अपनी अवस्थामें निर्वेद (वैराग्य) रूपी वृक्षको बोता है। संसार, शरीर और भोगसे विरक्तता यह नैष्ठिकोंकी प्रथम प्रतिमामें बताया है उसको यहां कल्पवृक्षकी उपमा दी है और उसके उत्तरोत्तर प्रतिमाओंको, उत्तम मधुर रसवाले, यथाकाल मधुर और पौष्टिक रस संपन्न फलोंकी उपमा दी है। उन ११ प्रतिमारूपी रसभरे शक्तिवर्द्धक फलोंका अनुभव करके अपनी मुनिधर्मके पालनेकी योग्यता बढ़ाकर, पाक्षिक श्रावक क्रम २ से मुनिधर्मरूपी उत्तम उन्नत सुखशांतिके प्रासादरूप महलके ऊपर आरोहण करे ऐसा आशावादमय आशीर्वादात्मक भाव इस पद्यका है।

इस प्रकार आचार्यकल्प विद्वद्वर पंडित आशाधर विरचित स्वोपज्ञ सागारधर्मकी दीपिका भव्य कुमुदचन्द्रिका नामकी टीका अनगार धर्मामृत ग्रन्थकी अपेक्षासे ११ वां और सागारके प्रकरणकी अपेक्षासे द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।



तृतीय अध्याय।

नैष्ठिकका लक्षण।

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्) देश संयमका घात करनेवाली कषायोंके क्षयोपशमकी न्यूनाधिकताके वशसे (दर्शनिकाद्येकादशदशावशः) दर्शनिक आदि ग्यारह श्रावकोंके संयम स्थानोंका है परतन्त्रपना जिसके ऐसा अर्थात् दर्शनिक आदि ग्यारह श्रावक सम्बन्धी संयम-स्थानोंके वशीभूत और (सुलेश्यतरः) उत्तम हैं लेश्याएं जिसकी ऐसा अर्थात् उत्तम लेश्यावाला (नैष्ठिकः स्यात्) नैष्ठिक श्रावक होता है।

भावार्थ—व्याकरणकी दृष्टिसे अतिशय अर्थमें "ठक्" प्रत्यय करनेसे दर्शन शब्दसे दर्शनिक व्रत शब्दसे व्रतिक बनता है। अतः निर्मल दर्शनवालेको दर्शनिक और निर्मल व्रतवालेको व्रतिक, ऐसा अर्थ हो जाता है। देशयमघ्न कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम जितना पहली प्रतिमाधारीके होता है उससे अधिक दूसरी तीसरी आदि प्रतिमाओंमें होता है और तदनुसार ही नैष्ठिक श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएं होती हैं। तथा इसी कारणसे उनकी परिणामोंकी विशुद्धि भी उत्तरोत्तर अधिक होती है। अतः "सुलेश्यतराः" पाक्षिककी अपेक्षा पहली प्रतिमागत लेश्या अच्छी है और पहली प्रतिमासे दूसरी आदि प्रतिमाओंमें लेश्याकी विशुद्धि अधिक २ है।

१-लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा पुण्यपापे यया स्वयम्। सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावतः ।१॥
प्रवृत्तिर्यौगिकी लेश्या कषायोदयरञ्जिता। भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षोढोभयी मता ॥२॥
कृष्णा नीलाऽथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता। लेश्या षड्भिः सदा ताभिर्गृह्यते कर्म जन्मिभिः॥३॥
योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितोऽङ्गिनाम्। संस्कारो भावलेश्याऽस्ति कल्मापास्रवकारणम् ॥४॥
कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनैः। कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणामः शरीरिणाम् ॥५॥
पीता निवेदिता मन्दः पद्मा मन्दतरो बुधैः। शुक्ला मन्दतमस्तासां वृद्धिः षट्स्थानयायिनी ॥६॥

अर्थ—१-जिससे पाप और पुण्य आत्मासे चिपकते हैं उसे ज्ञानीजन लेश्या कहते हैं। वह लेश्या द्रव्य और भाव इस प्रकारसे दो प्रकारकी है। २-योगकी प्रवृत्ति जो कषायके उदय सहित होती है उसे भाव लेश्या तथा देहके रंगरूपको द्रव्य लेश्या कहते हैं। द्रव्य और भाव लेश्या ये दोनों ही छै प्रकारकी मानी गई हैं। ३-कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये लेश्याएं हैं, संसारी लोग इन्हींके द्वारा कर्म बांधते हैं। ४-योग, अविरति, मिथ्यात्व और कषायजनित जो संस्कार हैं उसे भाव लेश्या कहते हैं, और वही संस्कार, संसारी जीवोंके कर्मोंके आस्रवका कारण है। ५-जीवोंकी कापोत लेश्याको तीव्र, नील लेश्याको तीव्रतर और कृष्ण लेश्याको तीव्रतम परिणाम माना है। ६-पीत लेश्याको मन्द, पद्म लेश्याको मंदतर तथा शुक्ल लेश्याको मंदतम माना है और इन छःही लेश्याओंकी षड्गुणी वृद्धि (और हानि) मानी है।

अब—दर्शनिकादि ग्यारह प्रतिमाओंके नाम बताकर उनके गृहस्थ, ब्रह्मचारी और भिक्षुक तथा जघन्य मध्यम और उत्तम इन भेदोंको बताते हैं:—

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च।
सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥ २ ॥
अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः।
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥

निर्मूलस्कन्धयोश्छेत्तुं भावाः शाखोपशाखयोः। उच्चये पतितादाने भावलेश्या फलार्थिनाम् ॥७॥
षट्सु द्वे चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु। शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्यानिर्लेश्यमन्तिमम् ॥८॥
रागद्वेषमहाग्रिष्टो दुर्ग्रहो दुष्टमानसः। क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबन्धिभिः ॥ ९ ॥
निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमांसादिलम्पटः। सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो जनः ॥१०॥
कोपी मानी मायी लोभी, रागी द्वेषी मोही शोकी। हिंस्रः क्रूरश्चण्डश्चौरो, मूर्खः स्तब्धः स्पर्द्धाकारी।
निद्रालुः कामुको मन्दः, कृत्याकृत्याविचारकः। महामूर्च्छो महारम्भो नीललेश्यो निगद्यते ॥१२॥
शोकभीमत्सरासूयापरनिन्दापरायणः। प्रशंसति सदाऽऽत्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति ॥१३॥
वृद्धिहानी न जानाति न मूढः स्वपरान्तरम्। अहङ्कारग्रहग्रस्तः समस्तां कुरुते क्रियाम् ॥१४॥
श्लाघितो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते। परकीययशोध्वंसी युक्तः कापोतलेश्यया ॥१५॥
समदृष्टिरविद्वेषो हिताहितविवेचकः। वदान्यः सदयो दक्षः पीतलेश्यो महामनाः ॥१६॥
शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवदः। साधुपूजोद्यतः साधुः पद्मलेश्यो नयक्रियः ॥१७॥
निर्निदानोऽनहंकारः पक्षपातोज्झितोऽशठः। रागद्वेषपराचीनः शुक्ललेश्यः स्थिराशयः ॥१८॥
तेजः पद्मा तथा शुक्ला लेश्यास्तिस्रः प्रशस्तिकाः। संवेगमुत्तमं प्राप्तः क्रमेण प्रतिपद्यते ॥१९॥

७-फलकी इच्छासे, ६ लेश्यावालोंमेंसे क्रमसे ऐसे भाव होते हैं कि कृष्ण लेश्यावालाके समूल वृक्ष छेदनेके, नील लेश्यावालेके वृक्ष स्कंधके छेदनेके, कापोत लेश्यावालेके शाखा छेदनेके, पीत लेश्यावालेके उपशाखा छेदनेके, पद्म लेश्यावालेके फल छेदनेके और शुक्ल लेश्यावालेके टपके हुए फलोंके ग्रहणके परिणाम होते हैं। ८-पहले ४ गुणस्थानोंमें ६ लेश्याएं सम्भव हैं, ५ वें ६ वें और ७ वें गुणस्थानमें ३ शुभ लेश्याएं सम्भव हैं और ८ वें गुणस्थानसे १३ वें गुणस्थान तक एक शुक्ल लेश्या होती है तथा १४ वें गुणस्थानमें कोई लेश्या नहीं मानी है।

कृष्ण लेश्यावाला-रागद्वेष रूप ग्रहसे ग्रस्त रहता है, दुराग्रही होता है, दुष्ट अभिप्रायवाला होता है, अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकके ग्रहके चक्करमें रहता है, निर्दय होता है, निरन्तर अनुक्रोश करनेवाला होता है, मद्य-मांसादिमें लम्पटी होता है, सर्वदा अभक्ष्य भक्षणमें आसक्त होता है। ९-१०

नील लेश्यावाला-क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी, रागी, द्वेषी, मोही, शोक करनेवाला हिंस्र, क्रूर, अत्यन्त कोप करनेवाला, चोरी करनेवाला, मूर्ख, स्तब्ध, ईर्ष्या करनेवाला, निद्रालु, कामी, सुस्त, कर्तव्य अकर्तव्यका विचार न करनेवाला, महा आसक्त (बहु परिग्रही) बहु आरम्भी होता है॥ ११-१२॥

कापोतलेश्यावाला—शोक, भय, मत्सर, असूया और परनिंदामें तत्पर होता है। आत्मप्रशंसामें

अन्वयार्थ—(दर्शनिकः) दर्शनिक (अथ) इसके अनन्तर (व्रतिकः) व्रतिक (सामयिकी) सामयिकी (प्रोषधोपवासी) प्रोषधोपवासी (च) और (सचित्तदिवामैथुनविरतः) सचित्त विरत तथा दिवामैथुन विरत ये (षट्) छह श्रावक (अणुयमिषु) देश संयमको पालन करनेवाले श्रावकोंमें (हीनाः) जघन्य और (गृहिणः, गृहस्थ ('भवन्ति') होते हैं तथा (अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरताः) अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये (त्रयः) तीन श्रावक (मध्याः) मध्यम तथा (वर्णिनः) ब्रह्मचारी ('भवन्ति') होते हैं और (अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतौ) अनुमति विरत तथा उद्दिष्टविरत ये (उभौ) दो श्रावक (प्रकृष्टौ) उत्तम (च) और (भिक्षुकौ) भिक्षुक ('भवन्ति') होते हैं।

अब—नैष्ठिक होकर भी यदि वह अपने पदमें अस्थिर हो तो वह पाक्षिक ही कहलाता है नैष्ठिक नहीं, यह बताते हैं—

तत्पर रहता है। कोई तारीफ करे तो बड़ा खुश होता है, हानि लाभ नहीं समझता है। वह मूढ़ अपने और परायेका भेद नहीं समझता है, अहंकार भावसे ग्रस्त होकर सब काम करता है, प्रशंसा करनेवालेको सब कुछ दे डालता है, रणमें मरनेकी इच्छा करता है, परकीय यशके नाशकी इच्छा करता है ॥१३-१४-१५॥

पीतलेश्यावाला—समदृष्टि होता है, किसीसे द्वेष नहीं करता है, अहित और हितका जाननेवाला होता है। उदार दयालु, चतुर और बड़े दिलका होता है ॥ १६ ॥

पद्मलेश्यावाला—पवित्र, दानशील, भद्र, विनयशील, प्रियभाषी, साधुजनोंका पूजक स्वतः साधु (सज्जन) होता है ॥ १७ ॥

शुक्ललेश्यावाला—निदान नहीं करता, अहंकार नहीं करता, पक्षपात नहीं करता, शठ (धूर्त) नहीं होता और राग द्वेषसे विमुख रहता है ॥ १८ ॥

पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएं प्रशस्त लेश्याएं हैं, जो उत्तम संवेगके धारक हैं। वे क्रम क्रमसे इन लेश्याओंको प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

१–षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयस्युर्ब्रह्मचारिणः। भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टे ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥१॥
आद्यास्तु षड् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥२॥

अर्थ—पहले ६ प्रतिमाधारी श्रावक, जघन्य श्रावक कहलाते हैं। ७ वीं ८ वीं और ९ वीं प्रतिमाधारक श्रावक, मध्यम श्रावक तथा ब्रह्मचारी कहलाते हैं, और १० वीं और ११ वीं प्रतिमाधारक श्रावक, उत्तम श्रावक हैं तथा भिक्षुक संज्ञावाले हैं और इस आगेकी अवस्थावाले यति होते हैं ॥ १ ॥

जैनसिद्धांतमें प्रतिमाधारी श्रावकोंमेंसे पहली ६ प्रतिमावाले, जघन्य और इससे आगेकी ३ प्रतिमावाले मध्यम और अन्तकी २ प्रतिमावाले उत्तम श्रावक कहे हैं।

अणुव्रतधारियोंमें दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी और प्रोषधोपवासी, सचित्त विरत, दिवा मैथुन विरत ये ६ प्रतिमाधारी श्रावक, जघन्य श्रावक हैं और ब्रह्मचारी आरम्भ विरत तथा परिग्रह विरत वर्णी कहलाते हैं। और मध्यम श्रावक है। अनुमति विरत और उद्दिष्ट विरत ये अन्तके दो श्रावक भिक्षुक कहलाते हैं और उत्कृष्ट श्रावक हैं।

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः ।
स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(दुर्लेश्याभिभवात्) कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्याके आक्रमणसे-संस्कारसे (जातु) किसी समय (क्वचित्) पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमेंसे किसी एक (विषये) इन्द्रियके विषयमें (उत्सुकः) अभिलाषा करनेवाला तथा (क्वापि गुणे) मद्य त्याग आदि मूलगुणोंमेंसे किसी एक मूलगुणमें (स्खलन्नपि) स्खलित होनेवाला भी अर्थात् अतीचार लगानेवाला भी गृहस्थ (पाक्षिकः स्यात्) पाक्षिक श्रावक होता है-कहलाता है (नैष्ठिकः न) नैष्ठिक श्रावक नहीं ।

भावार्थ—परिणामोंमें कदाचित् कृष्ण, नील और कापोतके वेगके आजानेसे यदि नैष्ठिक श्रावक, पंचेंद्रियोंके किसी एक विषयमें उत्सुक होजावे अथवा आठ मूलगुणोंमेंसे किसी एक गुणमें स्खलित होजावे, अर्थात् उसके किसी भी गुणमें अतीचार लग जावे तो वह नैष्ठिकपनेसे च्युत होकर पाक्षिक संज्ञाको प्राप्त होजाता है । इसका सारांश यह है कि जबतक नैष्ठिक वास्तवमें अपने व्रतोंको निर्दोष रीतिसे पालता है तब ही तक वह नैष्ठिक है ।

अब—उसी प्रकारसे दर्शनिकादि ग्यारह प्रतिमाधारियोंमें भी यदि अपने अपने प्रतिमाके योग्य दृढ़ता न पाई जाय तो वे भी भाव प्रतिमाधारी नहीं हैं किंतु द्रव्य प्रतिमाधारी है । तथा जिस प्रतिमाके आचार उनके यथार्थमें होंगे वही उनकी भावप्रतिमा है यह बताते हैं:—

तद्वद्दर्शनिकादिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् ।
लभते पूर्वमेवार्थाद्व्यपदेशं न तूत्तरम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(तद्वत्) नैष्ठिक श्रावककी तरह (स्वे स्वे व्रते) अपने२ व्रतोंमें (स्थैर्यं) किसी भी प्रकारसे चलायमान नहीं होनेरूप स्थिरताको (अव्रजन्) प्राप्त नहीं होनेवाले (दर्शनिकादिश्च) दर्शनिक आदि श्रावक भी (अर्थात्) वास्तवमें (पूर्वमेव) पूर्वकी ही (व्यपदेशं) संज्ञाको (लभते) प्राप्त होते हैं (तु) किन्तु (उत्तरं न) उत्तरकी-आगेकी संज्ञाको प्राप्त नहीं होते हैं ।

भावार्थ—उसी प्रकार नैष्ठिककी ग्यारह प्रतिमाओंमें भी जिस जिस प्रतिमाके जो लक्षण बतलाये हैं उन उनमें जबतक उसकी स्थिरता विद्यमान है तबतक वह जिस प्रतिमामें स्थित है उस प्रतिमावाला कहलाता है, परन्तु अपनी अपनी प्रतिमामें किसी भी दोषके आनेपर वह वास्तवमें उस पदसे च्युत होकर उससे नीचेकी प्रतिमावाला हो जाता है, चाहे व्यवहारमें वह उक्त प्रतिमामें ही क्यों न गिना जावे ।

अब—इसी बातको प्रकारान्तरसे समर्थन करते हैं—

प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः।
योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(आर्हतस्य) जिनेन्द्र भगवानकी है एक शरण जिसके ऐसे (यस्य) जिस श्रावकका (योग इव) योगकी तरह-समाधिकी तरह (प्रारब्धः) प्रारब्ध (घटमानः) घटमान (च) और (निष्पन्नः) निष्पन्न (देशयमः) देशसंयम ('अस्ति') है (सः) वह (देशयमी) देश संयमको पालन करनेवाला श्रावक (योगीव) योगीकी तरह (त्रिधा) तीन प्रकारका (भवति) होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार योग अर्थात् समाधि नैगमादि नयसे प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारकी है, इसी प्रकार जिनभक्त श्रावकका देशसंयम भी प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारका है। इसका सारांश यह है कि पाक्षिक श्रावक व्रतोंका अभ्यास करता है इसलिये वह प्रारब्ध देशसंयमी है। नैष्ठिक प्रतिमाओंके व्रतोंको क्रमसे पालता है, इसलिये वह घटमान-देशसंयमी है। और साधक आत्मलीन होनेसे निष्पन्न-देशसंयमी है। यहांपर प्रारब्धका अर्थ उपक्रान्त है अर्थात् शुरू किया है जिसने ऐसा होता है। घटमानका अर्थ निर्वाह करनेवाला है और निष्पन्नका अर्थ पर्यंतको प्राप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

अब-इसप्रकार प्रतिमाओंकी भूमिका बनाकर दर्शन प्रतिमाके स्वरूपको दो श्लोकोंसे बताते हैं—

पाक्षिकाचारसंस्कार-दृढीकृतविशुद्धदृक्।
भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः ॥ ७ ॥
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः।
न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन्दर्शनिको मतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्) पाक्षिक श्रावकके आचरणोंके संस्कारसे निश्चलपनेको प्राप्त होगया है निर्दोष सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा और (भवाङ्गभोगनिर्विण्णः) संसार, शरीर व भोगोंसे विरक्त अथवा संसारके कारणभूत भोगोंसे विरक्त तथा (परमेष्ठिपदैकधीः) पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें ही है एक बुद्धि जिसकी ऐसा और (मूलगुणेषु) मूलगुणोंमेंसे (मलान्) अतीचारोंको (निर्मूलयन्) दूर करनेवाला तथा (अग्रगुणोत्सुकः) आगेके गुणोंमें अर्थात् व्रतिक आदि पदोंके धारण करनेमें उत्सुक रहनेवाला और (तनुस्थित्यै) शरीरके निर्वाहके लिये (न्याय्यां) न्यायपूर्वक (वृत्तिं) आजीविका (तन्वन्) करनेवाला (दर्शनिकः मतः) दर्शनिक श्रावक माना गया है।

भावार्थ—द्वितीय अध्यायमें जो पाक्षिकका आचार वर्णित है उस आचारके संस्कारसे निर्दोष सम्यक्त्ववाला; संसार, देह और भोगोंसे विरक्त; अथवा संसारके कारणभूत भोगोंसे विरक्त;

पंच परमेष्ठीमें अन्तर्दृष्टि रखनेवाला, अष्ट मूलगुणोंको निरतिचार-पालनेवाला, आगेकी प्रतिमाकी उत्सुकता रखनेवाला और उपजीविकाके लिये अपने वर्ण, कुल और व्रतके अनुकूल ही कृषि आदिक आजीविका करनेवाला दर्शन प्रतिमाधारी दर्शनिक श्रावक होता है। 'परमेष्ठी पदैकधीः' इस पदमें जो 'एक' यह पद आया है उसका यह अभिप्राय है कि दर्शनिक श्रावक विपत्कालमें भी शासन देवताकी पूजा नहीं कर सकता है, पाक्षिक कर सकता है। 'भवांगभोगनिर्विण्णः' इसका भाव यह है कि दर्शनिक श्रावकके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धि तथा अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी आठ कषायोंके उदय न होनेसे उसकी संसार, शरीर और भोगोंको भोगते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं पाई जाती है।[1]

अब—मद्यत्याग, मधुत्याग आदि व्रतोंकी निर्मलता प्रगट करनेके लिए उनके व्यापार आदिकका निषेध बताते हैं—

मद्यादिविक्रयादीनि नार्यः कुर्यान्न कारयेत्।
न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतश्रुते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(आर्यः) दर्शनिक श्रावक (तद्व्रतद्युते) मद्य त्याग आदि मूलगुणोंको निर्मल करनेके लिए–निर्मल रखनेके लिए (मनोवाक्कायैः) मन वचन और कायसे (मद्यादिविक्रयादीनि) मद्यादिकके खरीदने तथा बेचने वगैरहको (न कुर्यात्) न स्वयं करे (न कारयेत्) न दूसरोंसे करावे (च) और (न अनुमन्येत) उसके मद्यादिकके खरीदने बेचने आदिमें अनुमति देवे।

भावार्थ—'विक्रयादि' पदमें आये 'आदि' शब्दसे अचार, मुरब्बा आदि बनानेका उपदेश भी न करे, यह अर्थ लेना चाहिये। तथा उक्त आठ मूलगुणोंको निरतिचार पालनेके लिए दर्शनिक श्रावक मन, वचन और कायसे मद्य, मांस, मधु और मक्खन आदिका व्यापार न करे और न दूसरोंसे करावे और न उसकी अनुमोदना ही करे।

१–आदावेते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः। पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ॥
कर्तुं शक्यं स्थिरमुरुभरं मन्दिरं गर्त्तपूरं। न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं ग्रावजालैः ॥ १ ॥
कृषिं वाणिज्यं गोरक्ष्यमुपायैर्गुणिनं नृपम्। लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार टिकाऊ और मजबूत पत्थरोंसे अच्छी प्रकार गड्ढेको भरे बिना स्थिर और बड़ा मंदिर नहीं बनाया जा सकता है। टिकाऊ मंदिरके निर्माणके लिये पहले नींवको पक्की करना आवश्यक है, उसी प्रकार पापोंका नाश करनेवाले और निरतिचार श्रावकके व्रतोंको धारण करनेवाले पुरुषको व्रतोंको धारण करनेके पहले आठ मूलगुणोंको निरतिचार धारण करना चाहिये। उनको धारण किये बिना व्रतोंका पालन नहीं होसकता है ॥ १ ॥

धनका इच्छुक श्रावक उचित उपायोंके द्वारा कृषि, वाणिज्य, गोरक्षण, गुणी राजा और इहलोक और परलोकके अविरुद्ध क्रियाको प्राप्त करे ॥ २ ॥

अब—जिनके सम्बन्धसे मद्य व्रतकी हानिकी सम्भावना है उन कार्योंका वर्णन करते हैं:—

भजन्मद्यादिभाजस्त्री-स्तादृशैःसह संसृजन्।
भुक्त्याऽऽदौ चैति साकीर्तिं मद्यादिविरतिक्षतिम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(मद्यादिभाजः) मद्य मांसादिकको खानेवाली (स्त्रीः) स्त्रियोंका (भजन्) सेवन करनेवाला (च) और (भुक्त्यादौ) भोजन वगैरहमें (तादृशैः) मद्यादिकको सेवन करनेवाले पुरुषोंके (सह) साथ (संसृजन्) संसर्ग करनेवाला ('व्रती') व्रतधारी पुरुष (साकीर्तिं) निन्दाके साथ (मद्यादिविरतिक्षतिं) मद्य त्याग आदि अष्ट मूलगुणोंकी हानिको (एति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—मद्यादिकके भक्षण करनेवाली स्त्रियोंके साथ संसर्ग करनेसे तथा भोजन करनेसे, उनके पात्रमें जीमनेसे और उनके साथ बैठनेसे तथा मद्यादि पीनेवाले पुरुषोंके साथ भी इसी प्रकारके संसर्गसे बदनामी होती है। और मद्यादिके व्रतकी हानिकी संभावना रहती है, इसलिये जो मद्य पीने आदिमें निमग्न रहते हैं ऐसे स्त्री और पुरुषोंका भोजनादिकमें संसर्ग न करे।

अब—इस प्रकार सामान्य रीतिसे आठों मूलगुणोंके अतीचार बताकर आगे प्रत्येक मूलगुणके अतिचार बताते हैं। मद्यव्रतके अतिचार—

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—('दर्शनिकः') दर्शनिक श्रावक (सर्वं सन्धानकं) अचार, मुरब्बा आदि सब ही प्रकारके सन्धानको और (द्व्यहोषितं) जिसे दो दिन तथा दो रात्रियाँ व्यतीत होचुकी हैं ऐसे (दधितक्रं) दही व छांछको–मठाको तथा (पुष्पितं) जिसपर फूलसे आगये हों ऐसी (काञ्जिकं अपि) कांजीको भी (त्यजेत्) छोडे (अन्यथा) नहीं तो (मद्यव्रतमलः) मद्य त्यागव्रतमें अतीचार ('भवति') होता है।

भावार्थ—सब प्रकारके अचार, मुरब्बेका त्याग करे। इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि कई दिनतक रहनेवाली कांजिक और बड़ी आदिका भी त्याग करे। कहा भी है—

जायन्तेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः।
सन्धानानि न वल्भ्यन्ते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः ॥ १ ॥

१–मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्। तदा पात्रादिसम्पर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ १ ॥
अर्थ—जिन घरोंमें मद्यादिकके पानका व्यवहार होता है वहां श्रावकको भोजनपान नहीं करना चाहिये और उनके पात्रोंका संपर्क नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

अचार आदिमें रसात्मक देहवाले अनंत संमुर्च्छन जीव पैदा होते हैं, इसलिये श्रावक उन सबको नहीं खाते हैं। तथा दो रात्रिका बासा दही और मठा नहीं खाना चाहिये। और जिसपर फफुंदा आगया है ऐसी दो रात्रिकी वासी कांजी नहीं खानी चाहिये।

यदि इन सबको सेवन करेगा तो मद्यादि व्रतमें अतीचार दोष लगेगा। इसका यह भाव है कि मर्यादाको उल्लंघन करके रसीली चीजोंके खानेमें मद्यव्रतका अतीचार लगता है।

अब—मांस व्रतके अतीचार—

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥ १२॥

अन्वयार्थ—(चर्मस्थं) चमड़ेमें रहनेवाला (अम्भः) जल (च) और (स्नेहः) घी, तैल आदि (च) तथा (असंहृतचर्म) चमड़ेसे आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखनेवाली (हिंगु) हींग (च) और (व्यापन्नं) स्वाद चलित (सर्वं भोज्यं) सम्पूर्ण भोजन आदिका उपयोग करना (आमिषव्रते) मांस त्याग व्रतमें (दोषः स्यात्) अतीचार होता है।

भावार्थ—चमड़ेके पात्रोंमें रक्खे हुए पानी, घी, और तेलका उपयोग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार कच्चे चमडेमें रक्खी हुई हींगका व्यवहार भी नहीं करना चाहिये। और यहां उपलक्षणसे यह भी तात्पर्य निकलता है कि चमडेके पात्रोंमें रक्खी हुई दूसरी वस्तुएं तथा जिन चलनी और सूपा आदिमें चमडा लगा हो उनसे चाली गई तथा उनमें रक्खी हुई कनक (आटा) आदिको नहीं खाना चाहिये। उसी प्रकार जिनका स्वाद बिगड गया है ऐसी रोटी वगैरह नहीं खानी चाहिये, अन्यथा मांसव्रत अतिचार आता है।

अब—मधुव्रतके अतिचार—

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती॥ १३॥

अन्वयार्थ—('मधुविरतः') मधु त्याग व्रतको पालन करनेके लिये (प्रायः) प्रायः करके (पुष्पाणि) फूलोंको (न अश्नीयात्) नहीं खावे और (व्रती) व्रती पुरुष (वस्त्यादिषु अपि) बस्त्यादिक कर्मोंमें भी (मध्वादिप्रयोगं) मधु आदिका उपयोग (नार्हति) नहीं कर सकता है।

भावार्थ—मधु व्रतकी शुद्धिके लिये प्रायः पुष्प नहीं खाना चाहिये। इस श्लोकमें आये हुए 'प्रायः' पदका यह तात्पर्य है कि जिन पुष्पोंको शोध सकते हैं ऐसे भिलावे आदिके पुष्प खाये जा सकते हैं।

यहांपर 'अपि' शब्दसे यह तात्पर्य है कि बस्तिकर्म (एनिमा) पिंडप्रदान, नेत्रांजन और सेंक आदि कार्योंमें भी मद्य, मांस और मधुका उपयोग दर्शनिक श्रावक नहीं कर सकता है।

जब उक्त कार्योंमें मद्य आदिका उपयोग नहीं कर सकता है तो स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिये और वाजीकरण आदि औषध विधिमें इनका प्रयोग वह कैसे कर सकेगा ?

अब—पंचोदुम्बर व्रतके अतिचार—

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितम्।
तद्वद्भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती॥ १४॥

अन्वयार्थ—(उदुम्बरव्रती) उदुम्बर त्याग व्रतको पालन करनेवाला श्रावक (अविज्ञातं) जिनका नाम नहीं मालूम है ऐसे (सर्व फलं) सम्पूर्ण फलोंको-अजान फलोंको (तु) तथा (अदारितं) विना चीरे हुए (वार्ताकादि) भटा वगैरहको (च) और (तद्वत्) उसी तरह (भल्लादिसिम्बीश्च) सेमकी फली आदि (न खादेत्) नहीं खावे।

भावार्थ—पांच उदुम्बरके त्यागी दर्शनिक श्रावकको कोई भी अजान फल नहीं खाना चाहिये। विदारे विना भटा, कचरिया और सुपारी आदि भी नहीं खाना चाहिये। तथा सेमकी फली आदिको भी विना फोड़े नहीं खाना चाहिये।

अब—रात्रिभोजन त्याग व्रतके अतिचारः—

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भाऽनस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति॥ १५॥

अन्वयार्थ—(अनस्तमिताशिनः) रात्रिभोजन त्याग व्रतके पालन करनेवाले श्रावकको (अह्नः) दिनके (अन्त्ये) अन्तिम (तथा) और (आद्ये) प्रथम (मुहूर्ते) मुहूर्तमें (वल्भा) भोजन करना (च) तथा (गदच्छिदेऽपि) रोगको दूर करनेके लिये भी (आम्रघृतादि उपयोगः) आम और घी वगैरहका सेवन करना (दुष्यति) अतीचार होता है।

भावार्थ—रात्रिभोजनके त्यागी दर्शनिक श्रावकको दिनके आदि मुहूर्तमें और अन्त्य मुहूर्तमें भोजन नहीं करना चाहिये। तथा रोगके दूर करनेके लिये भी उक्त कालमें आम, घी, केला आदिका सेवन नहीं करना चाहिये। आदिके और अन्तके मुहूर्तको छोड़कर दिनमें ही दवाई आदि खानी चाहिये, नहीं तो रात्रिभोजन त्याग व्रतमें अतिचार लगेगा।

जलगालन व्रतके अतिचारः—

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः॥ १६॥

अन्वयार्थ—(मुहूर्तयुग्मोर्ध्वं) दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ीके बादमें (अम्बुनः) जलका (अगालनं) नहीं छानना (वा) अथवा (दुर्वाससा) छोटे और छिद्र सहित पुराने वस्त्रसे (गालनं) छानना (वा) अथवा (गालितशेषितस्य) छाननेके बादमें बचे हुए (अस्य)

जलका (अन्यत्र वा) दूसरे ही (निपाने) जलाशयमें (न्यासः) क्षेपण करना—डालना (तद्व्रते) जलगालन रूप व्रतमें (नार्च्यः) योग्य नहीं है।

भावार्थ—जलगालनके व्रतवाले श्रावकको दो मुहूर्तके अनंतर पानीको नहीं छानने, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रसे पानी छानने, विलछानीको अन्य जलाशयमें डालनेसे व्रतमें अतिचार लगते हैं।

"पंचुंबरसहियाइं सत्तवि वसणाइ जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ॥"

जो पांच औदुंबर और सात व्यसनोंका त्याग करता है तथा जिसकी मति सम्यग्दर्शनसे निर्मल होगई है वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक कहा जाता है। यह वसुनन्दि आचार्यके मतसे दर्शन प्रतिमावालेका लक्षण है।

अब—द्यूत आदि सप्तव्यसनोंके त्यागका उपदेश देनेके लिए इन व्यसनोंके द्वारा इहलोकमें और परलोकमें जो अपाय और अवद्य (पाप) होता है उसीको उनके प्रसिद्ध उदाहरणों द्वारा बताते हैं—

द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विप-
च्चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च।
पापर्द्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते
द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यस्त्रिधा॥ १७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे कि (द्यूतात्) जुआ खेलनेसे (धर्मतुजः) धर्मपुत्रको-युधिष्ठिरको (पिशितात्) मांस खानेसे (बकस्य) बक नामके राजाको (मद्यात्) मदिरा पीनेसे (यदूनां) यादवोंको—यदुवंशियोंको (कामुकया) वेश्या सेवन करनेसे (चारोः) चारुदत्त नामके सेठको (चुरया) चोरी करनेसे (शिवस्य) शिवभूति नामक ब्राह्मणको (पापर्द्ध्या) शिकार खेलनेसे (ब्रह्मदत्तस्य) ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्तीको (च) और (परदारतः) परस्त्रीके सेवन करनेकी अभिलाषासे (दशमुखस्य) रावणको (उच्चैः विपत्) बडी भारी विपत्ति भोगना पड़ी थी ऐसा (अनुश्रूयते) पूर्वपरम्परासे सुना जाता है (तत्) तिस कारणसे (आर्यः) दार्शनिक श्रावक (त्रिधा) मन, वचन, काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे (घोरदुरितानि) दुर्गति सम्बंधी दुःखोंके कारणभूत हिंसादिक पाप होते हैं जिन्होंसे ऐसे, अर्थात् दुर्गतिके दुःखोंको देनेवाले हिंसादिक पापोंके कारणभूत (द्यतादिव्यसनानि) जुआ आदि सातों ही व्यसनोंको (उज्झेत्) छोड़े—उनका त्याग करे।

भावार्थ—जुआके व्यसनसे धर्मराजको, मांससेवनकी वासनासे बकराजाको, मद्यसेवनसे यादवोंको, वेश्यासेवनके व्यसनसे चारुदत्त सेठको, चोरीकी आदतसे शिवभूति द्विजको, शिकारके करनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीको और परदारकी अभिलाषासे रावणको बड़ी भारी विपत्तिकी प्राप्ति हुई है ऐसा

शास्त्रोंमें देखनेमें आता है, अतएव दार्शनिक श्रावकको मन, वचन और कायसे इन सप्त व्यसनरूपी महापापोंका त्याग करना चाहिये।

अब—व्यसन शब्दकी निरुक्ति बताकर द्यूतादि महापाप आत्माको श्रेयसे परावृत्त करनेवाले हैं इसलिए इन व्यसनोंके त्यागका और इन्हींके समान श्रेयोमार्गसे च्युत करानेवाले उपव्यसनोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

जाग्रत्तीव्रकपायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै-
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रतः
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे (जाग्रत्तीव्रकपायकर्कशमनस्कारार्पितैः) निरन्तर उदयमें आनेवाले तीव्र क्रोधादिकके निमित्तसे कठोर हुआ अर्थात् कर्मोंके दृढ बन्धको करनेवाला जो चित्तका उपयोग है—आत्माका परिणाम है उस आत्माके परिणामके द्वारा आत्मासे संयोजित किये गये अर्थात् उस आत्माके परिणामके निमित्त उत्पन्न होनेवाले (दुष्कृतैः) पापोंके द्वारा (तमः तरत् अपि) मिथ्यात्वको उलंघन करनेवाले भी (चैतन्यं) चैतन्यको (तिरयत्) आच्छादित करनेवाले (द्यूतादि) जुआ आदि सातों ही व्यसन (पुंसः) पुरुषको (श्रेयसः) कल्याणमार्गसे (व्यस्यति) भ्रष्ट कर-देते हैं (तत्) तिस कारणसे उनको (विदः) विद्वान लोग (व्यसनं इति आख्यान्ति) व्यसन इस शब्दसे कहते हैं (अतः) इसलिए (तद्व्रतः) जुआ आदि सप्त व्यसनोंका त्याग करनेवाला श्रावक (तत्सोदरीं) जुआ आदि व्यसनोंकी बहिन (रसादिसिद्धिपरतां अपि) रसादिकोंके सिद्ध करनेकी तत्परताको भी (दूरगां कुर्वीत) दूर रहनेवाली करे अर्थात् दूर करे।

भावार्थ—मनुष्यकी जो आदत, मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त करनेवाले, सम्यग्दर्शनयुक्त चैतन्यको भी श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट कर देती है उस आदतको ज्ञानीजन व्यसन कहते हैं। अतः व्यसनका त्याग करनेवाला दार्शनिक, इन सात व्यसनोंकी सहोदरी—बहिन रसादि सिद्धिपरताको भी छोड़े। क्योंकि इन कामोंमें भी मनकी वृत्ति व्यसनके समान श्रेयोमार्गसे परावृत्त करनेवाली होती है। इसलिए सातों ही व्यसनोंको तथा इसी प्रकारके जो उपव्यसन हैं जैसे कि ऐसा करनेसे सोना बनाया जासकता और बड़ा धनीपना प्राप्त होसकता है। यदि ऐसा अंजन बनाया जावे कि जिससे पृथ्वीमें गड़ा हुआ धन आंखोंसे दिखने लगे तो बडा काम हो जावेगा, ऐसे अंजन तैयार करनेकी तत्परताको तथा ऐसी खडाऊं मन्त्रादिकसे सिद्ध की जावे कि जिनके योगसे चाहे जहां अदृश्य होकर जाना हो सकता है इत्यादि कामोंके लिए रातदिन लगे रहना और सब धर्म कर्म छोड़ देना यह सब उपव्यसन हैं, इनको भी छोड़ना चाहिये।

अब—द्यूतव्यसन व्रतके अतिचार:—

दोषो होढाद्यपि मनो-विनोदार्थं पणोज्झिनः।
हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(पणोज्झिनः) जुआ वगैरहके त्याग करनेवाले श्रावकको (मनोविनोदार्थं अपि) मनोविनोदके लिये भी (हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात्) हर्ष और क्रोध इन दोनोंकी उत्पत्तिका कारण होनेसे (होढादि) शर्त लगाकर दौडना, जुआ देखना आदि (दोषः) अतीचार ('भवति') होता है (हि) क्योंकि (अञ्जसा) वास्तवमें (कषायः) रागद्वेषरूप आत्माके परिणाम (अंहसे) पापके लिये कारण होते हैं।

भावार्थ—जुवाके त्यागी दार्शनिकको मनोविनोदके लिये भी किसी काममें शर्त लगाना, हर्ष विषादका कारण होनेसे दोष है। इस श्लोकमें आये हुए 'आदि' शब्दसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि जुवाके त्यागी दार्शनिकको जुवाका देखना भी दोष है। क्योंकि वास्तवमें रागद्वेषकी प्रवृत्ति ही पापकी जनक है।

अब—वेश्याव्यसन व्रतके अतीचार—

त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां पिङ्गसङ्गतिम्।
नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(पण्याङ्गनात्यागी) वेश्या व्यसनका त्याग करनेवाला श्रावक (तौर्यत्रिकासक्तिं) गीत नृत्य और वाद्यमें—बाजेमें आसक्तिको (वृथाट्यां) विना प्रयोजन घूमनेको (पिङ्गसङ्गतिम्) व्यभिचारी पुरुषोंकी सङ्गतिको (च) तथा (तद्गेहगमनादि) वेश्याके घर जाने आदिको (नित्यं) सदैव ही (त्यजेत्) छोडे।

भावार्थ—वेश्या व्यसनके त्यागी दार्शनिकको गाने, बजाने और नाचनेकी आसक्तिका सदैव त्याग कर देना चाहिये। यहां 'आसक्ति' पदके देनेका यह तात्पर्य है कि चैत्यालय आदिमें गीतका सुनना, बाजा बजाना आदि वगैरह दोषजनक नहीं है। उसीप्रकार विना प्रयोजनके आवारा घूमनेका त्याग करना चाहिये। गुण्डोंकी संगति छोडनी चाहिये और वेश्याके यहां जाना, आना उसके साथ संभाषण करना और उनका आदर सत्कार करना इन सबका भी त्याग कर देना चाहिये।

अब—चौर व्यसन व्रतके अतिचार—

दायादाज्जीवतो राज-वर्चसाद्गृह्णतो धनम्।
दायं वाऽपह्नुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचिः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(राजवर्चसात्) राजाके तेजसे—प्रतापसे (जीवतः) जीवित (दायादात्) वगैरहसे (धनं) धनको (गृह्णतः) गृहण करनेवालेके (वा) अथवा (दायं) कुलकी साधारण

सम्पत्तिको (अपह्नुवानस्य) भाई वगैरहसे छिपानेवालेके (अचौर्य व्यसनं) अचौर्यव्रत (क्व) कहां पर (शुचिः) निरतिचार हो सक्ता है अर्थात् कहीं पर भी नहीं होसकता है ।

भावार्थ—हक्दारके मौजूद रहते हुए राजतेजसे अर्थात् कानूनी दावपेंचसे अपने भाईबंदके हक्कों ग्रहण करनेवालेके अथवा दूसरेके हकका अपलाप करनेवालेके अचौर्य व्यसनका त्याग निर्मल कैसे रह सक्ता है ? इसका यह भाव है कि यदि अपना हकीकी कुटुम्बी मर जावे तो अपने हक्के अनुसार उसकी जायदाद लेनेमें कोई दोष नहीं है ।

अब—आखेट (शिकार) व्रतके अतिचार—

वस्त्रनाणकपुस्तादि-न्यस्तजीवच्छिदादिकम् ।
न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धि-स्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(त्यक्तपापर्द्धिः) शिकार व्यसनका त्याग करनेवाला श्रावक (वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकं) वस्त्र, सिक्का और काष्ठ पाषाण आदि शिल्पमें निकाले गये—बनाये गये जीवोंके छेदनादिकको (न कुर्यात्) नहीं करे (हि) क्योंकि (तत्) वस्त्रादिकमें स्थापित किये गये—बनाये गये जीवोंका छेदनभेदन (लोकेऽपि) केवल शास्त्रमें ही नहीं किन्तु लोकमें भी (गर्हितं) निन्दित है ।

भावार्थ—शिकारके व्यसनका त्यागी दार्शनिक श्रावक वस्त्रमें छपे हुए, सिक्कोंमें उकेरे हुए, लेप और चित्रोंमें अङ्कित तथा काठ व हाथीदांतसे बने हुए (अर्थात् उनमें स्थापित) जीवोंके आकारको फाडे चीरे नहीं, क्योंकि ऐसा करना व्यावहारिक लोगोंकी दृष्टिमें भी बुरा समझा जाता है।

अब—परदार व्यसनके अतिचार—

कन्यादूषणगान्धर्व-विवाहादि विवर्जयेत् ।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—('परदारवर्जी') परस्त्री व्यसनका त्याग करनेवाला श्रावक (परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया) परस्त्री व्यसनके त्याग रूप व्रतकी शुद्धिको करनेकी इच्छासे (कन्यादूषणगान्धर्वविवाहादि) कन्याके लिये दूषण लगानेको और गान्धर्व विवाह आदि करनेको (विवर्जयेत्) छोडे ।

भावार्थ—परस्त्री व्यसनका त्यागी अपने व्रतोंकी शुद्धिके लिये स्वार्थवश किसी कन्यामें दोष न लगावे, गंधर्व विवाह और हरण विवाह न करे । माता, पिता और बन्धुजनोंकी सम्मतिके विना ही वर और वधू जो परस्परके अनुरागसे विवाह करते हैं उसे गंधर्वविवाह कहते हैं । जो कन्याका हरण करके विवाह किया जाता है उसे हरण विवाह कहते हैं ।

मूलगुणोंके अतिचार बताते समय मद्य और मांसके अतिचार बता चुके हैं । अब—जिस बातका

व्रत स्वयं किया है उस बातका प्रयोग दूसरेसे नहीं कराना चाहिए तभी वह व्रत निर्मल रह सकता है अन्यथा नहीं, यह बताते हैं—

व्रसते यदिहामुत्रा-प्यपायावद्यकृत्स्वयम् ।
तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैव तद्व्रतशुद्धये ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोकमें (अपि) और (अमुत्र) परलोकमें भी (अपायावद्यकृत्) अकल्याण तथा निन्दाको करनेवाली (यत्) जो वस्तु (स्वयं) स्वतः-खुद (व्रत्यते) सङ्कल्पपूर्वक छोड दी जाती है (तत्) वह वस्तु (तद्व्रतशुद्धये) उस २ प्रकृत व्रतको निर्मल करनेके लिये (परेऽपि) दूसरे पुरुषमें (नैव प्रयोक्तव्यं) प्रयोग करनेके योग्य नहीं है अर्थात् उस वस्तुका दूसरे पुरुषमें भी प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—इस लोकमें निंदनीय और परलोकमें पापको उत्पन्न करनेवाली जिस चीजका त्याग करके स्वयं "व्रत" लिया जाता है उस वस्तुका दूसरोंके प्रति भी प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसका भाव यह है कि संकल्पपूर्वक त्याग की हुई वस्तुका सेवन दूसरोंसे भी नहीं करना चाहिये ।

इसप्रकार पहिली दर्शन प्रतिमाधारक श्रावकको अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेके लिए इन आगेके पद्योंसे शिक्षा देते हैं—

अनारम्भवधं मुञ्चेच्चरेन्नारम्भमुद्धुरम् ।
स्वाचाराप्रतिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—('दर्शनिकः') दार्शनिक श्रावक (अनारम्भवधं) कृष्यादिक आरम्भसे अन्यत्र होनेवाली हिंसाको अर्थात् चलने, फिरने, उठने, बैठने आदिमें होनेवाली हिंसाको (मुञ्चेत्) छोडे और (उद्धुरं आरम्भं) अपने द्वारा ही निर्वाह करनेके योग्य है सम्पूर्ण भार जिसका ऐसे अर्थात् जिस आरम्भका सम्पूर्ण भार अपनेको ही उठाना पडे ऐसे आरम्भको (न चरेत्) नहीं करे तथा (स्वाचाराप्रतिलोम्येन) अपने द्वारा ग्रहण किये गये व्रतोंका घात नहीं करके (लोकाचारं) लौकिक आचारको (प्रमाणयेत्) प्रमाण करे, उसमें किसी तरहका विसंवाद नहीं करे ।

भावार्थ—दार्शनिक श्रावकको अनारम्भ हिंसाका त्याग करना चाहिये, अर्थात् आवश्यक कृषि आदि क्रियाके आरम्भको छोडकर सब संकल्पी हिंसाका त्याग कर देना चाहिये । इस कथनसे संकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश होनेके कारण पांच अणुव्रतोंके पालनेका विधान सिद्ध हो जाता है, इसलिये 'दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः' स्वामी समन्तभद्रके इस दर्शन प्रतिमाके लक्षणका भी संग्रह होजाता है । और स्वयं कृषि आदि कर्म न करे किन्तु नौकरोंसे करावे । क्योंकि धर्मकर्मके अनुष्ठानमें स्वयं आरम्भ करनेसे चित्त जैसा अधिक आकुलित होता है वैसा दूसरोंके करानेसे आकुलित नहीं होता है । तथा लोकाचारको प्रमाण मानकर लौकिक व्यवहार करे ।

अब—धर्मके विषयमें धर्मपत्नीको सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिये यह बताते हैं—

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् ।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(**'दर्शनिकः'**) दार्शनिक श्रावक (**परं प्रेम नयन्**) अपनेमें तथा धर्ममें उत्कृष्ट प्रेमको करता हुआ (**पत्नीं**) अपनी स्त्रीको (**धर्मे**) धर्ममें (**व्युत्पादयेत् तरां**) अपने कुटुम्बके लोगोंकी अपेक्षासे अधिक व्युत्पन्न करे (**हि**) क्योंकि (**मुग्धा**) मूर्ख (**वा**) अथवा (**विरुद्धा**) अपनेसे विरुद्ध (**सा**) वह स्त्री (**धर्मात्**) धर्मसे (**'पुरुषं'**) पुरुषको (**भ्रंशयतेतरां**) परिवारके लोगोंकी अपेक्षासे अधिक भ्रष्ट कर देती है ।

भावार्थ—अपने तथा धर्मके विषयमें अपने कुटुम्बीजन व अपनी स्त्रीको प्रेम पैदा कराते हुए व्युत्पन्न करे और स्त्रीको तो कुटुम्बीजनोंसे भी अधिक व्युत्पन्न करे । अथवा स्त्रीको अर्थादि पुरुषार्थकी अपेक्षासे भी धर्मके विषयमें अधिक व्युत्पन्न करे । क्योंकि धर्मके विषयमें अजानकार और अपने व धर्मके विषयमें द्वेष करनेवाली स्त्री, पुरुषको धर्मसे अतिशीघ्र भ्रष्ट कर देती है । इसका सारांश यह है कि जिनके कुटुम्बीजन व स्त्री, धर्मके जानकार तथा प्रेमी नहीं रहते हैं, वे पुरुषको धर्मसे पराङ्मुख करनेका प्रयत्न करते हैं । इसलिए कुटुम्बियोंको और खासकर अपनी पत्नीको प्रेमपूर्वक धर्मके मार्गकी जानकार बनाना चाहिए ।

अब—पूर्वपद्यमें कहे हुए "प्रेम परं नयन्" इस वाक्यका समर्थन करते हैं—

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणम् ।
तन्नोपेक्षेत् जातु स्त्रीं वाञ्छल्लोकद्वये हितम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(**स्त्रीणां**) स्त्रियोंको (**पत्युरुपेक्षैव**) पतिकी उपेक्षा ही—अनादर ही (**परं**) उत्कृष्ट (**वैरस्य**) वैरका (**कारणं**) कारण (**"भवति"**) होता है (**तत्**) इसलिए (**लोकद्वये**) इसलोक और परलोकमें (**हितं**) सुखको (**वाँञ्छन्**) चाहनेवाला पुरुष (**जातु**) कभी भी (**स्त्रीं**) स्त्रीको (**नोपेक्षेत्**) उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखे अर्थात् कभी भी उसका अनादर नहीं करे ।

भावार्थ—इसलोक और परलोकमें हितका चाहनेवाला पुरुष अपनी स्त्रीके साथ धर्मादिक सभी कार्योंमें प्रेमका व्यवहार करे, कभी भी उसकी उपेक्षा न करे, क्योंकि स्त्रीके प्रति पतिका केवल उपेक्षाभाव ही स्त्रियोंके वैरका कारण होता है । स्त्रियां जितनी पतिके उपेक्षाभावसे अर्थात् अप्रेम व्यवहारसे असंतुष्ट रहती हैं उतनी पतिकी कुरूपता और निर्धनता आदिसे नहीं ।

अब—धर्मादिकको चाहनेवाली कुलीन स्त्रियोंको भी अपने पतिके अनुकूल ही अपना वर्ताव करना चाहिए, यह प्रसंगानुसार उपदेश देते हैं—

नित्यं भर्तृमनीभूय वर्तितव्यं कुलस्त्रिया।
धर्मश्रीशर्मकीर्त्येकक्केतनं हि पतिव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(कुलस्त्रिया) कुलीन स्त्रियोंको (भर्तृमनीभूय) पतिके चित्तके अनुकूल ही (नित्यं) सदैव (वर्तितव्यं) आचरण करना चाहिये–चलना चाहिये (हि, क्योंकि (पतिव्रताः) पतिव्रता स्त्रियां ही (धर्मश्रीशर्मकीर्त्येकक्केतनं) धर्म, श्री, सुख और कीर्तिका एक घर अथवा ध्वजा ('भवन्ति') होती है।

भावार्थ—कुलीन स्त्रियोंको भी सदैव मन, वचन और कायसे अपने पतिके अनुकूल रहकर ही सब व्यवहार करना चाहिये। अर्थात् पतिके विचार, संभाषण और चेष्टाओंके अनुकूल सदैव अपना वर्ताव करना चाहिये। क्योंकि पतिसेवापरायणा अथवा पतिसेवाको शुभकर्म समझनेवाली स्त्री धर्म, विभूति, आनन्द और कीर्तिकी उत्कृष्ट पताका या घर समझी जाती है।

अब—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके इच्छुक श्रावकको अपनी धर्मपत्निमें भी अत्यासक्ति नहीं रखनी चाहिए—

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत्।
क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—('दर्शनिकः') दार्शनिक श्रावक (अन्नवत्) अन्नकी तरह (देहमनस्तापशमान्तं) शारीरिक तथा मानसिक सन्तापकी शांति पर्यंत ही (स्त्रियं) स्त्रीको (भजेत्) सेवन करे (खलु) क्योंकि (तदतिसेवया) अन्नकी तरह स्त्रीके भी अधिक सेवन करनेसे (धर्मार्थकायाः) धर्म अर्थ और शरीर ये तीनों ही (क्षीयन्ते) क्षयको प्राप्त होजाते हैं, नष्ट होजाते हैं।

भावार्थ—जैसे शरीर और मनके सन्तापकी शांति जितनेसे हो उतना ही अन्न खाना चाहिए, उसी प्रकार श्रावकको देह और मनके सन्तापकी शांति जितनेसे होती है उतने ही परिमाणमें स्त्री संसर्ग करना चाहिए, आसक्तिसे नहीं। क्योंकि अन्नके समान स्वदारजनित विषयोंकी अधिकतासे भी धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका नाश होता है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रावकका स्वदार सेवन भी अनासक्तिपूर्वक और मर्यादा सहित होना चाहिए।

अब—अपनी धर्मपत्नीमें पुत्र उत्पन्न करनेके लिए और उसको अपने कुलाचारमें व्युत्पन्न करनेका उपदेश देते हैं—

प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मजम्।
व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—('दर्शनिकः') दार्शनिक श्रावक (सधर्मिण्यां) अपनी धर्मपत्नीमें (आत्मजं) पुत्रको (उत्पादयितुं) उत्पन्न करनेके लिये (प्रयतेत) प्रयत्न करे (अथ) और (स्ववत्) अपने

समान ही (' आत्मजं ') पुत्रको (आचारे) कुललोक सम्बन्धी व्यवहारमें (व्युत्पादयितुं) व्युत्पन्न करनेके लिये तथा (अपथात्) खोटे मार्गसे-दुराचारसे (त्रातुं) रक्षा करनेके लिये (' प्रयतेत ') प्रयत्न करे।

भा०—क्षेत्रज आदिके भेदोंसे पुत्र ग्यारह प्रकारके होते हैं। उन सबके कथनका यहां प्रयोजन नहीं है। किन्तु कुल स्त्रीकी रक्षाके लिए आत्मज-औरस पुत्रसे ही प्रयोजन है। अतः अपनी सधर्मिणीमें औरस पुत्रके उत्पन्न करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए और उसे कुलाचार तथा लोक व्यवहारमें अपने समान विज्ञ बनानेका तथा दुराचारसे बचानेका प्रयत्न करना चाहिए।

१-अष्टांगहृदयके अनुसार पुत्रोत्पादन विधि इस प्रकार है:—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता। शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ १ ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ २ ॥
शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहुलं बहु। घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भायार्त्तवं पुनः ॥ ३ ॥
लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते। शुद्धशुक्रार्त्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥ ४ ॥
स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितवस्तिकम्। नरं विशेषात्क्षीराद्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥ ५ ॥
नारीं तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत्। क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम् ॥ ६ ॥
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम्। पद्मं सङ्कोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा ॥ ७ ॥
ऋतावतीते-योनिः स्याच्छुक्रं नातः प्रतीच्छति। मासेनोपचितं रक्तं धमनिभ्यामृतौ पुनः ॥ ८ ॥
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत्। ततः पक्षेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम् ॥ ९ ॥
स्रजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी। क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्शनम् ॥ १० ॥
पर्णे शरावे हस्ते वा भुंजीत ब्रह्मचारिणी। चतुर्थेऽह्नि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ॥ ११ ॥
इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम्। ऋतुस्तु द्वादश निशाः पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ॥ १२ ॥
एकादशी च युग्मासु स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका।

अर्थ—जिसका गर्भाशय, रक्त, शुक्र और कोठेकी वायु और मन शुद्ध है इस प्रकारकी १६ वर्षकी स्त्री यदि वीस वर्षके वयस्क पुरुषसे समागम करे तो शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न होता है और इस अवस्थासे कमके स्त्री पुरुषोंके समागमसे पहले तो संतान नहीं होगी और यदि होगी तो रोगी होगी या अल्पायुष्क होगी तथा अधन्य होगी। पुरुषका शुक्र यदि शुक्लवर्ण, गुरु (वजनदार) स्निग्ध, मधुर और विपुल हो तथा घृत तैल और मधुके समान हो तभी वह अच्छे गर्भके लिये समर्थ होता है। और स्त्रीका आर्जव (रज) भी जो लाखके समान तथा खरगोशके रक्त समान हो और जिसको धोने पर दाग छूट जाय तो वह आर्तव गर्भके लिये युक्त है। ऊपर बताये हुए शुद्ध शुक्र और शोणितके अनुसार जिन युवक और युवतियोंका (दंपतियोंका) शुद्ध शुक्र और रक्त है और परस्परमें गाढ स्नेह है उनके योग्य संतान होती है। पुरुषको मधुर औषधोंसे संस्कृत दूध वगैरह पीना चाहिये और स्त्रीको तेल उडद तथा पित्तकारक पदार्थोंसे बलवृद्धिका उपचार करते रहना चाहिये। जिस समय स्त्रीका मुख क्षाम (कृश) और प्रसन्न हो, कमर व स्तनके भागमें स्फुरण होरहा हो व उसके नेत्र व उदर गलितसे मालूम पडते हों उस समय उसे पुरुष समागमकी इच्छा रखनेवाली तथा ऋतुमती समझना चाहिये। जैसे सूर्यके डूबते समय कमल संकुचित होते हैं वैसे ही ऋतुकालके पूर्ण होनेपर स्त्रीका योनि कमल भी संकुचित होने लगता है और फिर वह शुक्र ग्रहण

अब—सुपुत्रके विना श्रावकको ऊपरकी प्रतिमा धारण करनेमें प्रोत्साहन नहीं मिल सकता इसीको उदाहरण द्वारा बताते हैं—

विना सुपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः।
गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(सुशिष्यं 'विना') उत्तम शिष्यके विना (गणिवत्) धर्माचार्यकी तरह (सुपुत्रं विना) उत्तम पुत्रके विना (गृही) गृहस्थ-दार्शनिक श्रावक (कुत्र) कहांपर (स्वं भारं) अपने भारको (न्यस्य) स्थापित करके—रख करके (निराकुलः) निराकुल होता हुआ (परे पदे) उत्कृष्ट पदमें (प्रोत्सहेत) उत्साहको करे।

भावार्थ—जैसे आचार्यको अपने समान शिष्यको योग्य बनाना चाहिए और उसके ऊपर संघके शासनका भार सौंपकर मोक्षमार्गमें प्रयत्न करना चाहिये। यदि योग्य शिष्य न हो तो आचार्य धर्मरक्षाका भार किसके ऊपर सौंपकर आत्मकल्याणमें प्रवृत्त हो सकेंगे? उसी प्रकार दार्शनिक श्रावकको भी व्रतिक आदि ९ भागसे हिंसादिकके त्यागवाली आगेकी व्रतिक आदि प्रतिमाओंके ग्रहण करनेके लिए अर्थात् अव्रविरत पञ्चमि दूसरी आदि प्रतिमाओंके पालनेके लिए अपने समान योग्य पुत्रकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। नहीं तो वह अपने द्वारा पोषण करने योग्य अपनी गृहस्थीके भारको किसके ऊपर सौंपकर और निराकुल होकर अपने इष्ट द्वितीय प्रतिमादिकके मार्गको प्राप्त करेगा?

अब—दर्शन प्रतिमाके स्वरूपका उपसंहार करते हुए दूसरी प्रतिमाके धारण करनेकी योग्यताको बताते हैं—

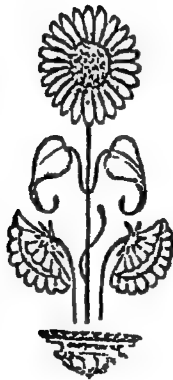
दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरम्।
विरज्यन् सत्त्वसज्जः सन्व्रती भवितुमर्हति ॥ ३२ ॥

करनेमें असमर्थ भी होती है। गर्भिनभरमें स्त्रीकी योनिमें जो रक्त संचित होता है उसे कोठेकी वायु धमनियोंके द्वारा जननेन्द्रियके मार्गसे बाहर डालती है। वह रक्त थोडासा कृष्णवर्णका होता है, दुर्गंधरहित होता है। इस प्रकार ऋतुमती स्त्री होती है और उसको इन तीन दिनोंमें अपने विचार पवित्र रखना चाहिये तथा इन ३ दिनोंमें स्नान नहीं करना चाहिये। अलंकार रहित रहना चाहिये। शय्यापर शयन नहीं करना चाहिये। उसे कोठेको शुद्ध करनेवाले अथवा मल शुद्ध करनेवाले दूधमें पकाये गये जौ की चीजोंको थोडा खाना चाहिये, भोजन पत्ते पर या माटीके बर्तनमें करना चाहिये, ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होकर स्वच्छ वस्त्र पहिनकर सफेद फूलोंकी माला पहननी चाहिये। फिर अपने पति जैसा पुत्र होवे, इस भावनासे पतिके मुखका अवलोकन करना चाहिये। स्त्रीका यह ऋतुकाल १२ दिन तक रहता है, इनमेंसे पहले ३ दिवस और ११ वीं रात निषिद्ध है। और शेष रात्रियोंमें समरात्रियोंमें समागम करनेसे पुत्र होता है और विषम रातोंमें समागम करनेसे पुत्री होती है।

अन्वयार्थ—(इत्थं) इस प्रकारसे ('श्रावकः') श्रावक (दर्शनप्रतिमां) दर्शन प्रतिमाको (आरुह्य) धारण करके (विषयेषु) विषयोंमें (अरं) पाक्षिक श्रावककी अपेक्षासे तथा अपनी पूर्वकी—पहलेकी अवस्थाकी अपेक्षासे अधिक (विरज्यन्) विरक्त और (सत्वसज्जः सन्) धैर्य वगैरह सात्विक भावोंसे युक्त होता हुआ (व्रती भवितुं) व्रती होनेके लिये (अर्हति) योग्य है।

भावार्थ—इस प्रकार दर्शन प्रतिमाका भले प्रकार पालन करके पाक्षिक अपेक्षासे अथवा स्वतः प्राथमिक अवस्थासे भी विशेष वैराग्यभावनाका धारक श्रावक सत्व धैर्यादिक गुणोंसे सुसज्जित होकर आगेकी व्रत प्रतिमाके पालनेके योग्य होता है।

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ धर्मामृत सागारधर्मको प्रकाश करनेवाली भव्यकुमुदचन्द्रिका नामकी टीकामें आदिसे १२ वां और सागारधर्मके निरूपणाकी अपेक्षासे तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ।



चौथा अध्याय।

अब—आगेके तीन अध्यायोंमें व्रत प्रतिमाका वर्णन करेंगे। उसमें प्रथम ही व्रत प्रतिमाका वर्णन करते हैं—

सम्पूर्णदृग्मूलगुणो निःशल्यः साम्यकाम्यया।
धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान्व्रतिको भवेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णदृग्मूलगुणः) निरतिचार होनेसे अखण्ड है सम्यक्त्व और मूलगुण जिसके ऐसा तथा (निःशल्यः) शल्य रहित होता हुआ (साम्यकाम्यया) इष्टानिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेषके विनाश करनेकी इच्छासे (अक्षूणान्) निरतिचार (उत्तरगुणान्) वक्ष्यमाण उत्तर गुणोंको (धारयन्) धारण करनेवाला पुरुष (व्रतिकः) व्रतिक (भवेत्) होता है—व्रती कहलाता है।

भावार्थ—रागद्वेषके उपरमकी (विनाशकी) भावनासे वक्ष्यमाण ५ अणुव्रत ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रतोंको कष्ट न मानकर धारण करनेवाला, पहिली प्रतिमासे सम्बंध रखनेवाले सम्यग्दर्शन और अष्ट मूलगुणोंको, उपयोग मात्रके अवलम्बन रूप अंतरंग रीतिसे और चेष्टा मात्रके अवलम्बन रूप बहिरंग रीतिसे, अतिचार रहित पालनेवाला, और तीन प्रकारके शल्योंसे दूर रहनेवाला श्रावक व्रतिक होता है। यहां शरीर तथा मनकी बाधाका हेतु होनेसे शल्यको कांटेकी उपमा दी गई है। इसलिए शल्य (कांटे) के समान चुभनेवाले कर्मोदयको शल्य कहते हैं। वह शल्य माया मिथ्या और निदानके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे मिथ्या शल्यका अर्थ विपरीताभिनिवेश है। मायाका अर्थ वंचना=ठगना है और

१–तप और संयमके प्रभावसे किसी प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाको निदान कहते हैं। और वह निदान प्रशस्त अप्रशस्तके भेदसे २ प्रकार है। उनमेंसे प्रशस्त निदान भी २ प्रकारका है। १ विमुक्तिके लिये, २ रा संसारके लिये। उनमेंसे कर्मोंके क्षयकी इच्छा रखना विमुक्ति–विषयक निदान है। उक्तं च—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम्। आकांक्षितं क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥
जिनधर्मसिद्ध्यर्थं तु जात्याद्याकाङ्क्षणं संसारनिमित्तम्। जातिं कुलं बन्धविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै ॥
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानम्। मोक्षेऽपि मोहादभिलापदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ॥
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलापः ॥

अर्थ—अपनी कषायोंकी क्षीणताके एवज़में कर्मोंका नाश, संसार–दुःखोंके उच्छेद, बोधिकी प्राप्ति, समाधिकी प्राप्ति और जिनभगवानके स्वरूपकी बोधिकी सिद्धिकी वांच्छा करना विमुक्तिनिमित्तक निदान है। जिनधर्मकी आराधनाके लिये सत्–जाति आदि परमस्थानकी इच्छा करना, संसारनिमित्त निदान है अथवा जिनधर्मकी सिद्धिके लिये जाति, कुल, बंधका अभाव और निर्ग्रंथता आदिको जो अपनी विशुद्धिवृत्तिके एवज़में चाहता है वह संसार निमित्त निदान है। वास्तवमें देखा जाय तो मोक्षकी इच्छा करना भी अभिलाप दोष होनेसे, मोक्षका प्रतिबंधक है अर्थात् जबतक मोक्षकी वांच्छा करते रहोगे मोक्ष नहीं मिलेगा इसीलिये मुमुक्षुको अपनी आत्मामें लीन होना चाहिये। किसी विषयकी वांच्छा करनेकी उसे क्या जरूरत है।

निदानका अर्थ किये हुए तप और संयमके द्वारा किसी प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषा है।

शंका—यहां व्रतिकके लक्षणमें "संपूर्ण दृग्मूलगुणः" इस पदके ग्रहण करनेसे काम चल सकता है फिर निःशल्य विशेषण देनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यद्यपि निरतिचार सम्यग्दर्शन और अष्टमूलगुण पालनेवाला व्रतिक होता है, इस कथनसे भी निःशल्यताका बोध हो सकता है परन्तु शुरूमें व्रत ग्रहण करनेवाले व्रतिकके पूर्व संस्कार-वश शल्योंके थोडे बहुत अनुसरणकी आशङ्का रहती है और उसके निवारण करनेके लिए 'निःशल्य' यह विशेषण दिया है अथवा उपदेशके लिए—स्पष्ट करनेके लिए निःशल्य यह विशेषण दिया है और उपदेशके लिए पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

व्रतीको तीनों शल्योंको क्यों दूर करना चाहिए ?

सागारो वाऽनगारो वा यन्निःशल्यो व्रतीष्यते।
तच्छल्यवत्कुदृङ्मायानिदानान्युद्धरेद्धृदः॥ २॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे (निःशल्यः) शल्यरहित (सागारः) गृहस्थ (वा) अथवा (अनगारः वा) मुनि ही (व्रती) व्रती (इष्यते) माना जाता है (तत्) तिस कारणसे ('व्रतार्थी') व्रतको चाहनेवाला पुरुष (शल्यवत्) शल्यकी तरह (कुदृङ्मायानिदानानि) मिथ्यात्व, माया और निदानको (हृदः) हृदयसे (उद्धरेत्) दूर करे।

भावार्थ—मुनि व श्रावक कोई हो विना शल्यके त्यागके वह व्रती नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्या, माया और निदान इन तीनों ही शल्योंको व्रती होनेवालेको अपने हृदयसे निकाल डालना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे केवल गाय भैंसोंके पालनेसे कोई 'गोमान्' नहीं कहलाता किन्तु दुध देनेवाली गाय भैंसोंके योगसे ही वह सच्चा 'गोमान्' कहलाता है, उसी प्रकार केवल व्रतोंके पालनेसे कोई "सच्चे व्रती" इस पदका अधिकारी नहीं है, किन्तु निःशल्य होकर व्रत पालनेसे ही वह व्रती पदके योग्य होता है।

शल्य सहित व्रत दुःखप्रद होनेसे धिःक्कारयोग्य होते हैं—

आभान्त्यसत्यदृङ्मायानिदानैः साहचर्यतः।
यान्यव्रतानि व्रतवद् दुःखोदर्काणि तानि धिक्॥ ३॥

अन्वयार्थ—(दुःखोदर्काणि) दुक्ख ही है उत्तरफल जिन्होंका ऐसे (यानि अव्रतानि) जो अव्रत (असत्यदृङ्मायानिदानैः) मिथ्यात्व, माया और निदानके (साहचर्यतः) सम्बन्धसे (व्रतवत्) व्रतोंकी तरह (आभान्ति) मालूम होते हैं (तानि) उन अव्रतोंको (धिक्) धिक्कार है।

भावार्थ—मिथ्या माया और निदान, इन तीन शल्यके सहयोगके निमित्तसे, जो व्रताभास

व्रतके समान मालूम पडते हैं उनका फल संवर और निर्जरा नहीं है किन्तु दुःख है, (आस्रव और बन्ध है) इसलिए व्रतियोंको इन तीनों शल्योंको अपने हृदयसे अवश्य निकालना चाहिए।

श्रावकोंके उत्तर गुणः—

पञ्चधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(पञ्चधा) पांच प्रकारका (अणुव्रतं) अणुव्रत (त्रेधा) तीन प्रकारका (गुणव्रतं) गुणव्रत और (चतुर्धा) चार प्रकारका (शिक्षाव्रतं) शिक्षाव्रत (इति) इस तरहसे (अगारिणां) गृहस्थोंके (द्वादश) बारह (उत्तरे गुणाः) उत्तर गुण (स्युः) होते हैं।

भावार्थ—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत ये गृहस्थके १२ उत्तरगुण हैं। ये मूलगुणके अनंतर पाले जाते हैं इसलिए इन्हें 'उत्तरगुण' कहते हैं। अथवा मूलगुणोंकी अपेक्षा उत्तम गुण हैं। इसलिए १२ व्रतोंको श्रावकोंके 'उत्तरगुण' यह संज्ञा है। और महाव्रतकी अपेक्षासे श्रावकके ये अहिंसादि व्रत लघु हैं इसलिए 'अणुव्रत' कहलाते हैं। कोई १ ग्रन्थकार रात्रिभोजन त्यागको छट्टा अणुव्रत मानते हैं। उनके मतसे ६ अणुव्रत होने चाहिये परन्तु बहुधा आचार्य ५ अणुव्रत ही मानते हैं, इसलिए यहां ५ ही अणुव्रत बताए हैं। अणुव्रतोंमें गुण लानेवाले अर्थात् अणुव्रतोंके पालनेमें उपकार करनेवाले व्रतोंको "गुणव्रत" कहते हैं। ये गुणव्रत प्रायः यावज्जीव धारण किए जाते हैं। और अणुव्रतोंके लिए शिक्षाप्रधान जो व्रत हैं उन्हें "शिक्षाव्रत" कहते हैं। देशावकाशिक आदि व्रतोंसे शिक्षा प्रतिदिन मिलती है अथवा विशिष्ट श्रुतज्ञानभावना परिणत होनेसे ही शिक्षाव्रतोंका निर्वाह होता है। अतः शिक्षा (विद्या) की प्रधानताके कारण देशावकाशिक आदि व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं, शिक्षाव्रतोंमें शिक्षाका अर्थ अभ्यास भी है। शिक्षाव्रत और गुणव्रतोंमें यह भेद है कि शिक्षाव्रत शिक्षा-प्रधान होते हैं और गुणव्रत अणुव्रतोंके उपकारक अथवा उपबृंहण करनेवाले होते हैं।

सामान्य रीतिसे पंचाणुव्रतोंका लक्षण—

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(क्वचित्) कहींपर—गृहविरत श्रावकमें (मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः) मन, वचन, काय तथा कृत कारित अनुमोदना इन नौ भंगोंके द्वारा (स्थूलवधादेः) स्थूल हिंसादिकसे

१—उक्तं च चारित्रसारे—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम्। पञ्चधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, काम, और परिग्रहके त्यागको पांच अणुव्रत कहते हैं, तथा रात्रिभोजनत्याग यह छट्ठा अणुव्रत है।

(विरतिः) निवृत्त होना (पञ्च) पांच (अहिंसाद्यणुव्रतानि) अहिंसा आदि अणुव्रत (स्युः) होते हैं (अपि) और (अपरे) कहींपर—गृहविरत श्रावकमें (अननुमतैः) अनुमोदनाको छोडकर बाकीके छह भंगोंके द्वारा (स्थूलवधादेः) स्थूल हिंसादिकसे (विरतिः) निवृत्त होना (पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि) पांच अणुव्रत (स्युः) होते हैं।

भावार्थ—दूसरी प्रतिमामें व्रतीके 'गृहवासविरत' और 'गृहवासनिरत' ऐसे दो भेद होते हैं उनमेंसे १ 'गृहवासविरतके' मन, वचन, काय इन तीनों भंगोंको कृत कारित और अनुमोदना इन तीन भंगोंसे गुणा करनेपर नौ ९ भंग होते हैं उनके द्वारा स्थूल हिंसादि ५ पापोंका त्याग होता है। इस प्रकार ९ भंगसे त्याग करनेवाला द्वितीय प्रतिमाधारी उत्कर्षवृत्तिसे अणुव्रत पालता है। और मन, वचन तथा काय इन तीनों ही भंगोंको केवल कृत और कारित भंगसे गुणा करनेपर ६ भंगसे पंच स्थूल पापोंका जो त्यागी होता है वह मध्यम रीतिसे अणुव्रत पालनेवाला है। इसीको ही "गृहवास निरत" कहते हैं। यह घरमें ही रहकर दूसरी प्रतिमा पालता है और गृहवासविरत घरमें नहीं रहता इसलिए वह ९ भंगसे पांच पापोंका त्यागी हो सकता है, क्योंकि गृहवासके अंगीकार करनेवालोंको पुत्रादिक द्वारा जो आरम्भादिमें हिंसा होती है अथवा वे अन्यद्वारा आरम्भादि भी कराते हैं उसकी अनुमोदनाका दोष लगता है, इसलिए गृहवासनिरत ९ भंगका त्यागी नहीं हो सकता है।

"अपि" शब्दसे प्रकारान्तरसे अणुव्रतत्वके प्रतिपादनकी सिद्धि होती है। जैसे १ 'मनसे' २ 'वचनसे' ३ 'कायसे' ४ "मन और वचनसे" ५ "मन और कायसे" ६ 'वचन और कायसे' तथा ७ "मन वचन और कायसे" इस प्रकार 'कृतकी' अपेक्षासे ७ 'कारितकी' अपेक्षासे ७ और 'अनुमोदनकी' अपेक्षासे ७ और 'कृतकारितके' ७ 'कृत और अनुमोदनाके' ७ 'कारित और अनुमोदनके' ७ तथा 'कृतकारितानुमोदनके' ७ इस तरह सातको सातसे गुणा करनेपर ४९ भंगसे त्याग करनेवाला भी अणुव्रती होता है। यदि ४९ भंगको तीन कालसे त्याग किया जावे तो तीनसे और गुणना चाहिए ४९×३=१४७ भंग हो जाते हैं। यहां स्थूल शब्द उपलक्षण है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि निरपराधियोंकी संकल्पपूर्वक हिंसा अणुव्रती स्वयं नहीं करता है न दूसरोंसे कराता है और न हिंसा करनेवालोंको अनुमति ही देता है और तीनों भंगोंको मन वचन और कायसे गुणा करनेसे यह ९ भंगका त्यागी होता है। ६ भंगके त्यागको भी इसी प्रकार यथायोग्य समझ लेना चाहिए। इस कथनका तात्पर्य यह है कि शासनकर्ता चक्रवर्ती आदि जो दंडविधान करते हैं वह दोषावापक नहीं है क्योंकि:—

"दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः॥"

पुत्र व शत्रुमें समतारूपसे क्षत्रियों द्वारा दिया गया दंड, इसलोक और परलोककी रक्षा करता है

यह शास्त्रवचन है अतः अपनी२ पदवी और शक्तिके अनुसार ही राजा आदि भी स्थूल हिंसादिकके त्यागी होते हैं। और अपराधियोंको उनका दंड देना, दोषाधायक नहीं है, किन्तु कर्तव्य है।

अब—अणुव्रतके त्यागने योग्य हिंसा आदिकके 'स्थूल' विशेषणका अर्थ बताते हैं—

स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूलानामपि दुर्दृशाम्।
तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते॥ ६॥

अन्वयार्थ—(स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात्) स्थूल-हिंस्यादिकका आश्रय होनेसे (वा स्थूलानाम् अपि दुर्दृशां तत्त्वेन प्रसिद्धत्वात्) स्थूल भी जो मिथ्यादृष्टि हैं उनके यहां भी जिसे हिंसा आदि कहते हैं वे (वधादि स्थूलम् इष्यते) वध चोरी आदि 'स्थूल' कहे जाते हैं।

भावार्थ—जिन हिंसा चोरी आदि पापोंको मिथ्यादृष्टी लोग भी हिंसा चोरी आदि संज्ञासे पुकारते हैं, उन्हें स्थूल हिंसा आदि कहते हैं। अथवा जिस हिंसा चोरी आदि पापके विषय स्थूल होते हैं वे हिंसा आदि स्थूल शब्दोंसे कहे जाते हैं। अथवा 'वा' शब्दसे यह भी अर्थ ग्रहण किया है कि जो पाप स्थूलोंके द्वारा किए जाते हैं उन्हें यहां (अणुव्रतके प्रकरणमें) स्थूल हिंसा आदि कहा है और उनका त्यागी अणुव्रती होता है। तात्पर्य यह है कि जगमें सर्वसाधारण जिसे हिंसा, झूठ, चोरी, काम और परिग्रहके नामसे पुकारते हैं। उनको स्थूल हिंसादि कहते हैं तथा उन मोटे पापोंके त्यागीको अणुव्रती कहते हैं।

अहिंसाणुव्रतका व्यापक लक्षण—

शान्ताद्यष्टकषायस्य सङ्कल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम्॥ ७॥

अन्वयार्थ—(शान्ताद्यष्टकषायस्य) शान्त हो गये हैं आदिके आठ क्रोधादिक कषाय जिसके ऐसे और (दयार्द्रस्य) दयाके द्वारा कोमल है हृदय जिसका ऐसे तथा (नवभिः सङ्कल्पैः) मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौ सङ्कल्पोंसे—नौ भंगोंसे (त्रसान्) दो इन्द्रियादि त्रस जीवोंको (अहिंसतः) नहीं मारनेवाले पुरुषके (अहिंसा इति अणुव्रतं) अहिंसा यह अणुव्रत अर्थात् अहिंसाणुव्रत (स्यात्) होता है।

भावार्थ—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ तथा अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, और लोभ इन आठ कषायोंका जिसके क्षयोपशम होगया है, तथा मन वचन और काय तथा कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा, जो त्रस जीवोंकी द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा नहीं करता है, जिसका हृदय दयासे भीगा होनेके कारण प्रयोजनवश की जानेवाली स्थावर हिंसासे कम्पता है ऐसे भावोंसे युक्त प्रतिमाधारीके अहिंसाणुव्रत होता है।

अहिंसाणुव्रतका स्पष्टीकरण—

इमं सत्त्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम् ।
हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा ॥ ८ ॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने ।
न च वर्तयेत्परं तत्परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—('त्यक्तगृहः श्रावकः') गृहविरत श्रावक (इमं सत्त्वं हिनस्मि) मैं इस प्राणीको मारता हूं (इति) इस प्रकारसे और (हिन्धि हिन्धि) तुम इस प्राणीको मारो मारो तथा (एषः) यह पुरुष (इमं) इस प्राणीको (साधु) अच्छा (हिनस्ति) मारता है (इति) इस प्रकारसे (मनसा) मनके द्वारा और (गिरा) वचनके द्वारा (वधं) हिंसाके करनेका (नाभिसन्दध्यात्) सङ्कल्प नहीं करे तथा (दृष्टिमुष्टिसन्धाने) दृष्टि और मुष्टिका है जोडना जिसमें ऐसे (जीववधे) जीवोंके मारनेमें (करादिना) हस्तादिकके द्वारा (न वर्तेत) न स्वयं प्रवृत्ति करे (च) और (न परं वर्तयेत्) न दूसरोंको प्रवृत्ति करावे (च) तथा (तत्परे) स्वयं ही जीववधको करनेवाले पुरुषमें (नखच्छोटिकादि) ताली चुटकी वगैरहके बजानेको (न रचयेत्) नहीं करे ।

भावार्थ—"इस जीवको मैं मारता हूं" "मारो मारो" "इसको यह ठीक मार रहा है" इन तीनों ही भङ्गोंसे न मनमें सङ्कल्प करे और न वचनसे ही सङ्कल्प करे और न स्वयं अपने हाथसे हिंसा करे । और जो शारीरिक दृष्टि या मुष्टिका संयोग, कायके द्वारा दूसरोंके द्वारा हिंसा करानेमें कारण होता है उस प्रकारसे कायकृत प्रेरणा न करे तथा हिंसकके कार्यमें चुटकी, बजाकर कायकृत अनुमोदना भी न करे । इस प्रकार मन कृत तीन भङ्ग, वचन कृत तीन भङ्ग और काय कृत तीन भङ्गोंसे हिंसाका सङ्कल्प न करे । उक्तं च—

आसनं शयनं यानं मार्गमन्यच्च वस्तु यत् ।
अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥

समय २ पर काम आनेवाले, आसन, सेज, सवारीकी चीजें, रास्ता आदि जो भी हैं उनका उपभोग विना देखे नहीं करना चाहिए ।

यहां दृष्टिको ज्ञानका और मुष्टिको ग्रहण आदि क्रियाका उपलक्षण मानना चाहिए । इससे "दृष्टि-मुष्टि-संधाने;" इस पदका यह अर्थ भी निकलता है कि इस प्रकारके ही समान, जिन अन्य प्रकारोंसे भी कायके द्वारा हिंसा व हिंसाकी प्रेरणा व अनुमोदना संभव है, उसका भी त्याग करे ।

तात्पर्य यह है कि मनके द्वारा "मैं मारता हूं, तुम मारो, यह ठीक मारता है" इस प्रकार संकल्पसे हिंसा होती है तथा इसी प्रकारसे तीन प्रकारकी संकल्पी हिंसा वचनोंसे भी होसकती है तथा हाथसे भी हिंसाका संकल्प होता है और जिस हिंसामें दृष्टि और मुट्ठी बांधकर कायकृत प्रेरणा

होती है वह हिंसा कायकृत संकल्प है, और हिंसाकी चुटकी बजाकर, ताली बजाकर काय द्वारा अनुमोदना की जाती है। इन सब विकल्पोंका त्याग कर अहिंसाणुव्रती अहिंसाव्रत पालता है।

इस प्रकार गृहविरत श्रावकके अहिंसाव्रतकी विधि बताकर अब गृहनिरत श्रावकके लिए अहिंसाणुव्रतका उपदेश देते हैं—

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति ।
व्यर्थस्थावरहिंसावद् यतनामावहेद्गृही ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकारसे (गृही) घरमें रहनेवाला श्रावक (अनारम्भजां) कृष्यादिक आरम्भसे अन्यत्र होनेवाली अर्थात् उठने बैठने गमन करने आदिमें होनेवाली (हिंसां) हिंसाको (जह्यात्) छोडे और (आरम्भजां प्रति) कृष्यादिक आरम्भसे होनेवाली हिंसाके प्रति (व्यर्थस्थावर-हिंसावत्) निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय प्राणियोंके वधकी तरह (यतनां) सावधानताको (आवहेत्) करे।

भावार्थ—गृहनिरत श्रावक भी जैसे गृहविरत अनारंभजा (संकल्पी) हिंसाका त्याग करता है वैसे ही अनारंभजनित हिंसाको (संकल्पी हिंसाको) छोडे अर्थात् आसन, शयन, आदिमें संभविनी हिंसाका त्याग करे। और निरर्थक स्थावर हिंसाके समान आरंभ=कृषिकर्म आदिमें संभविनी हिंसामें सावधानी रखे। कहा भी है—

"गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।"

घरके सब काम देखभालकर करे।

अब—स्थावर जीवोंकी भी हिंसा न करनेका उपदेश देते हैं—

यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः ।
एकाक्षवधमप्युज्झेद्यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे (अहिंसैव) अहिंसा ही (मुक्त्यङ्गं) मोक्षका कारण है (तत्) तिस कारणसे (मुमुक्षुः) मोक्षको चाहनेवाला (उपासकः) श्रावक (यः 'एकाक्षवधः') जो एकेन्द्रिय प्राणियोंका वध (अवर्ज्यभोगकृत्) त्याग नहीं करनेयोग्य भोगोपभोगको करनेवाला अथवा (आवर्ज्यभोगकृत्) सेवन करनेयोग्य भोगोपभोगको करनेवाला (न स्यात्) नहीं है ('तं' एकाक्षवधं अपि) उस एकेन्द्रिय प्राणियोंके वधको भी (उज्झेत्) छोडे।

१—हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥ १ ॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः। आरम्भजां स हिंसा शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ २ ॥

अर्थ—आरंभजनित और अनारंभजनित भेदसे ज्ञानियोंने दो प्रकारकी हिंसा बताई है। उनमेंसे जो गृहवाससे विरक्त द्वितीय प्रतिमाधारी है वह इन दोनों ही हिंसाओंका त्यागी होता है और जो गृहवासी द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक है वह इन दोनोंमेंसे आरंभजनित हिंसाका त्याग नहीं कर सकता है।

भावार्थ—"नावर्ज्यभोगकृत्" इस वाक्यके दो अर्थ कर सकते हैं १–"अवर्ज्यभोगकृत् न" अर्थात् जो स्थावर वध, जिसका कि त्याग नहीं किया जा सकता ऐसे नहीं है। २–"आवर्ज्यभोगकृत् न" जो संपादनीय भोगकारक नहीं है। अथवा ऐसी स्थावर हिंसाका भी त्रस हिंसाके समान त्याग करना चाहिये। क्योंकि मुमुक्षुओंके लिये मोक्षका कारण अहिंसा ही है।

तात्पर्य–यह है कि गृहनिरत श्रावकको भी संकल्पी हिंसाके समान निरर्थक स्थावर हिंसाका त्याग करना चाहिये।

अव—संकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश देते हैं—

गृहवासो विनाऽऽरम्भान्न चारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः॥ १२॥

अन्वयार्थ—(गृहवासः) गृहस्थाश्रम (आरम्भात् विना) आरम्भके विना (न 'भवति') नहीं होता है (च) और (आरम्भः) आरम्भ (वधात् विना) प्राणियोंकी हिंसाके विना ('न भवति') नहीं होता है (तत्) इसलिए (मुख्यः) सङ्कल्प पूर्वक होनेवाला (सः) वह वध (यत्नात्) प्रयत्न पूर्वक (त्याज्यः) छोडनेके योग्य है (तु) किन्तु यहांपर इतनी विशेषता है कि (आनुषङ्गिकः) कृष्यादिक कर्मोंके करनेसे होनेवाला जो वध है वह (दुस्त्यजः) छोडनेके लिए अशक्य है अर्थात् गृहस्थके लिये कृष्यादिक कर्मोंसे होनेवाली हिंसाका छोडना अशक्य है।

भावार्थ—आरम्भके विना गृहवास नहीं है और आरम्भ हिंसाके विना नहीं होता है। अतः गृहवासीको अपने किसी मतलबसे "इसे मैं मारता हूं" इस प्रकारकी संकल्पी हिंसाको यहां मुख्य हिंसा कहा है। उसका त्याग यत्नपूर्वक जरूर करना चाहिए। कृषि आदि आजीविका करते समय जो संकल्प रहित आरंभी हिंसा है वह गृहवासीके लिए दुस्त्यज है—छोडी नहीं जा सकती है।

अव—हिंसाके त्यागके लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए यह बताते हैं—

दुःखमुत्पद्यते जन्तोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते।
तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः॥ १३॥

अन्वयार्थ—(यस्यां) जिस हिंसामें (जन्तोः) प्राणीको (दुःखं उत्पद्यते) दुःख उत्पन्न होता है (मनः) मन (संक्लिश्यते) संक्लेशको प्राप्त होता है (च) और (तत्पर्यायः) उस प्राणीकी वर्तमान

जं तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसिदव्वा ते। एगिंदियावि णिक्कारणेण पढमं वदं थूलं॥ १॥
स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्। शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति कर्तव्यम्॥ २॥
भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम्। यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजन्तुजित्॥ ३॥
अर्थ—जो त्रसकायवाले जीव बताए गये हैं उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये तथा विना कारण स्थावर जीवोंकी भी हिंसा नहीं करना यह प्रथम अहिंसाव्रत है।

पर्याय (अस्यते) विनाशको प्राप्त होती है (सा) वह (हिंसा) हिंसा (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (हेया) छोडनेके योग्य है।

भावार्थ—जिसमें पर जीवको अपने मारनेसे शारीरिक दुःख होता है, मानसिक खेद होता है और उस विचारेकी वर्तमान पर्य्याय नष्ट होती है उसको हिंसा कहा है। उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए।

अब—आगे अहिंसाणुव्रतकी आराधनाके लिए उपदेश प्रारम्भ करते हुए अहिंसाणुव्रत पालनेवाला कैसा होना चाहिए यह बताते हैं—

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो गृहस्थ (भावशुद्ध्येकसर्गः) मनकी शुद्धिमें है एक ध्यान जिसका ऐसा और (संतोषपोषतः) संतोषकी पुष्टिसे अर्थात् अधिक संतोष होनेके कारण (अल्पारम्भपरिग्रहः) थोडा आरम्भ तथा परिग्रह रखनेवाला (स्यात) होता है (असौ) वही गृहस्थ (अहिंसाणुव्रतं) अहिंसाणुव्रतको (भजेत) सेवन करे—पाले।

भावार्थ—अनासक्तिके कारण जिसके संतोषवृत्ति वर्धमान होरही है, और इसी कारणसे अल्प अर्थात् आर्तरौद्र ध्यानको उत्पन्न न होने देनेवाले हैं आरम्भ और परिग्रह जिसके और जो अपने भावोंकी शुद्धिमें एकाग्र रहता है वही अहिंसाणुव्रतको प्राप्त करता है।

तात्पर्य—यह है कि संतोषी अल्पारम्भ परिग्रही और भावोंकी शुद्धिमें सावधान रहनेवालेके अहिंसाणुव्रत पलता है।

अब—भावनापूर्वक अहिंसाणुव्रत पालनेवालेको पांचों ही अतिचार टालना चाहिए यह बताते हैं—

मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारादिरोपणम्।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(दुर्भावात) खोटे परिणामोंसे (बन्धं) बन्धको (वधच्छेदौ) वध और छेदको तथा (अतिभारादिरोपणं) बहुत बोझा आदिके लादनेको (च) और (भुक्तिरोधं) अन्नपानके निरोधको (मुञ्चन्) छोडनेवाला ('व्रतिकः') व्रती पुरुष (भावनाभिः) अहिंसाणुव्रतकी भावनाओंके द्वारा (तत्) अहिंसाणुव्रतको (आविशेत्) पालन करे।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रतकी मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और आलोकितपानसमिति ये पांच भावनाएँ हैं। इनके साथ अहिंसाणुव्रत पालनेवाला दुर्भावसे अर्थात् प्रबल कषायके उदयजनित परिणामसे बंध, वध, छेद, अतिभारका लादना और भोजनके रोधको टालें।

इन पांच अहिंसाणुव्रतके अतिचारोंको न लगने देवे। बंधातिचार=गाय, बैल, मनुष्य आदिकोंको रस्सी आदिसे बांधनेको बंध कहते हैं। जो शिक्षा आदिके लिए योग्य बनानेके लिए, किसीको बांधा जाता है वह अतिचार नहीं है। इसको जतानेके लिए इस श्लोकमें "दुर्भावात्" यह पद दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कषायोंके तीव्र उदयके वश होनेसे ही 'बन्ध' अतिचार होता है। विनय आदि गुण सिखानेके लिए प्रयुक्त 'बंध' अतिचार नहीं है।

बन्ध दो प्रकार है—सार्थक और निरर्थक। उनमेंसे निरर्थक बन्ध तो श्रावकको करना बिल्कुल योग्य नहीं है। रहा सार्थक, सो सार्थक बन्धके भी दो भेद हैं—सापेक्ष सार्थक बंध और निरपेक्ष सार्थक बन्ध, इन दोनों बंधोंमें अग्नि आदिके उपद्रव आनेपर अपने पालतू जानवर स्वयं बन्ध ढीला होनेसे अपनी रक्षा कर सकें, इस अपेक्षासे ढीले बंधनको सापेक्ष='सार्थक बंध' कहते हैं। तथा ये दासी दास, चोर, जार, बिगडे हुए प्रमादी पुत्र वगैरह, अग्नि आदिके आकस्मिक उपद्रवसे नष्ट न होजावें इसलिए उनको इस ढंगसे बांधना चाहिए कि जिससे वे भी समय पडनेपर अपनी रक्षा कर सकें। पालतू जानवर, तथा सुधार विशेषके लिए बांधे हुए जानवर व दासीदास आदिकी रक्षा भी (पालनपोषण भी) यथायोग्य करना चाहिए।

'निरपेक्ष सार्थक बंध' निश्चल रूपसे कसके बांधनेको कहते हैं इसका विशेष खुलासा नहीं किया है, उनकी रक्षाकी जिम्मेवारी रखनी चाहिए इतना लिखा है। अथवा श्रावकको वे ही पालतू जानवर व दासदासी रखना चाहिए जो विना बंधके रहते हों।

वध—वेत चावुकसे मारनेको 'वध' कहते हैं। दुर्भावोंसे वेत वगैरह मारना अतीचार है। यदि कोई आश्रित विनय न करता हो, उद्दण्ड हो तो उसे इस ढङ्गसे चावुक मारना चाहिये जिससे उसके मर्मस्थानोंको आघात न पहुँचे तथा लता व डोरीके चावुकसे एक दो वार ही ताडना देनी चाहिये। इसके विपरीत करनेसे यह भी अहिंसाव्रतका अतीचार होता है।

छेद—नाक कान वगैरह शरीरके अवयवोंके खोटे भावोंसे निर्दयतापूर्वक काट डालनेको छेद नामक अतीचार कहते हैं। स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए वैद्य जो रोगीके अवयवोंको सान्त्वना देते हुए छेद करता है उसके खोटे भाव नहीं हैं इसलिए वह अतीचार नहीं है।

अतिभाराधिरोपण—जो जानवर जितना वोझ लाद सकता है अथवा वाहन ढो सकता है वह न्याय्य है, उससे अधिक लादना व ढोना अतीचार है। यह अतीचार भी खोटे भावोंके कारण होता है। कभी २ क्रोध व लोभके कारणसे भी हो सकता है। उत्तम पक्ष तो यह है कि श्रावकको ऐसे धंधे नहीं करना चाहिए, कदाचित् करना ही पडें तो मनुष्योंको इतना वोझ लादना चाहिए जिसे वे स्वयं लाद सकें और उतार सकें और योग्य समयपर छुट्टी देनी चाहिए। तथा जानवरोंको हल व गाडीमें जोतते समय इसका ख्याल रखना चाहिए कि उनको समयपर विश्राम दिया गया या

नहीं। उन्हें समयपर छोडना चाहिए और जितना वे ढो सकते हैं उससे कुछ कम ही भार लादना चाहिए। ढोनेके समय भी यथोचित ख्याल रखना अन्यथा अतिचार दोष लगेगा।

भुक्तिरोध—दुर्भावोंसे अन्नपानके रोक देनेको भुक्तिरोध अतीचार कहते हैं। विना भोजनके प्राणी मर जाते हैं इसलिए अपराधीको भय दिखानेको चाहे तो यह कहे कि भले ही तुझे खाना नहीं दिया जावेगा, परन्तु समयपर उसको देना जरूर चाहिए। कारण भोजन करते समय आश्रितको खिला पिलाकर स्वयं भोजनपान करना चाहिये। हां, जो आश्रित अपराधी वा रोगी हैं उनकी बात दूसरी है। उनको अन्न नहीं देना, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे लाभदायक है। इसलिए ऐसी अवस्थावालेको भोजनादिक न देकर भी भोजन किया जा सकता है। शांतिके लिये उपवास करना भी अतीचार नहीं है। कहनेका तात्पर्य यही है कि जिसतरह मूल अहिंसाव्रतमें अतीचार न लगे ऐसा वर्तन करना चाहिये।

अब—मन्दबुद्धियोंके लिए ऊपरके श्लोकमें कहे हुए अर्थका और खुलासा करते हैं—

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बन्धादिना विना।
भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(नैष्ठिकः) नैष्ठिक श्रावक (गवाद्यैः) गौ बैल आदि जानवरोंके द्वारा (वृत्तिं) अपनी आजीविकाको (त्यजेत्) छोडे अर्थात् आजीविका नहीं करे (वा) अथवा यदि इस उत्तम-पक्षको स्वीकार करनेमें असमर्थ हो तो (भोग्यान्) भोग करनेके योग्य (तान्) उन गौ आदि जान-वरोंको (बन्धादिना विना) बन्धन ताडन आदिके विना (उपेयात्) ग्रहण करे (वा) अथवा यदि इस मध्यम पक्षको भी स्वीकार करनेमें असमर्थ हो तो (निर्दयं) निर्दयता पूर्वक (तं) उस बन्धादिक-को (न योजयेत्) नहीं करे।

भावार्थ—नैष्ठिक श्रावक, गाय आदि जानवरोंसे आजीविका न करे। गाडी रखना, बैलोंको लादना, हल जोतना इत्यादि रूपसे आजीविका न करे। कदाचित् दूध, दही व लादने ढोनेके लिए जानवरोंको पाले तो उन्हें बांधे नहीं। यदि बांधे तो निर्दयतापूर्वक न बांधे।

उत्तम पक्ष तो यह है कि बैल आदिको स्वयं न रखे; किन्तु जरूरत पडने पर भाडेसे उचित रीतिसे अपना व्यवहार चलावे, खरीदकर दूध दहीको लेवे।

मध्यम पक्ष यह है कि भोगके उपयोगी जानवर यदि रखे तो उनके गलेमें रस्सी आदि न बांधे। उनके रखनेकी ऐसी व्यवस्था करे कि जिससे उनके गलेमें बंधन डालनेकी ही जरूरत न पडे। और जघन्यपक्ष यह है कि पालतू जनावरोंके गलेमें रस्सी ढीली बांधे, निर्दयतापूर्वक कसके न बांधे, क्योंकि कहा है कि—

"व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तो-र्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥"

अर्थ—जीवोंको व्रत पुण्य फल देते हैं। परन्तु अतीचार सहित व्रत पुण्यजनक नहीं होते हैं। जैसे धान यदि नींदी गोढी न जावे तो कभी भी पैदा नहीं होती है। अर्थात् जिसप्रकार केवल धान वो देनेसे खेती फलप्रद नहीं होती—उसमेंके आनेवाले घासको नींद गोढकर साफ करना पडता है उसके विना फसल घरमें नहीं आती है, उसी प्रकार केवल लिये हुए व्रत पुण्य फलके दाता नहीं हैं उनके ग्रहण करनेके बाद बीच२में लगनेवाले अतीचारसे रक्षा करनी पडती है। उनको निर-तिचार रखकर ही व्रतोंसे पुण्य होता है अन्यथा नहीं।

शङ्का—व्रतीने हिंसाका त्याग किया है, वन्ध आदि अतिचारोंका त्याग नहीं किया है। अतः उसे वन्धके करनेपर अतीचार कदाचित् नहीं लगना चाहिए। कहा जावे कि उसने बन्ध आदि अतीचारोंका भी त्याग किया है तो कहना पडेगा कि बन्ध आदिके करनेमें अहिंसाव्रतका ही भंग होता है अतीचार नहीं ?

दूसरी बात यह भी है कि बन्ध आदिका भी त्याग करनेपर ५ अणुव्रत नहीं रहेंगे, जितने अतीचारोंका त्याग उसने किया है व्रतोंकी संख्या भी उतनी ही माननी पडेगी, इस तर्कसे बन्ध आदि अतीचार नहीं कहे जाने चाहिए।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है। हिंसाका ही अहिंसाणुव्रतीके त्याग है। उसने बंध आदिका व्रत नहीं किया है तथापि स्थूल हिंसाके त्यागसे बंध आदिका भी त्याग उसने किया है यह समझना चाहिए, क्योंकि बंध आदि कभी हिंसाके कारण हैं। और उने बंध आदिके किए जानेपर उसके व्रत भंग नहीं होता, किन्तु अतीचार ही लगता है, क्योंकि व्रत दो प्रकारका होता है—एक अन्त-र्वृत्तिसे, दूसरा बहिर्वृत्तिसे। बंध आदिके करते हुए "मैं मार रहा हूं" इस प्रकारका विकल्प उसके अन्तःकरणमें नहीं है। किन्तु "बांध रहा हूं" ऐसा विकल्प है इसलिए वह वांधे जानेवाले जीवके प्राणोंकी क्रोधके आवेशमें परवाह नहीं कर रहा है और बांध रहा है। इस अपेक्षासे यद्यपि उसके द्वारा उसकी समझसे हिंसा नहीं होरही है तथापि निर्दयया पाई जाती है। निर्दयताका त्याग अहिंसा व्रतमें होना चाहिए, इस बातकी उस समय वह अपेक्षा नहीं कर रहा है इसलिए अन्तर्वृत्तिसे तो जरूर हिंसा है परन्तु बहिर्वृत्तिसे उसने प्राण-हानि नहीं की है, इसलिए उसके व्रतका पालन भी हो रहा है, इसलिए एकदेशकी रक्षा होरही है और एकदेशका भंग भी होरहा है इस दृष्टिसे बंध आदिके करनेमें अतीचार समझना चाहिए। कहा भी है—

"न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव मृत्युं क इहातिचारः।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन् करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः॥ १॥

मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्दयाहीनतया हि भङ्गः।
देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति"॥ २॥

अर्थ—जब अहिंसाणुव्रतीके "मैं किसीको मारूंगा नहीं" इस प्रकारसे हिंसाका त्याग है तब जीवको विना मारे उसको बन्ध आदिके करनेपर भी उसके अहिंसाव्रतमें अतीचार कैसे लगेगा? अर्थात् नहीं लग सकता है तथापि वह व्रतकी परवाह न करके क्रोधके आवेशमें बन्ध वगैरह कर रहा है ऐसी स्थितिमें देखनेमें तो उस जीवकी मृत्यु न होनेसे नियम पल रहा है परन्तु निर्दयतायुक्त व्यवहार होनेसे वास्तवमें वह अहिंसाके व्रतसे च्युत भी है। इसतरह एकदेशके पालनेसे बंध आदिको अहिंसाणुव्रतका अतीचार बड़े पूज्य आचार्योंने कहा है।

और यहां शंकाकारने जो यह कहा था कि यदि बंध आदिका भी त्याग है तो व्रतोंकी संख्याका भंग हो जावेगा अर्थात् अणुव्रतोंकी संख्या ५ न रहकर अधिक मानना पड़ेगी। उसका उत्तर यह है कि विशुद्धि सहित परिणामोंसे अहिंसाके पालनेपर बन्ध आदि अतीचार लगते ही नहीं हैं। शुद्ध भावसे पाली हुई अहिंसामें बन्ध आदि अतीचार नहीं लगते इसलिए व्रतोंकी अधिक संख्याके माननेका प्रसंग ही नहीं आता है।

इसी विषयको फिर भी स्पष्ट करते हैं—

न हन्मीति व्रतं क्रुध्यन्निर्दयत्वान्न पाति न।
भनक्त्यघ्नन् देशभङ्गत्राणात् त्वतिचरत्यधीः॥ १७॥

अन्वयार्थ—(क्रुध्यन्) क्रोध करनेवाला (अधीः) अज्ञानी पुरुष (निर्दयत्वात्) दया रहित होनेसे (न हन्मि इति व्रतं) मैं जीवोंको नहीं मारता हूं इस व्रतको अर्थात् अहिंसाणुव्रतको (न पाति) पालन नहीं करता है और (अघ्नन्) प्राणोंके द्वारा जीवको अलग नहीं करनेवाला अर्थात् जीवोंको साक्षात् नहीं मारनेसे वह (न भनक्ति) अहिंसाणुव्रतको भङ्ग भी नहीं करता है (तु) किन्तु (देशभङ्गत्राणात्) व्रतके एकदेशका भङ्ग तथा एकदेशकी रक्षा करनेसे (अतिचरति) व्रतको उलंघन करके पालन करता है अर्थात् व्रतको अतीचार सहित पालता है।

भावार्थ—क्रोधी कसके बांधने आदिमें जब प्रवृत्त होता है तब उसके दयाका अभाव होनेसे अन्तरङ्गमें तो अहिंसाव्रतका सच्चा पालन नहीं होरहा है, परन्तु जीवको वह बांध रहा है, साक्षात् मार नहीं रहा है इसलिये वहिरङ्गमें पालन होरहा है, इसतरह एक दृष्टिसे एकदेश भंग और एक दृष्टिसे पालन होनेके कारण बन्ध आदि करनेपर अविचारीके अतीचार दोष लगता है।

अतिचारका लक्षण बताकर पन्द्रहमें श्लोकमें "मुक्तिरोधं च" इस वाक्यमें जो 'च' शब्द आया है उस 'च' शब्दसे गृहीत अन्य अतीचारोंको भी बताते हैं—

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम् ।
मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि (व्रते) व्रतमें (सापेक्षस्य) अपेक्षा रखनेवाले पुरुषका (अंशभञ्जनं) एकदेश व्रत भङ्ग होना (अतिचारः) अतीचार (स्यात्) होता है–कहलाता है तथा (मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः) मन्त्रतन्त्रके प्रयोग हैं आदिमें जिनके ऐसे दुष्ट कर्मोंकी सिद्धिके कारणभूत ध्यानादिक और (परेऽपि) दूसरे शास्त्रोंमें कहे गये खोटे कर्म भी (तथा) व्रतकी अपेक्षापूर्वक उसके एकदेशभङ्ग होनेरूप प्रकारसे (अत्ययाः) अतीचार (ऊह्याः) लगा लेना चाहिये अर्थात् अतीचार समझना चाहिये ।

भावार्थ—व्रतमें अपेक्षा रखनेवाले व्यक्तिके अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग वृत्तियोंमेंसे किसी एक वृत्तिका भंग होना अतीचार है । इसलिए ५ अतीचारके अतिरिक्त मन्त्रतन्त्र आदिके द्वारा भी किसी जीवके लिए किए गए बन्ध आदि भी अतीचार हैं । "इष्ट क्रियाके सिद्ध करनेमें समर्थ विशिष्ट अक्षरोंके समूहको मन्त्र" और सिद्ध औषधियोंको 'तंत्र' कहते हैं । इनके द्वारा भी जो किसीकी गतिका रोकना, गतिका स्तंभन कर देना, उच्चाटन करना ये भी सब अहिंसाणुव्रतके अतीचार हैं । क्योंकि यह सब कषायपूर्वक किए जाते हैं इसलिये दयाके घातक हैं ।

अब—मन्त्रादिकके द्वारा किए हुए बंधादिक भी अतीचार हैं इस बातका समर्थन करते हुए सदैव अतिचार टालनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए यह बताते हैं—

मन्त्रादिनाऽपि बन्धादिः कृतो रज्ज्वादिवन्मलः ।
तत्तथा यतनीयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(मन्त्रादिना अपि) मंत्रादिकके द्वारा भी (कृतः) किया गया (बन्धादिः) बन्धादिक (रज्ज्वादिवत्) रस्सी वगैरहसे किये गये बन्धकी तरह (मलः) अतीचार ('भवति') होता है (तत्) इसलिए (तथा यतनीयं) उस प्रकारसे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए (यथा) जिस प्रकारसे कि (व्रतं) व्रत (मलिनं) मलिन–अतीचार सहित (न स्यात्) नहीं होवे ।

भावार्थ—जैसे रस्सी आदिसे किसीका बांधना आदि अतीचार बताया है उसीप्रकार मंत्रतंत्र द्वारा किया गया बंध आदि भी अतीचार है; क्योंकि मंत्रतंत्रादि द्वारा किए गए बंध आदिमें भी व्रतका एकदेश भंग और पालन होनेसे अतीचारका लक्षण घट जाता है । अतः प्रत्येक व्रतकी भावनाओंपूर्वक तथा प्रमादपरिहारपूर्वक इसतरह अणुव्रतोंके पालनेमें सावधानी रखना चाहिए, जिससे लिए हुए 'व्रत' मलिन नहीं होने पावें ।

अहिंसाणुव्रतके ग्रहणकी क्या विधि है यह बताते हैं—

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') श्रावक (तत्त्वतः) यथार्थ रीतिसे (हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलानि) हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलोंको (आलोच्य) विचार करके (तथा) उस प्रकारसे (हिंसां) हिंसाको (उज्झेत) छोडे (यथा) जिस प्रकारसे कि ('व्रती') व्रतोंको ग्रहण करनेवाला वह श्रावक (प्रतिज्ञाभङ्गं) प्रतिज्ञाके भंगको (न आप्नुयात्) प्राप्त नहीं होवे।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रतीको अहिंसाके व्रतमें हिंसक कौन होता है, हिंसा किनकी होती है, हिंसा किसे कहते हैं, हिंसाका फल क्या है इन बातोंका अपने साथी गुरु और अन्य मुमुक्षुओंके साथ तत्त्वदृष्टिसे खूब विचार करके इस ढंगसे हिंसाका त्याग करना चाहिये कि जिससे वह अपनी व्रतके विषयमें की हुई प्रतिज्ञाको पूरा पालता रहे, किसी भी प्रकारसे उसकी प्रतिज्ञाका भंग न होने पावे।

अब—हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाका फल क्या है यह बताते हैं—

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसञ्चयः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(प्रमत्तः) कषायसे युक्त आत्मा (हिंसकः) हिंसक ('भवति') कहलाता है (द्रव्यभावस्वभावकाः) द्रव्य और भावरूप (प्राणाः) प्राण (हिंस्याः) हिंस्य ('भवन्ति') कहलाते हैं तथा (तद्विच्छिदा) उन द्रव्यभावरूप प्राणोंका वियोग करना (हिंसा) हिंसा ('भवति') कहलाती है और (पापसञ्चयः) खोटे कर्मोंका बन्ध (तत्फलं) हिंसाका फल ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—वास्तवमें प्रमादसहित परिणाम हिंसक है। पुद्गलात्मक इन्द्रिय बल और आयुको द्रव्यप्राण कहते हैं और चैतन्यात्मक इन्द्रियादिकको भावप्राण कहते हैं। इन दोनों प्रकारके प्राणोंका घात हिंसामें होता है इसलिए ये हिंस्य कहलाते हैं। जीवोंके इन प्राणोंके वियोगको हिंसा कहते हैं और इस हिंसाका फल नानाप्रकारका पापबन्ध है।

अब—कौनसी विधिसे गृहस्थका अहिंसाणुव्रत निर्मल रह सकता है यह बताते हैं—

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्।
नित्योदयां दयां कुर्यात्पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—('अहिंसाणुव्रतनैर्मल्यार्थी') अहिंसाणुव्रतको निर्मल करनेकी इच्छा रखनेवाला श्रावक (कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्) कषाय, विकथा, निद्रा, मोह और इन्द्रियोंके विधिपूर्वक निग्रह करनेसे (पापध्वान्तरविप्रभां) पापरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यकी

प्रभाके समान तथा (नित्योदयां) नित्य है उदय जिसका ऐसी अर्थात् सदैव ही प्रकाशित रहनेवाली (दयां) दयाको (कुर्यात्) करे।

भावार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये ४ कषाय, मार्गविरुद्ध भक्तकथा, स्त्रीकथा, देशकथा और राजकथा ये चार ४ विकथाएं, १ निद्रा और १ प्रणय, अर्थात् यह मेरा है इस प्रकारका ग्रह अथवा अभिनिवेश, और ५ इन्द्रियां ये सब मिलकर १५ प्रमाद होते हैं। इन्हें रोककर पापरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिए सूर्यकी प्रभाके समान नित्य उदयवाली दयाको करे। सूर्य तो दिनमें ऊगता है और रातमें अस्त होता है परन्तु दयाका उदय निरन्तर आत्मामें रहना चाहिए। ऐसी नित्य उदयवाली दयाका वास अहिंसाणुव्रतीके हृदयमें रहना चाहिए तब ही उसके द्वारा सच्चा अहिंसाणुव्रत पल सकेगा। ये बढ़िया चावल हैं तथा मोहक हैं, अच्छी तरह मुझे खाना चाहिए, तुम खाओ, जो लोग खाते हैं सो बहुत अच्छा करते हैं, इस प्रकारकी कथाओंको भक्तकथा कहा है।

"कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा, लाटी विदग्धा प्रिया॥"

कर्णाटक देशकी स्त्रियां भोगविलासके समय उपचार करनेमें चतुर होती हैं, लाट देशकी स्त्रियां विदग्ध=चतुर होती हैं और प्यारी होती हैं, अमुक स्त्रियोंके हावभाव अच्छे होते हैं, पहनाव प्यारा मालूम पडता है, अमुकके कटाक्ष बहुत बढिया होते हैं, इत्यादि कथाको स्त्रीकथा कहा है। दक्षिण देश बढिया भोजन और भोगविलासकी सामग्रीसे युक्त है; पूर्व देशमें गुड, खांड, धान और नाना प्रकारके मद्य तैयार होते हैं इत्यादि देशकथा है।

हमारा राजा शूर है, दानी है, हमारे राजाके यहां सबसे ज्यादह घोडे हैं, हाथी हैं इत्यादि कथाको राजकथा कहा है। इन कथाओंको निन्दाके रूपमें भी प्रतिपादन किया जा सकता है। ये भोजन खराब है, अमुक स्त्रियां बदसूरत हैं, अमुक देश खराब है, अमुक राजा खराब है इत्यादि। परन्तु ये ही कथाएँ वस्तुस्वरूप प्रतिपादनमें कही जावें, धर्मकथाका रूप धारण करें तो प्रमादमें गर्भित नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए। ये कथाएँ लालसा बढानेवाली हों तब ही प्रमादमें गर्भित हैं यह अभिप्राय समझना चाहिए। इन्द्रिय और कषायके विषयसे सब परिचित ही हैं इसलिए इनकी व्याख्या नहीं लिखी है।

अब—"जग जीवोंसे खचाखच भरा होनेके कारण अहिंसाणुव्रत पालना कठिन है" इस शङ्काका निराकरण करते हैं—

१-पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम्। तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि॥ १॥
स्नेहानुविद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः। दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य॥ २॥

अर्थ—पुण्यको तेजमय और पापको तमोमय कहा है इसलिए दयारूपी सूर्यके ऊगनेपर पापरूपी अन्धकार कैसे ठहर सकता है? ज्ञान और चारित्रसे युक्त होकर भी यदि मोह सहित है तो उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती है। जो दीपक काजलको पैदा करता है वह प्रशंसनीय नहीं है।

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ वन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (भावैकसाधनौ) परिणाम ही है एक प्रधान कारण जिनका ऐसे अर्थात् भावोंके आधीन (वन्धमोक्षौ) वन्ध और मोक्ष (नाभविष्यतां) नहीं होते तो (विष्वग्जीवचिते) चारों तरफसे जीवोंके द्वारा भरे हुये (लोके) संसारमें (क्व चरन्) कहींपर भी चेष्टा करनेवाला—शरीरादिकके द्वारा व्यापार करनेवाला (कोऽपि) कोई भी मुमुक्षु पुरुष (अमोक्ष्यत) क्या मोक्षको जाता ! अर्थात् कभी भी मोक्षको नहीं जाता।

भावार्थ—संसारमें ऐसी कोई जगह नहीं है जहां संमूर्च्छन जीव नहीं हैं। यह जग जीवोंसे भरा है। यदि वन्ध और मोक्ष भावके आधीन नहीं माने होते तो कहां रहकर कोई मुक्ति प्राप्त कर सकता था ? कहीं रहकर भी नहीं। कारण जीवोंसे संसार ठसाठस भरा है। द्रव्यहिंसा जीवसे हुए विना रह नहीं सकती है। इस युक्तिसे सिद्ध होता है कि शुभ परिणामोंसे शुभबन्ध और अशुभ परिणामोंसे अशुभबन्ध होता है और विशुद्ध भावोंसे मोक्ष होता है। भावोंसे हिंसा अहिंसा प्रधानरूपसे मानी गई है।

इस प्रकार अतिचारोंको टालते हुए अहिंसाणुव्रतके पालनेका उपदेश देकर अब रात्रिभोजन त्याग अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए और अष्टमूलगुणोंकी विशुद्धिके लिए जरूर करना चाहिए यह बताते हैं—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—('व्रती') व्रतोंको पालन करनेवाला श्रावक (अहिंसाव्रतरक्षार्थं) अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये और (मूलव्रतविशुद्धये) मूलगुणोंकी विशुद्धिके लिये (धीरः 'सन्') धैर्यसे युक्त होता हुआ (नक्तं) रात्रिमें (त्रिधा) मन वचन कायसे (चतुर्धा अपि) चारों ही प्रकारके (भुक्तिं) आहारको (सदा) जीवनपर्यंतके लिये (त्यजेत्) छोडे।

भावार्थ—परिषह और उपसर्गोंसे न घवडानेवालोंको धीर कहते हैं। अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये और मूलगुणोंकी विशुद्धिके लिये धीर वनकर श्रावक, मन वचन और कायसे अन्न पान लेह्य और खाद्य इन चार प्रकारके आहारोंको रातमें खानेका त्याग करे।

अत्र—दृष्ट, अदृष्ट अनेक दोषोंसे युक्त रात्रिभोजनका वक्रोक्तिसे तिरस्कार करते हैं—

जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजन्तुकम्।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि (जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कं) जलोदरादिक रोगोंको करनेवाले जूँ वगैरह हैं मध्यमें जिसके ऐसे और (अप्रेक्ष्यजन्तुकं) नहीं दिखाई देते हैं जन्तु जिसमें ऐसे तथा (प्रेताद्युच्छिष्टं) प्रेतादिकके द्वारा उच्छिष्ट ('भोज्यं') भोजनको और (उत्सृष्टं अपि) त्यागी हुई वस्तुको भी (निशि) रात्रिमें (अश्नन्) खानेवाला पुरुष (सुखी) अपनेको सुखी मानता है ।

भावार्थ—यहां अपि शब्द अन्त्यदीपक है । इसलिये चारों ही विशेषणोंमें लगाना चाहिये। रातमें भोजन करते समय सूर्य प्रकाश न मिल सकनेसे भोजनके ग्रासमें जलोदर आदि रोगोत्पादक जूँ आदि देखे नहीं जा सकनेके कारण खानेमें आ सकते हैं । जल, घी आदिमें पड़े हुए छोटे २ कीडे देखे नहीं जा सकते हैं । खजूर आदिमें लिप्त छोटे२ कीडे देखे नहीं जा सकते हैं । भोजन परोसने आदिके लिये चलने फिरनेमें जीवोंका घात संभव है । क्षुद्र व्यंतरों द्वारा भोजन उच्छिष्ट पाया जा सकता है । जिस चीजका त्याग किया गया है, यदि भोजनमें मिल रही हो तो उसकी पहचान भोजनमें की नहीं जा सकती । अतः रातमें भोजन करनेवाला क्या सुखी हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता है ।

भोजनके साथ पेटमें यदि जूँ चला जाय तो जलोदर पैदा करता है । मकरी कुष्ट रोगको करती है । मक्खी वमन कराती है । भोजनमें मिला हुआ विच्छू तालुगत रोगको उत्पन्न करता है । कुंटक नामका कीडा वा एक प्रकारका काष्टका टुकडा भोजनसे पेटमें चला जाय तो गलेमें पीडा करता है, वालस्वर भंग करता है । ऐसे बहुतसे विश्वासमें आ जानेवाले दोष रातके भोजनमें हैं । इसलिये रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये ।

अब—रात्रिभोजन कितना बडा पाप है इसको वनमालाके उदाहरणसे बताते हैं—

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं,
लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि ।
सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं,
दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(किल) रामायणमें इस प्रकार सुना जाता है कि (यदि) यदि (रामं) रामको (सुनिवेश्य) अच्छी तरहसे व्यवस्थित करके ('अहं') मैं (पुनः) फिरसे लौटकर (त्वां) तुमको (न उपैमि) प्राप्त नहीं होऊँ अर्थात् यदि तुम्हारे पास नहीं आऊँ (तत्) तो (वधादिकृदघैः) हिंसा आदिको करनेवाले पुरुषोंके पापोंसे ('अहं') मैं (लिप्ये) लिप्त होऊँ (इति) इस प्रकारसे (अन्यशपथान्) दूसरी प्रतिज्ञाओंको (श्रितोऽपि) प्राप्त होनेपर भी—ग्रहण करनेपर भी (सौमित्रिः) लक्ष्मण (अस्मिन्) इसलोकमें (वनमालया) वनमालाके द्वारा (एकं) दूसरी प्रतिज्ञाओंसे रहित एक

(दोषाशिदोपशपथं) रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषोंके पापसे लिप्त होनेरूप प्रतिज्ञाको (कारितः) प्राप्त कराये गये थे।

भावार्थ—कैकेयी महारानीके कथनानुसार भरतको राज्य, महाराजा दशरथने दिया तब श्री राम अपने लक्ष्मण भाई और महारानी सती सीताके साथ वनवासके लिए चले गए थे। बीचमें कूर्च नगरके अधिपति महीधर राजाकी कन्या श्री वनमालाके साथ श्री लक्ष्मणका पाणिग्रहण हुआ। व्याहके अनन्तर श्री लक्ष्मणजी श्री रामजीके साथ प्रस्थान करने लगे और अपनी परिणीता वधू वनमालाको समझाने लगे कि मैं अभी रामकी सेवामें हूं, उनको योग्य व उनकी इच्छानुसार इष्ट स्थानपर पहुंचाकर उनकी व्यवस्था करके मैं वापिस आता हूं, तू चिंता मत कर। परन्तु विरहातुर वह वनमाला सन्तुष्ट नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमें लक्ष्मणजीने वनमालाको विश्वास दिलानेके लिए कई प्रकारकी शपथें खाईं। यदि मैं बडे भाईको उनके इच्छित स्थानपर पहुंचाकर तेरे पास वापिस न आऊँ तो गोहत्या, स्त्रीवध आदिके पापसे लिप्त होऊँ। परन्तु वनमालाने श्री लक्ष्मणसे इन सब शपथोंमेंसे कठिन शपथ केवल यह कराई कि यदि मैं श्री रामको उनको इष्ट स्थानमें पहुंचाकर वापिस नहीं आऊँ तो रात्रिभोजनके पापसे लिप्त होऊँ। और तब ही वनमालाको भी लक्ष्मणके वापिस आनेका विश्वास हुआ। यह जैन रामायणकी कथा है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीनकालमें भी रात्रिभोजन कितना बडा पाप समझा जाता था और है भी वह बडा पाप। इसलिए रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिए।

अब—लौकिक संवाद दिखाकर भी रात्रिभोजनका निषेध करते हैं—

यत्र सत्पात्रदानादि किंचित्सत्कर्म नेष्यते।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये॥ २७॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस रात्रिके समयमें (सत्पात्रदानादि) सत्पात्र दान, स्नान, देवपूजा आदि (किञ्चित्) कोई भी (सत्कर्म) शुभ कर्म (न इष्यते) नहीं किया जाता है (तत्र) उस (अत्ययमये) पापपूर्ण (दिनात्यये) रात्रिके समयमें (कः) कौन (स्वहितैषी) अपने हितको चाहनेवाला पुरुष (अद्यात्) भोजन करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा।

भावार्थ—अजैनोंके यहां भी रातमें सत्पात्र दान, स्नान, देवार्चन, आहुति, श्राद्ध और खास करके भोजन आदि शुभ कर्म इष्ट नहीं हैं। क्योंकि रातका काल दोषकी बहुलता सहित है अथवा दोषमय है। उस रातके कालमें इस और परलोकमें आत्मकल्याणका अभिलाषी ऐसा कौन जैनी होगा जो भोजनकी इच्छा करेगा ?

अब—दिन रात्रिके भोजनके द्वारा मनुष्यकी उत्तम मध्यम और जघन्यताको बताते हैं—

भुञ्जतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे।
राञ्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः॥ २८॥

अन्वयार्थ—(वर्याः) उत्तम पुरुष (अह्नः) दिनमें (सकृत्) एकवार (मध्याः) मध्य पुरुष (द्विः) दो वार और (ब्रह्मोद्यान्) सर्वज्ञके द्वारा कहे गये (तद्व्रतगुणान्) रात्रिभोजन त्याग व्रतके गुणोंको (नावगामुकाः) नहीं जाननेवाले (परे) जघन्य पुरुष (पशुवत्) पशुओंकी तरह (रात्र्यहः) रातदिन (भुञ्जते) खाते हैं।

भावार्थ—शुभ कर्मोंमें सदैव दत्तचित्त रहनेवाले उत्तम लोक दिनमें एक ही वार भोजन करते हैं और मध्यम रीतिसे शुभ कर्ममें दत्तचित्त रहनेवाले मध्यम पुरुष दिनमें दो वार भोजन करते हैं। परन्तु सर्वज्ञदेवके द्वारा बताये गये रात्रिभोजनके दोषोंके ऊपर जो श्रद्धा और ज्ञान नहीं रखनेवाले हैं वे पशुओंके समान रातदिन भोजन करते हैं।

अब—आगमके उदाहरण विना, केवल जो लोगोंके अनुभवसिद्ध है इस प्रकारसे रात्रिभोजन त्यागका विशेष फल बताते हैं—

योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुहूर्तौ रात्रिवत्सदा।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत्॥ २९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो पुरुष (रात्रिवत्) रात्रिकी तरह (दिनाद्यन्तमुहूर्तौ) दिनके आदि और अन्तमुहूर्तको (त्यजन्) छोडता हुआ (सदा) सदैव (अत्ति) भोजन करता है (सः) वह (उपवासेन) उपवासके द्वारा (स्वजन्मार्द्धं) अपने आधे जन्मको (नयन्) व्यतीत करनेवाला पुरुष (कियत्) कितना (वर्ण्येत) प्रशंसित किया जावे? अर्थात् उसकी कितनी स्तुति की जावे?

भावार्थ—जो श्रावक शास्त्रमें कहे हुए प्रातःकाल एक मुहूर्तके वाद और संध्याकालके एक मुहूर्त पहले ही सदैव भोजन करते हैं, दिनके आदि और अन्तके मुहूर्तमें भी भोजन नहीं करते हैं तथा रातमें चतुर्विधाहारका त्याग करते हैं। उनका कुछ अधिक कालसहित आधा जन्म उपवासोंसे गुजरता है तथा सज्जनोंके द्वारा प्रशंसायोग्य समझा जाता है।

अव—रात्रिभोजन त्यागके समान अन्तराय टालकर भोजन करना भी अहिंसाणुव्रतका रक्षक है तथा मूलगुणोंकी विशुद्धि करनेवाला है इसलिये इन चार श्लोकोंसे अन्तरायोंका वर्णन करते हैं—

अतिप्रसङ्गमसितुं परिवर्धयितुं तपः।
व्रतवीजवृतीर्भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत्॥ ३०॥

अन्वयार्थ—('गृही') व्रतोंको पालन करनेवाला गृहस्थ (अतिप्रसङ्गं) अतिप्रसङ्गको (असितुं) दूर करनेके लिये और (तपः) तपको (परिवर्द्धयितुं) वढानेके लिये (व्रतवीजव्रतीः) व्रतरूपी वीजके लिये वारी स्वरूप अर्थात् वीजकी रक्षा करनेवाली वारीकी तरह व्रतोंकी रक्षाके कारण

होनेसे (भुक्तेः) भोजनके (अन्तरायान्) अन्तरायोंको (श्रयेत्) आश्रय करे अर्थात् पाले।

भावार्थ—जैसे खेतकी रक्षा उसके चारों तरफ की गई वारीसे होती है, उसी प्रकार व्रतरूपी बीजके रक्षक भोजनके कहे गये अन्तरायोंको भी दूसरी प्रतिमाधारक श्रावक पाले। उससे उसके अनेक व्रतोंकी रक्षा होती है। यदि इन अन्तरायोंको व्रती श्रावक नहीं पालेगा तो फिर उसके अतिप्रसंगदोषके आनेकी संभावना है तथा श्रावकके जीवनमें तपकी वृद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि अन्तराय टालकर भोजन करनेसे तप-वृद्धि होती है और अतिप्रसंग दोष नहीं आता है।

भोजन करतेसमय शिथिलताके कारण यदि अन्तरायका ख्याल नहीं रखा जायगा तो मनुष्यकी लोलुपताकी हद कायम नहीं रह सकेगी और वह न मालूम कितना भोजनके विषयमें शिथिलाचारी हो जावेगा यह कहा नहीं जा सकता है, इस प्रकारके दोषको अतिप्रसंग नामक दोष कहते हैं।

इच्छानिरोधको तप कहते हैं। भोजन करनेकी तैयारी हो चुकी है और ऐसे समयमें यदि अन्तराय आ जाय तथा उसके आते ही अन्न, जल छोड दिया जावे तो स्वाभाविक रीतिसे इच्छा-निरोध होकर श्रावकका तप बन जाता है इसलिये अन्तराय टालकर भोजन करना चाहिए इससे व्रतोंकी रक्षा होती है और तपकी वृद्धि होती है।

अब-तीन श्लोकोंमें उन्हीं अन्तरायोंके स्वरूपको बताते हैं—

दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम्।
स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वाऽतिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनम्।
भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥ ३२ ॥
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः।
इदं मांसमिति दृष्टसङ्कल्पे चाशनं त्यजेत् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—('व्रतिकः') व्रतोंको पालनेवाला गृहस्थ (आर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकं) गीला चमडा, हड्डी, मदिरा, मांस, लोहू तथा पीप आदि पदार्थोंको (दृष्ट्वा) देखकरके और (रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकं) रजस्वला स्त्री, सूखा चमडा, हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चांडालादि वगैरहको (स्पृष्ट्वा) स्पर्श करके अर्थात् इनका स्पर्श होजानेपर तथा (अतिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनं) 'इसका मस्तक काटो' इत्यादि रूप अत्यंत कठोर शब्दोंको, 'हा हा' इत्यादि रूप अति स्वर शब्दोंको और परचक्रके आगमनादि विषयक विड्वरप्राय शब्दोंको (श्रुत्वा) सुन करके तथा (नियमितं वस्तु) त्यागी हुई वस्तुको (भुक्त्वा) खाकरके और (अशक्यविवेचनैः) खाने योग्य पदार्थसे अशक्य है अलग करना जिनका ऐसे (जीवद्भिः) जीते हुए (जीवैः) दोइन्द्रियादि जीवोंके द्वारा (वा) अथवा (बहुभिः) तीन चार आदि (मृतैः) मरे हुये (' जीवैः ') जीवोंके द्वारा (भोज्ये) खानेयोग्य पदार्थके (संसृष्टे सति) मिल जानेपर अर्थात् भोजनमें, भोजनसे अशक्य है

अलग करना जिन्होंका ऐसे जीवित अथवा तीन चार आदि मृत जीवोंके मिल जानेपर (च) तथा (इदं मांसं) यह खानेयोग्य पदार्थ मांसके समान है (इति) इस प्रकारसे (दृष्टसङ्कल्पे) खाने योग्य पदार्थमें मनके द्वारा सङ्कल्प होनेपर (अशनं) भोजनको (त्यजेत्) छोडे।

भावार्थ—गीला चमडा, हड्डी, दारू, मांस, रक्त, 'पू' आदिको देखकर रजस्वला स्त्री, सूखा चमडा, हाड और कुत्ते आदिको छूकर इसके "शिरको काटो" इत्यादि कर्कश वचनोंको, "हाय हाय" इत्यादि आर्तस्वरको, "शत्रुकी सेना चढ आई" इत्यादि आतंक उत्पादक शब्दोंको विघ्नप्रायनिस्वन कहते हैं। इन वचनोंको सुनकर भोजन छोड देवे। खानेके ग्रासमें त्यागी हुई वस्तुके आ जानेपर भोजन छोड देवे। जिनको निकाल नहीं सकते अर्थात् निकालने पर जिनके मरणकी आशंका है ऐसे लटपिपीलादिक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय या चतुरिन्द्रिय जीवित जीव खानेके पदार्थमें पड जावें तो भोजन छोड देवे। तथा घी आदिमें त्रिरूला वगैरह मरे हुए ३—४ जीव होवें तो भोजन छोड देवे। तथा कोई यह कह देवे कि यह पदार्थ मांसके समान है, अथवा स्वयं मांसका संकल्प किसी खाद्य पदार्थोंमें उत्पन्न हो जावे कि यह " मांस जैसा दिखता है, तब उसी समय भोजन छोड देवे। यही सब भोजनके अन्तराय हैं। भोजन जिनके सबबसे छोडना चाहिये उसे अन्तराय कहते हैं।

अब—अहिंसाणुव्रतके लिए मौन व्रत शील है अर्थात् उसका पोषक है. इसलिये इन ५ श्लोकोंमें मौनव्रतका व्याख्यान करते हैं—

गृद्ध्यै हुङ्कारादिसञ्ज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनु च।
मुञ्चन् मौनमदन् कुर्यात्तपःसंयमबृंहणम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(गृद्ध्यै) खानेयोग्य इष्ट पदार्थकी प्राप्तिके लिये अथवा भोजन विषयक इच्छाको प्रगट करनेके लिये (हुङ्कारादिसंज्ञां) हुंकारना ललकारना आदि इशारोंको (च) और (पुरा) भोजनके पहले (च) तथा (अनु) भोजनके पीछे (संक्लेशं) संक्लेशको (मुञ्चन्) छोडता हुआ (अदन्) भोजनको करनेवाला ('व्रतिकः') व्रती श्रावक (तपःसंयमबृंहणं) तप और संयमको बढानेवाले (मौनं) मौनको (कुर्यात्) करे।

भावार्थ—तप और संयमके बढानेवाले मौनको पाले. तथा मौनके पालते समय किसी चीजकी लोलुपतासे हुंकार करना, खंकारना, शिर हिलाना, चुटकी बजाना आदि इशारेका त्याग करे, "यहांके

१ हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्धचलनादिभिः। मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृद्धये॥
भ्रूनेत्रहुंकारकरांगुलीभिर्गृद्धि प्रवृत्यै परिवर्ज्य संज्ञाम्। करोति भुक्तिं विजिताक्षवृत्तिः स शुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी॥

अर्थ—हूं हूं करना, अंगुलीका इशारा करना, खांसना, खखारना, भौंहे चलाना, शिर मटकाना आदि भोजन पदार्थके परोसनेके लिये इशारे, भोजनके समय मौन पालनेवालोंको नहीं करना चाहिये। किंतु जितेन्द्रिय बनकर भ्रूनेत्र अंगुलीके द्वारा किये जानेवाले इशारोंका त्याग करके मौनपूर्वक सन्तोषसे जो भोजन करता है वह शुद्ध मौनव्रतकी वृद्धि करनेवाला है।

लोग अथवा ये लोग भोजन कराते समय, परोसने आदिका ख्याल नहीं रखते हैं, अथवा परवाह नहीं करते हैं" इत्यादि रूपसे संक्लेशको भोजनके पहले अथवा पीछे नहीं करे।

यदि कोई अधिक परोसता हो, अथवा कोई चीज अपनेको खानं नहीं है तो उसके लिए निषेधका इशारा कर सकते हैं।

अब—मौनव्रत तप बढानेवाला और पुण्यका संचय करानेवाला है यह दो श्लोकोंसे बताते हैं—

अभिमानावने गृद्धि-रोधाद्वर्धयते तपः।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात्॥ ३९॥

अन्वयार्थ—(अभिमानावने) स्वाभिमानकी अर्थात् अयाचकत्वरूप व्रतकी रक्षा होनेपर तथा (गृद्धिरोधात्) भोजन विषयक लोलुपताके निरोधसे (मौनं) मौन (तपः) तपको (वर्द्धयते) बढाता है (च) और (श्रुतप्रश्रयतायनात्) श्रुतज्ञानकी विनयके सम्बन्धसे (श्रेयः) पुण्यको (तनोति) बढ़ाता है।

भावार्थ—मौनपूर्वक भोजन करनेसे स्वाभिमानकी रक्षा होती है। याचना-जनित दोष नहीं लगता है। तथा सन्तोषके कारण भोजनविषयक लोलुपताका निरोध होता है। इसलिए मौनीके तपकी वृद्धि होजाती है। तथा भोजनादिकमें मौनं रखनेसे शब्दात्मक द्रव्य श्रुतकी विनय पलती है इसलिए पुण्य लगता है।

शुद्धमौनान्मनःसिद्ध्या शुक्लध्यानाय कल्पते।
वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च॥ ३८॥

अन्वयार्थ—(साधुः) देशसंयत श्रावक और मुनि (शुद्धमौनात्) निरतिचार मौनव्रतके पालन करनेसे उत्पन्न होनेवाली (मनःसिद्ध्या) मनकी सिद्धिके द्वारा (शुक्लध्यानाय) शुक्लध्यानके लिये (कल्पते) समर्थ होता है (च) और (वाक्सिद्ध्या) वचनकी सिद्धिके द्वारा (युगपत्) एक ही कालमें (त्रैलोक्यानुग्रहाय) तीनों लोकोंके भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये ('कल्पते') समर्थ होता है।

भावार्थ—साधु तथा श्रावक भोजनादिके समय निरतिचार मौनव्रतके पालनेसे मनकी सिद्धि कर लेते हैं और इस मनकी सिद्धिसे साधु शुक्लध्यानके लिए समर्थ होते हैं तथा मौनसे वाक्सिद्धिको भी प्राप्त होते हैं, जिसके प्रसादसे तीन लोकका युगपत् अनुग्रह करनेमें समर्थ होते हैं। तात्पर्य यह

१—सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः। रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किम्॥ १॥

अर्थ—यों तो मौनकी सर्वजगह प्रशंसा योग्य समझी जाती है। जैसे रसायन सब ही समय उपयोगी होती है परंतु रोगके होनेपर विशेषरीतिसे लाभदायक समझी जाती है।

है कि भोजनादिकमें मौनके पालनेसे मनःसिद्धि और वाक्सिद्धि होती है और मनःसिद्धिसे शुक्ल-ध्यानका तथा वाक्सिद्धिसे दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश देनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है ।

उद्योतनं महेनैकघण्टादानं जिनालये ।
असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(असार्वकालिके मौने) अपनी शक्तिके अनुसार किसी नियत कालतकके लिये ग्रहण कियेगये मौनव्रतमें (महेन) बड़े भारी उत्सव अथवा पूजनके साथ (जिनालये) जिनमंदिरमें (एकघण्टादानं) एक घण्टाका दान करना (उद्योतनं) उद्यापन ('अस्ति') है और (सार्वकालिके मौने) जीवन पर्यंतके लिये ग्रहण कियेगये मौनव्रतमें (निर्वाहः) उस मौनका निराकुल रीतिसे पालन करना ही (उद्योतनं 'अस्ति') उद्यापन है ।

भावार्थ—मौनव्रत नियम और यमरूपसे पाला जाता है । कुछ कालके लिए मौनको असार्व-कालिक मौनव्रत और यावज्जीव पाले जानेवाले मौनको सार्वकालिक मौनव्रत कहते हैं । कुछ कालके लिए नियमरूपसे लिए गए असार्वकालिक मौनव्रतका उद्यापन किया जाता है । उसके उद्यापनके समय मंदिरजीमें घण्टाका दान करना चाहिए । और भगवतकी पूजा करनी चाहिए ।

अपनी शक्तिके अनुसार, आवश्यकादि कार्योंमें मौन धारण करना चाहिए और सतत वाणीके दोष मेटनेके लिए सतत मौन धारण करना चाहिए—

सन्तोष भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दर्श्यते । संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥ १ ॥
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् । ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥ २ ॥
श्रुतस्य प्रश्रयात् श्रेयःसमृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ ३ ॥
वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भगर्भिता । आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥ ४ ॥
पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः । सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ॥ ५ ॥
भव्येन शक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकम् । जिनेन्द्रभवने देया घण्टिका समहोत्सवम् ॥ ६ ॥
न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः । उद्योतनं परं प्राज्ञैः किंचनापि विधीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—१–जिसने मौन धारण किया है उसकी सन्तोषकी भावना जाग्रत होती है, वैराग्यका दर्शन होता है और संयमकी पुष्टि होती है। २–लोलुपताका त्याग होनेसे तपकी वृद्धि होती है, स्वाभिमानकी रक्षा होती है और इससे मौन धारण करनेवाला तीन लोकमें मनकी सिद्धिको प्राप्त होता है। ३–द्रव्यश्रुतकी विनयके प्रसारसे वह पुण्यवान बनता है और नाना प्रकारकी समृद्धियोंको पाता है। ४–जो निर्मल मौन पालता है उसके प्रतापसे उसकी वाणी शास्त्र संदर्भ सहित मनोरथ होती है और आदेय होती है। ५–और विद्वानोंके द्वारा जितनी वंदनीय पदवियां हैं वे सब मौनव्रतके प्रतापसे प्राप्त होती हैं। ६–इसलिये भव्योंको असार्वकालिक मौनव्रत पूरा करके उसका उद्यापन कराना चाहिये और उद्यापन कराते समय १ घंटा जिनालयमें भेंट करना चाहिये। ७–तथा सार्वकालिक मौनव्रतको जिन्होंने लिया है उन्हें उसको सदैव पालते रहना चाहिये, यही यमरूप लिये हुए मौनव्रतका सच्चा उद्यापन है।

आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्।
मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे ॥ ३८॥

अन्वयार्थ—('साधुः') देशसंयत श्रावक और मुनि (वान्तिवत्) वमनकी तरह (आवश्यके) सामायिक आदि छह आवश्यक कर्मोंमें (मलक्षेपे) मलमूत्रके क्षेपण करनेमें (पापकार्ये) पाप कार्योंमें (च) और स्नान, भोजन तथा मैथुनादिकमें (मौनं) मौनको (कुर्वीत) करे (वा) अथवा (भूयोवाग्दोषविच्छिदे) बहुतसे वचन सम्बन्धी दोषोंको दूर करनेके लिये (शश्वत्) निरन्तर ही (मौनं कुर्वीत) मौनको करे।

भावार्थ—सामायिक देवपूजा आदि आवश्यक कर्म करते समय मौन धारण करना चाहिये। टट्टी, पेशाव करते समय मौन धारण करना चाहिये। कोई हिंसा कररहा हो ऐसे समय मौन धारण करना चाहिये। जबतक कुल्ला नहीं किया है तबतक वमन करते समय मौन पालना चाहिये। अथवा जिनकी भाषा बोलचालमें कठोर हो उन्हें अपनी वाणी संबंधी दोष दूर करनेके लिये हमेशा मौन रखना चाहिए। "च" शब्दसे गृहस्थोंको भोजन, स्नान, मैथुनमें भी मौन धारना चाहिए। तथा मुनियोंको आहारके निमित्त चर्या करते समय मौन धारण करना चाहिए।

अब—सत्याणुव्रतके स्वरूपको बताते हैं—

कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—('व्रतिकः') व्रती श्रावक (कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्) कन्या अलीक, गो अलीक, पृथ्वी अलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलापकी तरह (स्वान्यापदे) अपनी तथा परकी विपत्तिके लिये अर्थात् अपने तथा दूसरेके ऊपर विपत्ति आनेके समयमें (सत्यं अपि) सत्यको भी (त्यजन्) छोडता हुआ (सत्याणुव्रती) सत्याणुव्रतधारी (स्यात्) होता है।

भावार्थ—कन्यालीक, गो अलीक, क्ष्मालीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलापको व्रतिक श्रावक न बोले, तथा इनके समान जिस सत्यके बोलनेसे अपने व दूसरेको आपत्ति आनेकी संभावना हो, उस सत्यको भी न बोले, न दूसरेको बोलनेके लिए प्रेरणा ही करे। इसीका नाम सत्याणुव्रत है।

कन्यालीक—जिस कन्याके साथ किसी कुमारकी शादीकी बातचीत चल रही हो या होनेकी हो उसके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर विपरित बोलना कन्यालीक है। 'कन्या' शब्द द्विपदका उपलक्षण है। इसलिए इसी प्रकारके अन्य द्विपदोंके सम्बन्धमें कूट बोलना भी (असत्य बोलना भी) कन्यालीकमें गर्भित समझना चाहिए।

गो अलीक—गायकी विक्रीके समय या लेते समय कम दूध देनेवालीको अधिक दूध

देनेवाली बताना और अधिक दूध देनेवालीको कम दूध देनेवाली बताना "गो अलिक" नामक असत्य है । यहांपर 'गो' शब्द उपलक्षण है इसलिये संपूर्ण चतुष्पादोंको सम्बन्धकी झूठका ग्रहण करना चाहिये ।

क्ष्मालीक—क्ष्मा नाम पृथ्वीका है, खेत जमीदारी, व वृक्ष व इसी प्रकारकी जो चीजें हैं, उनके सम्बन्धकी झूठको क्ष्मालीक समझना चाहिए । ये तीनों ही प्रकारके झूठ लोकमें भी निंदनीय समझे जाते हैं इसलिए द्विपद व चतुष्पद सम्बन्धी झूठका ग्रहण कन्यालीक गो अलीकके कथनमें ही प्रतिपादित होजाता है । अतः उनको भिन्नरूपसे समझानेके लिए द्विपालीक, चतुष्पदालीक कहनेकी जरूरत नहीं है । और ये तीनों ही झूठ लोकविरोधी होनेसे श्रावकको नहीं बोलना चाहिये ।

कूट साक्ष्य—लांच वगैरह लेकर अथवा मत्सरभावसे झूठी गवाही देना "कूट साक्ष्य" कहलाता है। यह झूठ पहले कहेहुए झूठोंसे भिन्न है । कारण झूठी गवाही देनेवालेके द्वारा दूसरोंके द्वारा किए हुए पापोंका समर्थन होता है और यह धर्मविरुद्ध है । इसलिए झूठी गवाही नहीं देनी चाहिये। क्योंकि प्रतिपक्षी, गवाहीसे सदैव यही कहता है कि अधर्मयुक्त नहीं बोलना, धर्मयुक्त ही बोलना ।

न्यासापलाप—सुरक्षित रहनेकी इच्छासे जो किसीके पास धरोहर रखी जाती है उसको "न्यास" कहते हैं इसलिये जेवर वगैरहको यहां न्यास समझना चाहिये। उसके सम्बन्धमें झूठ बोलना न्यासापलाप कहलाता है ।

अज्ञान व संशयके कारण भी जब झूठ बोलना उचित नहीं है तो रागद्वेषपूर्वक बोली गई कोई भी झूठ झूठ ही है अतः नहीं बोलनी चाहिये । इसप्रकार शास्त्रोंमें वर्णित ५ पांच प्रकारके झूठोंको नहीं बोलना चाहिये तथा स्वपर पीडाजनक सत्य भी नहीं बोलना चाहिए ।

अब—लोकव्यवहारके अनुसार किसप्रकारके वाक्य बोलनेयोग्य हैं, और किसप्रकारके वाक्य बोलनेयोग्य नहीं हैं यह बताते हैं—

लोकयात्रानुरोधित्वात्सत्यसत्यादिवाक्त्रयम् ।
ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—('सत्याणुव्रती') सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (लोकयात्रानुरोधित्वात्) लोकव्यवहारके विरुद्ध नहीं होनेसे (सत्यसत्यादिवाक्त्रयं) सत्यसत्यादिक तीन प्रकारके वचनोंको (ब्रूयात्) बोले (तु) किंतु (तद्विरोधात्) लोकव्यवहारके विरुद्ध होनेसे (असत्यासत्यं) असत्यासत्य वचनको (जातुचित्) कभी भी (न ब्रूयात्) नहीं बोले ।

भावार्थ—लोकव्यवहारवश, सत्यसत्य, सत्य असत्य और असत्यसत्य वाक्य व्रतिकको बोलने

चाहिए। और लोकव्यवहारके विरोधी होनेसे "असत्य असत्य" वाक्य कभी भी नहीं बोलने चाहिये।

अब—सत्य सत्य आदिका स्वरूप तीन श्लोकोंमें बताते हैं—

यद्वस्तु यद्देशकाल-प्रमाकारं प्रतिश्रुतम्।
तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(यद्वस्तु) जो वस्तु (यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम्) जिस देश, काल, प्रमाण और आकारवाली है (तस्मिन् तथैव संवादि) उसको उसी देश, काल, प्रमाण और आकारमें जैसी वह है उसी प्रकारसे (संवादि वचः सत्यसत्यं वदेत्) उसके प्रतिपादन करनेवाले वचनको सत्य सत्य वचन कहते हैं ऐसे वचनको बोलने चाहिए।

भावार्थ—जो वस्तु जिस देशमें, जिस कालमें है तथा जितनी संख्यावाली है और जिस आकारमें हो उसको उसी देशमें, उसी कालमें, उतनी ही संख्यामें और उसी आकारमें बोलना "सत्य सत्य" बोलना है और ऐसे सत्य सत्य वचन बोलने चाहिए।

असत्यं वय वासोऽन्धो रन्धयेत्यादि सत्यगम्।
वाच्यं कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—('सत्याणुव्रतिना') सत्याणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकके द्वारा (वासः) वस्त्रको (वय) बुनो और (अन्धः) भातको (रन्धय) पकाओ (इत्यादि) इत्यादिक (सत्यगं) सत्यको प्राप्त होनेवाले (असत्यं) असत्य वचन तथा (कालातिक्रमेण) कालकी मर्यादाको उलंघन करके (दानात्) देनेसे (असत्यगं) असत्यको प्राप्त होनेवाले (सत्यं) सत्यवचन (वाच्यं) बोलनेके योग्य हैं अर्थात् सत्याणुव्रती ऐसे वचनोंको भी बोल सकता है।

भावार्थ—सत्याश्रित असत्य वचनको "सत्य असत्य" कहते हैं जैसे-हे कोरी! तुम कपडा बुनो, हे भाई! तुम भात बनाओ, ऐसे वाक्य यद्यपि वर्तमानमें सत्य नहीं है; क्योंकि जब तुमने आज्ञा की है उस समय वस्त्र नहीं बन रहा है, किन्तु वस्त्र बनानेकी सामग्रीमें वस्त्र बुनो यह कहा जाता है परन्तु वर्तमानमें असत्य दिखनेवाला भी थोडे कालके बाद सत्य हो जावेगा। अतः यह वाक्य सत्याश्रित असत्य है। यह शैली, "भात बनाओ" इस वाक्यकी सिद्धिमें भी लगाना चाहिये, ऐसे वाक्य लोकव्यवहारके अनुकूल हैं इसलिये व्रतिकके द्वारा बोले जाते हैं।

किसीको यह कहना कि तुम्हारा रुपया १५ दिनोंमें दे देवेंगे और १५ दिनमें उसके रुपये नहीं पहुंचाए जा सके, किन्तु महिने या अधिक समयमें पहुंचाए गये तो यह व्यवहार भी कालके विषयमें झूंठ है और रुपये पहुंचाए जानेकी अपेक्षा सत्य है इसलिये यह असत्यकी तरफ झुकनेवाला सत्य है, यह भी लोक व्यवहारके विरुद्ध न होनेसे श्रावकके द्वारा बोला जाता है। इन तीन प्रकारके

वाक्योंको बोलनेसे सत्याणुव्रतमें बाधा नहीं आती है। इसलिये सत्याणुव्रती कभी २ बोल सकता है। अर्थात् इन दो श्लोकोंमें कहे गए जो सत्य सत्य, असत्य सत्य, सत्य असत्य वाक्य हैं वे लोक-व्यवहारके अनुकूल होनेसे बोलने चाहिये। असत्य असत्य नहीं बोलना चाहिए।

यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्ये दास्यामीत्यादिसंविदा।
व्यवहारं विरुन्धानं नासत्यासत्यमालपेत् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(**'सत्याणुव्रती'**) सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (**यत्**) जो वस्तु (**स्वस्य**) अपनी (**नास्ति**) नहीं है (**तत्**) वह वस्तु (**'अहं'**) मैं (**कल्ये**) प्रातःकाल (**दास्यामि**) तुम्हारे लिये दूंगा (**इत्यादि संविदा**) इत्यादि रूप प्रतिज्ञाके द्वारा (**व्यवहारं**) लोक व्यवहारको (**विरुन्धानं**) बाधा देनेवाले (**असत्यासत्यं**) असत्यासत्य वचनको (**न आलपेत्**) नहीं बोले।

भावार्थ—जो चीज अपनी नहीं है, अपने पास भी नहीं है उसको कल तुम्हें दूंगा, इस-प्रकार सरासर विरुद्ध ही पडनेवाले "असत्य असत्य वाक्य" को सत्याणुव्रतीको कभी भी नहीं बोलना चाहिये।

अब—गृहस्थोंको भोगोपभोग निमित्तसे उपयोगमें आनेवाले संपूर्ण सावद्यवचनोंका त्याग अशक्य है। अतः उन्होंने इन पांच प्रकारके झूंठ (सावद्य) वचनोंका सदैव त्याग करना चाहिए—

भोक्तुं भोगोपभोगाङ्गमात्रं सावद्यमक्षमाः।
ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झन्तु वाऽनृतम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(**वा**) यहांपर बहुत न कहकर इतना कहना ही पर्याप्त है—ठीक है कि (**ये**) जो (**भोगोपभोगाङ्गमात्रं**) केवल भोग और उपभोगके साधनभूत (**सावद्यं**) सावद्य वचनोंको (**भोक्तुं**) छोडनेके लिये (**अक्षमाः**) असमर्थ (**'सन्ति'**) हैं (**ते**) वे पुरुष (**अन्यत्**) भोगोप-भोगके साधनभूत सावद्य वचनोंको छोडकरके अन्य (**सर्वं अपि**) सब ही प्रकारके (**अनृतं**) सावद्य वचनोंको (**हिंसा इति**) हिंसा ऐसा मान करके (**सदा**) सदैवके लिये (**उज्झन्तु**) छोडें अर्थात् उनका त्याग करें।

भावार्थ—सब प्रकारके हिंसा पोषक, अयोग्य वचनोंके त्यागनेमें श्रावक असमर्थ हैं। वे अपने भोग और उपभोगमें उपयोगी पडनेवाले सावद्य वचन बोल सकते हैं। इस सूचनाके लिए "इस श्लोकमें 'वा' शब्द ग्रन्थकारने दिया है अर्थात् कहांतक कहैं, भोग और उपभोगके लिए कारण पडनेवाले जो वचन हैं "जैसे खेतको जोतो" यह भी आरम्भादिकमें निमित्त पडते हैं इसलिए उन वचनोंको 'सावद्य वचन' कहते हैं, उन सबके त्यागनेमें जो अपनी पदवीके अनुसार असमर्थ है वे श्रावक भोगोपभोगमें उपयोगी पडनेवाले सावद्य वचनोंको छोडकर जो "सत् अपलपन"

असत् उद्भावना, विपरीत, अप्रिय और साक्रोश वचन हैं उन्हें जरूर छोडे। भोजन आदिको भोग और पुनः पुनः भोगनेमें आनेवाली स्त्री आदिको उपभोग कहते हैं, उनके साधनभूत वचनोंको भोगोपभोगाङ्ग वचन कहते हैं।

"सद्अपलपन" आत्मा नहीं है, इस प्रकारसे सद्रूप आत्माके असद्भावके प्रतिपादक वचनको सत्का अपलाप करनेवाला वचन कहते हैं।

असद्उद्भावन—आत्मा वास्तवमें स्वदेह प्रमाण है। उसको व्यापक=सर्वगत कहना श्यामा धानके कणके बराबर आत्मा है। जिसका जो स्वरूप नहीं है उस बातको प्रतिपादन करनेवाला वचन असद्उद्भावक वचन कहलाता है।

विपरीत वचन—गायको घोडा कहना विपरीत कथन करनेवाला वचन है।

अप्रियवचन—कानेको चिडानेके लिए 'काना' कहना अप्रिय वचन है।

साक्रोश वचन—अरे विधवा पुत्र! हे रांडके बेटे! इत्यादि कुवचनोंको चिल्लाकर बोलनेको साक्रोश वचन कहते हैं। जैसे अप्रयोजनभूत स्थावर हिंसाका त्याग अहिंसाणुव्रतमें अणु तीको अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार भोगोपभोगाङ्ग वचनोंके त्यागनेमें असमर्थ सत्याणुव्रतीको भी इन पांच प्रकारके असत्य वचनोंका भी त्याग सदैवके लिए जरूर करना चाहिए।

आचार्योंने हिंसाके पोषक वचनको असत्य बताया है। इसलिए अप्रिय और साक्रोश आदि वचन भी प्रमादपूर्वक बोले जाते हैं इसलिए हिंसाके पोषक होनेसे हिंसारूप ही हैं।

इसलिए हिंसाके समान उनका भी त्याग करना चाहिए। और जहां प्रमादका योग नहीं है वे वचन हिंसाके पोषक न होनेसे असत्य वचन नहीं हैं। इसलिए उन वचनोंको अणुव्रती श्रावक बोल सकता है जैसे—

"सा मिथ्याऽपि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी"

जो गुरुको अपने ऊपर प्रसन्न करनेके हेतुसे (स्तुति रूपमें) जो वाणी बोली जाती है वह वाणी मिथ्या होनेपर प्रमादयोगपूर्वक नहीं बोली जाती है इसलिए मिथ्या नहीं है किंतु सत्य है।

अब—सत्याणुव्रतके पांचों ही अतिचारोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

मिथ्यादिशं रहोऽभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत्।
न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च तद्व्रतः॥ ४५॥

अन्वयार्थ—(तद्व्रतः) सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (मिथ्यादिशं) मिथ्या उपदेशको (रहोऽभ्याख्यां) रहोऽभ्याख्याको (कूटलेखक्रियां) कूटलेख क्रियाको (न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां) न्यस्तांश विस्मर्त्रनुज्ञाको (च) और (मन्त्रभेदं) मंत्रभेदको (त्यजेत्) छोडे।

भावार्थ–मिथ्योपदेश—किसीको अभ्युदय और मोक्षसे संबंध रखनेवाली क्रियामें सन्देह उत्पन्न हुवा और उसने आकर पूछा कि इस विषयमें हमें क्या करना चाहिये? किस प्रकारकी प्रवृत्ति करनी चाहिये? उसके उत्तरमें न समझदारीके कारण विपरीत मार्गका उपदेश देना 'मिथ्योपदेश' कहलाता है (जानबूझकर मिथ्या उपदेश करना तो अनाचार है) अथवा प्रमादवश होकर परपीडा उत्पादक उपदेश वचनको मिथ्योपदेश कहते हैं। जैसे ऊँटोंसे, गधोंसे माल ढोना चाहिए, डाकुओंको मारना चाहिये, इस प्रकारके वचनोंको विना प्रयोजनके बोलना मिथ्योपदेश कहलाता है, अथवा विवादके उपस्थित होने पर स्वयं व दूसरोंके द्वारा किसी एकके ठगनेके लिए उपायके बतानेको मिथ्योपदेश कहते हैं। इसप्रकार 'मिथ्योपदेशक' के तीन अर्थ किए हैं।

रहोऽभ्याख्या—एकांतमें स्त्री पुरुषोंकी आपसमें होनेवाली चेष्टाओंको हास्य तथा विनोद आदिसे प्रगट करना, उन दंपती तथा दूसरोंके लिए रागवर्द्धक होनेसे अतीचार है, (अभिनिवेशपूर्वक किसी प्रकारकी हठसे या रागादिके आवेशसे प्रतिपादन करनेसे अतीचार नहीं किन्तु अनाचार होता है।)

कूटलेखक्रिया—किसीने तो कहा ही है और न किया ही है, केवल पर प्रयोगसे जानकर किसीको ठगनेके लिए यह लिख देना कि–"इस प्रकारसे उसने कहा है अथवा किया है" यह कूटलेखक्रिया कहलाती है। अन्य आचार्योंके मतसे दूसरों कैसे अक्षर व मुहर बनानेको कूटलेखक्रिया कहते हैं।

न्यस्तांशविस्मत्रनुज्ञा—कोई अपनी धरोहर रखगया और कालांतरमें उठानेको आया परन्तु उसकी संख्या उसे ठीक मालूम न रही और उसने कुछ कम संख्या बोली, उस समय उससे यह कहना–"क्योंजी, इतनी ही है न? हमारे ध्यानमें भी जितनी संख्या तुम बता रहे हो उतनी ही है, ले जाओ।" यह न्यस्तांशविस्मत्रनुज्ञा नामक अतीचार है।

मन्त्रभेद—अङ्गविकार तथा भोंहोंके निक्षेपणसे (फडकनेसे) परके अभिप्रायको (मन्त्रको अनुमानसे) समझ कर इर्ष्यादिकके कारण प्रगट करना मन्त्रभेद कहलाता है। अथवा विश्वासपात्र मित्रादिकके साथ अथवा अपने साथ मन्त्र किये हुये जो लज्जा उत्पादक अभिप्राय है उसका प्रगट करना मंत्रभेद कहलाता है। इन सत्याणुव्रतके अतिचारोंको टालकर सत्याणुव्रत पालना चाहिये। यशस्तिलकमें सोमदेवाचार्यने जो—

मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम्।
मुधा साक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः॥

अर्थ—मंत्रभेद, परिवाद, पैशून्यं, कूटलेखक्रिया और झूठी गवाही देना ये पांच सत्यव्रतके विघातक अतिचार बताये हैं, वे अतिचार इन पांच अतिचारोंसे कुछ भिन्न मालूम पडते हैं सो उनका भी ग्रहण "परेप्यूह्याः तथात्ययाः" इस इसी अध्यायके १८ वें श्लोकके वाक्यसे समझना चाहिये। अर्थात् सत्याणुव्रतीको इनका भी त्याग करना चाहिये।

अब—अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं—

चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्ददीत न परस्वम्॥ ४६॥

अन्वयार्थ—(चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतः) चौर इत्यादि नामको करनेवाली स्थूल चोरीका है व्रत-त्याग जिसके ऐसा पुरुष अर्थात् अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (मृतस्वधनात्) मृत्युको प्राप्त होचुके पुत्रादिकसे रहित अपने कुटुम्बी भाई वगैरहके धनसे (च) तथा (अखिलभोग्यात्) सम्पूर्ण लोगोंके द्वारा भोगने योग्य (उदकादेः) जल घास आदि पदार्थोंसे (परं) भिन्न (परस्वं) दूसरेके धनको (न हरेत्) न तो स्वयं ग्रहण करे और (न ददीत) न दूसरोंके लिये देवे।

भावार्थ—चोर धर्मकी पर्वा नही करता है और हिंसा भी करता है। इसलिये यह चोर है, धर्मघातक है, हत्यारा है, इत्यादि नाम जिस चोरीके कारण पडते हैं। घर फोडकर, ताला तोड कर परकीय अदत्त चेतनात्मक व अचेतनात्मक वस्तुओंके ग्रहण करनेको चोरी कहते हैं। ऐसी चोरीका जिसने त्याग किया है, वह अचौर्याणुव्रती है। जिस पर अपना हक्क पहूंचता है, इस प्रकारके मृत कुटुम्बीके धनको तथा सर्वसाधारणके काम आनेवाली नदी पानी आदिको तो विना किसीके दिये वह लेता है, और दूसरेको देता है और किसी भी चीजको विना दिये न लेता है और न किसीको देता है—

अर्थात् पुत्रादिकके अभावमें जिन कुटुम्बियोंकी संपत्तिका साक्षात् कोई अधिकारी नहीं रहा है ऐसी स्थितिमें अपना हक पहूंचता हो तो श्रावकके लिए वह संपत्ति परस्वामिक नहीं रहती है किंतु अपनी समझी जाती है, अतः व्रती उसको ले सक्ता है उस समय उसके अदत्तका आदान नहीं समझा जाता है और यदि अपनी अपेक्षा और कोई नजदीकका हक्कदार सिद्ध होता हो तो उस संपत्तिका ग्रहण नहीं किया जा सक्ता है, कारण वह परकीय है, उस वस्तुको विना दिए नहीं ले सक्ता है और न दूसरोंको ही दे सक्ता है। मट्टी पानी जो सर्वसाधारणके कामकी चीज है उसका उपयोग स्थानीय व आगन्तुक लोग करते हैं ऐसी चीजके ग्रहणमें भी अदत्तका आदान नहीं समझा जाता है, क्योंकि ऐसी वस्तुएं राजा आदिके द्वारा सर्वसाधारणके लिए प्रदत्त समझी जाती है, उसका उपयोग हरएक कर सक्ता है। इन दो प्रकारकी वस्तुओंके सिवाय अणुव्रती किसी भी वस्तुको विना दिए न तो किसीको दे सक्ता है और न ले सक्ता है।

अब—प्रमत्त योगपूर्वक विना दिये हुए तृणको भी उठानेमें और दूसरेको देनेमें अचौर्याणुव्रयका भङ्ग होता है यह बताते हैं—

संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम्।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम्॥ ४७॥

अन्वयार्थ—(संक्लेशाभिनिवेशेन) रागादिकके आवेशसे (अदत्तं) विना दिये हुये (अन्य-भर्तृकं) अपनेसे भिन्न है स्वामी जिसका ऐसे अर्थात् दूसरेके (तृणं अपि) तृणको भी (आददानः) ग्रहण करनेवाला (वा) अथवा (ददानः) दूसरेके लिये देनेवाला ('पुरुषः') पुरुष (ध्रुवं) निश्चयसे (तस्करः) चोर ('भवति') होता है–कहलाता है।

भावार्थ—रागद्वेष पूर्वक दूसरेकी मालकीके तिनकेको भी उठानेवाला व दूसरेको देनेवाला चोर है, इसमें कोई संशय नहीं है क्योंकि प्रमाद योगके कारण ही दूसरेकी चीजको स्वयं ग्रहण व दूसरेको वितरण करनेमें चोरी होती है।

अब–जो धन जमीनके अन्दरसे मिला हो, अथवा आम रास्तेमें पडा हो उसका भी ग्रहण न करना चाहिए यह बताते हैं—

नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादिधनं यतः।
धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—('अचौर्याणुव्रतिना') अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकके द्वारा (अस्वामिकं) इस धनका कोई स्वामी नहीं है (इति) ऐसा विचार करके (निधानादिधनं) जमीन नदी आदिमें रक्खा हुआ धन (न ग्राह्यं) ग्रहण करनेके योग्य नहीं है अर्थात् अचौर्याणुव्रती श्रावकको इस प्रकारका धन ग्रहण नहीं करना चाहिये (यतः) क्योंकि (इह) इस लोकमें (अस्वामिकस्य) जिस धनका कोई स्वामी नहीं है ऐसे (धनस्य) धनका (मेदिनीपतिः) राजा (दायादः) साधारण स्वामी ('भवति') होता है।

भावार्थ—कहींपर गढ़ा हुवा धन (दफीना) मिले तो उसको व्रतीको नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उसकी मालिकी राजाको प्राप्त है, मिलनेवालेको नहीं है। इसलिये उसको राजाके यहां पहूंचाना चाहिये अथवा वैसी ही पडी रहना देना चाहिये। उनको अपने घरमें नहीं लाना चाहिये और न किसीको देना ही चाहिए।

अब—अपनी चीजमें भी अपने होनेका यदि संशय उत्पन्न हो तो उसका भी ग्रहण न करना चाहिए यह बताते हैं—

स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम्।
यदा तदाऽऽदीयमानं व्रतभङ्गाय जायते ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिससमय (स्वं अपि स्वं) अपना भी धन ('इदं धनं मम स्यात्') यह धन मेरा है (वा) अथवा (न वा) नहीं है (इति) इसप्रकारसे (द्वापरास्पदं) संशयका स्थान ('भवति') होता है (तदा) उससमय (आदीयमानं) ग्रहण किया गया अथवा दूसरेके लिये

दिया गया ('स्वं अपि स्वं') अपना भी धन (व्रतभङ्गाय) व्रतभङ्गके लिये (जायते) होता है अर्थात् अचौर्याणुव्रतके भङ्गका कारण होता है।

भावार्थ—कभी २ ऐसा होता है कि अपनी वस्तुमें भी कभी संशय होजाता है "कि न मालूम यह वस्तु मेरी है या किसी औरकी है", ऐसी स्थितिमें व्रतीको उसका भी ग्रहण नहीं करना चाहिये और न उठाकर दूसरेको ही देना चाहिये। यदि वह उसका ग्रहण करेगा या दूसरेको देगा तो उससे उसका व्रत भङ्ग होजायगा।

अब—अचौर्याणुव्रतके यह पांचो अतिचार छोडने चाहिए—

चोरप्रयोगचोराहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम्।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—('अचौर्याणुव्रती') अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (चोरप्रयोगचोराहृतग्रहौ) चोरीके उपाय बतानेको, चोरोंके द्वारा लाई हुई वस्तुके खरीदनेको, (अधिकहीनमानतुलं) मान तथा तुलाके हीनाधिक रखनेको (प्रतिरूपकव्यवहृतिं) प्रतिरूपक व्यवहारको (अपि) और (विरुद्धराज्ये) विरुद्ध राज्यमें (अतिक्रमं) अतिक्रमको (जह्यात्) छोडे।

भावार्थ—चोर प्रयोग, चोराहृतग्रह, अधिकहीनमान तुल्य, प्रतिरूपक व्यवहार और विरुद्ध राज्यातिक्रम ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं इनका त्याग करना चाहिए।

चोर प्रयोग—चोरी करनेवालेको स्वयं व दूसरेके द्वारा 'तू चोरी कर' इस प्रकारकी प्रेरणा करना चोर प्रयोग है। अथवा जिसे पहिले प्रेरणा की थी उसको 'तू ठीक कर रहा है' इस प्रकारसे अनुमोदना करना भी चोर प्रयोग कहलाता है। अथवा चोरोंको कुस, कैंची, कमन्द आदि चोरीके उपकरणोंके समर्पण व बेचनेको भी चोर प्रयोग कहते हैं। चोर प्रयोग करते समय यद्यपि वह स्वयं चोरी नहीं करता है और न साक्षात् किसी दूसरेसे भी चोरी कर रहा है तौभी चोर प्रयोगसे उसका व्रत भंग होता है इसका स्पष्टीकरण यह है कि चोरसे यह कहना कि आजकल आप बेकार क्यों बैठे हो, यदि आपके पास भोजन वगैरह न हो तो हमसे ले जाओ। आप जो चुराकर लाते हैं उसका कोई यदि आपको खरीददार नहीं मिलता हो तो मैं बेच दूंगा, इस प्रकारके वचनोंसे चोरको चोरीमें प्रवृत्त करता है परन्तु स्वयं अपनी कल्पनासे वह चोरी नहीं करा रहा है, इसप्रकारसे व्रतकी अपेक्षा रखते हुए वह चोरीके लिए चोरका सहायक होता है, इसलिये यह चोर प्रयोग नामका अतिचार है।

चोराहृतग्रह—विना प्रेरणाके अथवा विना अनुमोदनाके चोर द्वारा स्वयं लायी हुई वस्तुका ग्रहण करना चोराहृतदान कहलाता है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि चोर द्वारा लायी हुई चीज छिपकर

लीजाती है, बाजारभावसे नहीं लीजाती है, वह खुला व्यवहार नहीं है। इसलिये चोरीकी चीज लेने-वाला भी चोर है परन्तु वह अपने मनमें यह समझता है कि मैं स्वयं चोरी नहीं कर रहा हूं, मैं तो कीमत देकर खरीद कर रहा हूं अतः व्यापार कर रहा हूं, इसप्रकार व्रतसापेक्ष होनेसे और परिणामोंमें अदत्तादानके तरफ झुकावसे एकदेश भङ्गाभङ्ग होनेके कारण यह चोराहृतादान नामका अतिचार है।

अधिक हीनमानतुल—कपडे आदिका व्यवहार नापनेके द्वारा और धान्य आदिका व्यवहार तोलनेके द्वारा होता है। अपने लिये लेते समय अधिक नापने व तोलनेवाले उपकरणोंसे वस्तुका ग्रहण करना और दूसरोंको देते समय हीन बांट तराजू आदिसे वस्तु देना, इसप्रकारके अप्रामाणिक व्यवहारको अधिक हीनमानतुल नामका अतिचार कहते हैं। क्योंकि ऐसा करनेसे दूसरेकी अदत्त वस्तुका एक प्रकारसे ग्रहण होनेसे एकदेश व्रतभंग होता है और प्रत्यक्षमें भंग नहीं कर रहा है, इसलिये उसके एकदेशसे व्रतभंग और अभंग होरहा है। इसलिए यह अतिचार है। क्योंकि जबतक व्रतकी अपेक्षा रहती है तबतक अनाचार नहीं कहा जासकता है।

प्रतिरूपक व्यवहृति—सदृश अल्प मूल्यवाली वस्तुको बहुमूल्य वस्तुमें मिलाकर व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहृति नामका अतीचार है जैसे–घीमें चर्बी मिलाकर बेचना, तेलमें मूत्र मिलाकर बेचना, असली सोने चांदीमें कम कीमतके सोने चांदी मिलाकर बेचना, धानमें धानका भूसा मिला-कर बेचना, इत्यादि। यहांपर भी एक प्रकारसे परद्रव्यका अदत्त ग्रहण होनेसे व्रतका भंग और व्रतकी अपेक्षा अभी मौजूद है इसलिए अभंग मानकर अतीचार समझना चाहिए। क्योंकि इसप्रकार अती-चार लगानेवालेकी ऐसी समझ (भावना) होती है कि किसीका ताला तोडना, डांका डालना चोरी है, कम अधिक तोलमाप चोरी नहीं है और न अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम कीमतकी चीज मिलाकर बेचना ही चोरी है, किन्तु व्यापार है, यह एक प्रकार व्यापारीकी कला है, इस भावनासे वह अपनी समझसे व्रत भंग नहीं कर रहा है, इसलिए ये दोनों अतीचार कहे हैं।

विरुद्ध राज्यातिक्रम—छत्रभंग होनेपर अर्थात् राजाके राज्य छीन जानेपर अथवा एक राजाके ऊपर दूसरे राजाके आक्रमण होनेपर राज्यकी जो स्थिति होती है उसको विरुद्ध राज्य कहते हैं। ऐसे अवसरपर शासनकी गडबड रहती है। अतः अति लोभसे उचित न्यायमार्गका उलंघन करके व्यापार सम्बन्धी अतिक्रम करना, अर्थात् कम कीमतकी चीजको अधिक कीमतमें लेना और अधिक मूल्यकी चीजोंको कम कीमतमें खरीदना विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतीचार है अथवा परस्परमें विरोधी राजाओंकी जो सीमा व सेनाकी व्यवस्था होती है उसका अतिक्रमण करना अर्थात् अमुक सीमातक ही परस्पर विरोधी राजाओंके आदमी जा सकते हैं, सीमाका उलंघन करके नहीं जा सकते है। इसप्रकारकी व्यवस्थाका व्यापार आदिके लोभसे उलंघन करना, सीमाकी परवाह न करके दूसरेके राज्यमें आदमीको भेजना व बुलाना, विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतीचार है। क्योंकि

सीमाका कलंघन करते समय वहांके राजाकी आज्ञा पालन नहीं कीगई है। वहांकी भूमिपर जाना एक प्रकार अदत्तका आदान होचुका है और उसकी आज्ञाभंगकी एवजमें दण्ड दिया जासक्ता है इस दृष्टिसे व्रत भंग हुआ है, परन्तु मैं दूसरेकी भूमिमें आया हूं या आदमी भेजा है, विना ऐसा किए हमारा काम नहीं वन सक्ता अर्थात खासी नफा मिल नहीं सक्ती। मैंने व्यापार किया है चोरी नहीं की, इस प्रकारकी भावना करता है। विरुद्ध राज्यमें अतिक्रम करनेवाला अपने व्रतका भंग नहीं मानता है इसलिए भंगाभंग रूप होनेसे यह अतीचार है। इसी प्रकार विरुद्ध राज्यतिक्रमके प्रथम अर्थमें भी शासनकी गडवडसे लोभातिरेकके कारण भंग, उसकी व्यापारकी भावनासे अभंग सिद्ध होनेसे अतीचार है अथवा चोर प्रयोग वगैरह पांचों ही अतीचार यदि साक्षात् किए जावे तो चोरीरूप ही है, केवल सहकारीपनेकी विवक्षामें ही वे सब अतीचार नामसे कहे जाते हैं।

यहां शङ्का होसक्ती है कि ये अतीचार राजा व उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियोंमें कैसे लागू पडेंगे ? इसका समाधान यह है कि चोरप्रयोग और चोराहृतादान तो लोभके कारण राजा व उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा भी होसकते हैं। कारण वे भी यदि लोभाधिकके वश होकर ऐसा कर सकते हैं। और राजाके भण्डारकी चीजोंके लेने देनेके व्यवहारमें, अधिक नापना तोलना तथा कम कीमतकी चीज वहुत कीमतकी चीजमें मिलाकर भी दी जासकती है। इसलिए तीसरा और चौथा भी अतीचार घट सकता है। रहा पांचवा विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतीचार, सो राजाके प्रति व उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियोंमें इस प्रकारसे घटता है कि कोई सामन्त अपने मालिकके यहां रहकर शत्रु राजाके साथ उसको सहायता देनेकी क्रिया करता हो तो उसका वह विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतीचार है।

सोमदेवाचार्यने अपने यशस्तिलक ग्रन्थमें अचौर्याणुव्रतके अतिचारोंमें अधिक लेना और कम देना ये दो स्वतन्त्र अतीचार माने हैं जैसे—

मानवन्न्यूनताधिक्ये तेन कर्म ततो ग्रहः।
विग्रहो संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः॥

अर्थ—मापनेके योग्य चीजोंको कम देना १, और अधिक लेना २, चोरको चोरीका प्रयोग वताना ३, चोरके द्वारा लाई हुई चीजका खरीदना ४, और युद्धके समय अतिलोभसे पदार्थोंका संग्रह करना ५, ये पांच अतिचार वताए हैं।

अव—स्वदारसन्तोष अणुव्रतके ग्रहण करनेका उपदेश देते हैं—

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः।
इत्यप्रत्ययितमनाः श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसन्तोषम्॥ ५१॥

अन्वयार्थ—(प्रतिप्रक्षभावनैव) प्रतिपक्ष भावना ही ब्रह्मचर्यव्रतका चित्तमें वारम्वार चिंतवन

करना ही (रिंसारुजि) योनि वगैरहमें रमण करनेकी इच्छारूप वेदनामें (प्रतिकारः) प्रतीकार ('भवति') होता है किन्तु (रती) स्त्री संभोग (प्रतीकारः 'न भवति') प्रतीकार नहीं होता है (इति) इस प्रकारसे (अप्रत्ययितमनाः) उत्पन्न नहीं हुआ है चित्तमें विश्वास जिसके ऐसा (अहिंसः) अहिंसाणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (स्वदारसन्तोषम्) स्वदार सन्तोष नामक व्रतको (श्रयतु) स्वीकार करता है।

भावार्थ—मैथुन संज्ञाकी वेदना रूपी रोगका इलाज पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है। अर्थात् वास्तवमें विचार कर देखा जावे तो जब मैथुनासंज्ञाके परिणाम हो उस समय इसके विपरीत ब्रह्मचर्यके विचारोंका आश्रय लेना ब्रह्मचर्यके ऊपर विश्वास रखकर वेदना सहना ही सच्चा इलाज है। भोगोंकी ओर प्रवृत्त होना इलाज नहीं है। भोग भोगनेसे यद्यपि तत्काल खाज खुजानेके समय शांति मालूम पडती है परन्तु उससे पुनः भोग तृष्णा बढती है, घटती नहीं है, यह आप्त प्रतिपादित सिद्धांतपर श्रद्धा तो बैठती है, समझमें भी आता है परन्तु जिनके मनमें आचरण करनेकी तैयारीकी शक्ति नहीं है वह अहिंसाव्रत पालनेवाला स्वदार संतोष व्रतको पाले। अर्थात् जैसे महाव्रत ही जीवके लिये सच्चा हितकारी है, यह जिनेंद्रकी आज्ञासे मानता है, विश्वास करता है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे पाल नहीं सकता है, इसलिए अणुव्रत पालनेकी श्रावकको आचार्यों द्वारा अनुमति दी जाती है वैसे ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पालनेको उत्कृष्ट मानकर भी उसके पालनेमें जो असमर्थ हैं वे स्वदारसन्तोष नामका गृहस्थ सम्बन्धी ब्रह्मचर्य पाले।

अब—स्वदार सन्तोषीका स्वरूप बताते हैं—

सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा॥ ५२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो गृहस्थ (अंहसः भीत्या) पापके भयसे (अन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ) परस्त्री और वेश्याको (त्रिधा) मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनासे (न गच्छति) न तो स्वयं सेवन करता है और (न अन्यैः गमयति) न पर पुरुषोंसे सेवन करवाता है (सः) वह गृहस्थ (स्वदारसन्तोषी) स्वदारसन्तोषी अर्थात् स्वदारसन्तोष नामक अणुव्रतको पालन करनेवाला (अस्ति) कहलाता है।

भावार्थ—परिगृहीता और अपरिगृहीता स्त्रीको अन्य स्त्री कहते हैं। जिसका स्वामी मौजूद है और उसके साथ वह रहती है उसको परिगृहीता अन्य स्त्री कहते हैं। कन्या भी आगे किसीकी पत्नी होगी इस अपेक्षासे अथवा मातापिताके स्वाधीन रहते हैं इसलिये अन्य स्त्रीसे भिन्न नहीं है।

जिसका पति मरगया हो, स्त्रीको छोडकर परदेशमें रहनेवाला हो अथवा जो अनाथ हो उसे अपरिगृहीता अन्य स्त्री कहते हैं। और वेश्याको प्रगट स्त्री कहते हैं। इस प्रकार परस्त्री और प्रकट

स्त्रीके प्रति पापके डरसे मन, वचन, कायसे अथवा कृत कारित और अनुमोदनासे न तो स्वयं गमन करता है और न दूसरे काम-लंपटोंको ऐसा करनेके लिये उकसाता है वह स्वदार सन्तोषी है। अर्थात् अपनी धर्मपत्नीमें ही केवल मैथुन संज्ञाके प्रतीकार करनेकी इच्छा रखता हुआ सन्तोष रखनेवाला है।

इस प्रकारका स्वदार-सन्तोष ब्रह्मचर्याणुव्रत, निरतीचार, अष्टमूलगुण पालनेवाले और निर्दोष सम्यग्दर्शन सहित नैष्ठिकके होता है। अर्थात् पहली प्रतिमाको परिपूर्ण रीतिसे पालकर आगेकी व्रतिक प्रतिमाको पालनेवाले नैष्टिक श्रावककी अपेक्षासे है, परन्तु जो स्वस्त्रीके समान साधारण स्त्री (प्रकट स्त्री) का व्रत लेनेमें असमर्थ है, केवल परस्त्रीके त्यागका व्रत धारण करता है वह भी एक प्रकारसे ब्रह्मचर्याणुव्रती है। क्योंकि दो प्रकारसे ब्रह्मचर्याणुव्र माना है—एक "स्वदार-सन्तोष," दूसरा "परस्त्रीत्याग" है, और हमारा यह कथन स्वदार सन्तोष व्रतका लक्षण करते समय 'अन्यस्त्री प्रगटस्त्रियों" इस वाक्यके द्वारा अन्य स्त्री और प्रकटस्त्री इसतरह दो प्रकार स्त्रियोंके त्यागके उपदेशसे सिद्ध होता है अर्थात् यदि केवल "स्वदारसन्तोष" एक ही व्रत होता "परदार" निवृत्ति नामका दूसरा व्रत न होसकता होता तो अपनी स्त्रीमें ही सन्तोष करनेवाला स्वदारसन्तोषी होता है इतना ही लक्षण किया जाना चाहिए था परन्तु ऐसा लक्षण न करके स्त्रियोंके भेद बताकर उनके त्यागका उपदेश दिया गया है इससे सिद्ध होता है कि दो प्रकारके व्रत हैं उनमेंसे "स्वदारसन्तोष" व्रत नैष्टिक श्रावकके लिए इष्ट है और "परदारनिवृत्ति" यह अभ्यासोन्मुख श्रावकके लिए इष्ट है ऐसा समझना चाहिए। इसका खुलासा यशस्तिलक ग्रन्थमें भी सोमदेवाचार्यने स्वयं किया है—

वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे॥

अर्थात्—अपनी स्त्री और (वेश्या) वित्तस्त्रीको छोडकर सब प्रकारकी स्त्रियोंमें माता, बहिन पुत्रीकी बुद्धि रखना गृहस्थाश्रमका ब्रह्मचर्य व्रत माना है।

श्री वसुनन्दी आचार्यने भी दर्शनप्रतिमाका स्वरूप यह बताया है कि—

पंचुंबरसहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ॥

अर्थात्—जो पंच उदुम्बर फल और सातव्यसनोंका त्याग करके विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करनेवाला है वह दर्शन प्रतिमावाला है। तथा उनके ही मतानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप माना है कि—

पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जेइ।
थूलअड बंभयारी जिणेहिं भणिदो पवयणम्हि॥

अर्थात्—जो पर्वमें स्त्रीसेवाका त्यागी होता है सदैव अनङ्गक्रीडा नहीं करता है, उसे जिन प्रवचनमें भगवानने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।

इस लक्षणमें स्वदारसन्तोष नैष्ठिकका व्रत होता है तथा स्वामी समंतभद्रके मतसे दर्शनप्रतिमाका लक्षण इस प्रकार है कि—

" सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ "

अर्थात् जो पंचपरमेष्ठीका ही शरण लेता है और संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है तत्त्वपथका जिसको सदैव पक्ष होता है, उसे दार्शनिक श्रावक कहते हैं ।

इस दर्शनप्रतिमाके लक्षणसे "स्वदारसन्तोष" नैष्ठिक श्रावकका व्रत है और अन्य स्त्री, प्रकटस्त्री आदि उस व्रतके अतीचार हैं इन अतीचारोंको टालकर मन, वचन और कायसे तथा कृतकारित अनुमोदनासे स्वदारसन्तोष व्रत धारण करना चाहिए। ऐसा ऊपर कहे हुए स्वदारसन्तोषके लक्षण-वाचक पद्यका अर्थ करना चाहिए ।

तात्पर्य—यह है कि ग्रन्थकारने यशस्तिलक ग्रन्थके "वधूवित्तस्त्रियो" इत्यादि श्लोकमें बताए हुए गृहस्थीके ब्रह्मचर्यव्रतकी अपेक्षासे "परदारनिवृत्ति" नामका ब्रह्मचर्याणुव्रत अभ्यासोन्मुख श्रावकके लिए बताया है और स्वामी समन्तभद्र तथा वसुनंदी आचार्यके सिद्धांतानुसार दर्शनप्रतिमाको परिपूर्ण पालते हुए दूसरी प्रतिमा पालनेवालेके (नैष्ठिकके) स्वदारसन्तोष व्रत होता है यह बताया है और इसी व्रतके अतीचार अन्य स्त्री गमन, प्रकट स्त्री गमन हैं, इनको टालकर मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनासे स्वदारसन्तोष व्रत पालना चाहिए, ऐसा उपदेश दिया है, यह अर्थ करना चाहिये ।

यद्यपि—जो स्वदारसंतोष व्रत पालता है उसको अव्रतीके समान पापबन्ध नहीं होता, तथापि गृहस्थव्रतीको अपने गृहस्थाश्रममें रहते हुए मुनिधर्ममें अनुरागी होना चाहिए। जबतक यतिव्रतकी प्राप्ति नहीं हुई उसके पहिले उत्कृष्ट रीतिसे श्रावकव्रत पालनेके लिए कामभोगोंसे विरक्त होकर वह अपने व्रतकी अन्तिम सीमाको प्राप्त हो इसके लिये अब्रह्म (स्त्रीसंभोग)के दोषोंका सामान्य रीतिसे वर्णन करते हैं—

सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत् ।
स्त्रीसम्भोगस्तथाऽप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—('यद्यपि') यद्यपि (स्त्रीसम्भोगः) स्त्रीसम्भोग (सन्तापरूपः) सन्तापको करने-वाला है स्वरूप जिसका ऐसा और (मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत्) मोह, अंगसाद और तृष्णानुबंध-कारक अर्थात् मूर्च्छाजनक, सहनशीलतानाशक और तृष्णाका बढ़ानेवाला ('भवति') होता है (तथाऽपि) तौ भी (चेत्) यदि (एषः) यह स्त्री सम्भोग (सुखं) सुख है अर्थात् हे आत्मन्! यदि तू इसको सुख मानता है तो फिर (ज्वरे) ज्वरमें (का अक्षमा) क्यों ईर्षा करता है अर्थात् ज्वरको भी सुख मानना चाहिये ।

भावार्थ—हित अनहितकी पहिचान भूलजानेको "मोह" कहते हैं। शरीरकी सहनशीलताके नाशको "अंगसाद" कहते हैं। सदैव प्यासकी अशांतिको 'तृष्णानुबन्ध" कहते हैं। स्त्रीप्रसंगसे पित्त प्रकोप होता है। इसलिये वह ज्वरके समान शरीरको संतप्त करता है। ज्वरके समान ही मोह करता है अर्थात् मूर्च्छाजनक है। शरीरमें सहनशीलताका नाश करके ज्वरके समान ही शिथिलता लाता है। ज्वरके समान सतत् तृष्णाकारी है। फिर भी भो आत्मन्! वह सुख है अर्थात् स्त्री संभोगको तुम सुख मानते हो तो फिर तुम्हारी तो ज्वरके विषयमें अक्षमा कैसी अर्थात् घबडाहट क्यों दर्शाते हो? उसमें भी स्त्री संभोगके पूर्वोक्त चिह्न घटते हैं। इसलिये ज्वरको भी सुख मानना चाहिये।

स्त्रीसंभोगो न सुखं चेतस्समोहात् गात्रसादनात्
तृष्णानुबन्धात् सन्तापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः।

अर्थात्—जैसे चित्तको मूर्च्छित करनेसे, शरीरको शिथिल करनेसे, तृष्णाकी संततिका जनक होनेसे और संतापरूप होनेसे ज्वर सुख नहीं होसकता वैसे ही स्त्री संभोग भी इन चारों कारणोंसे सुखरूप नहीं होसकता है।

अब—परस्त्री सेवनमें सुख नहीं मिल सकता यह बताते हैं—

समरसरसरङ्गोद्गममृते च काचित्क्रिया न निर्वृतये।
स कुतः स्यादनवस्थितचित्ततया गच्छतः परकलत्रम् ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(समरसरसरङ्गोद्गमं) जब समरसरूप रसरंगकी उत्पत्तिके विना अर्थात् समान रतिके विना (काचित्) आलिंगन आदि कोई भी (क्रिया) क्रिया (निर्वृतये) सुखके लिये (न च 'भवति') नहीं होती है तब (अनवस्थितचित्ततया) अनवस्थित चित्तपनेसे (परकलत्रं) परस्त्रीको (गच्छतः) सेवन करनेवाले पुरुषके (सः) वह समरसरूप रसरंगकी उत्पत्ति अर्थात् समानरति (कुतः स्यात्) कहांसे होसकती है अर्थात् कहींसे भी नहीं होसकती है।

भावार्थ—समरसरसरंगोद्गमका अर्थ (सारांश) समान रति है और वह समान रति अपनी स्त्रीके समागममें ही प्राप्त होसकती है। परस्त्री संभोगमें उसके पति व कुटुंबी अथवा अन्य व्यक्तियोंका तथा जननाका भय रहता है और इस कारणसे चित्तकी वृत्ति स्थिर नहीं रहती है किन्तु भयरूप रोगसे ग्रस्त रहती है। अतः समान रतिजनित सुखकी परस्त्री सेवनमें संभावना नहीं है। इसलिये इसके (समान रतिके) विना परस्त्रीके सम्बंधमें किए गए आलिंगन चुंबनादि कोई भी क्रिया सुखरूप नहीं होसकती है।

तात्पर्य—यह है कि परस्त्री सेवन धर्मदृष्टिसे घातक है ही परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे भी आनंदका जनक नहीं है। उसका सदैव त्याग करना चाहिए। उसके पीछे अपनेको पापमें और दुःखमें नहीं घसीटना चाहिए।

अब—स्वदार-संतोषव्रतीके भी स्त्रीसेवनमें द्रव्य और भावहिंसा होती है यह बताते हैं—

स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च ।
योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(स्त्रियं भजन्) स्त्रीको सेवन करनेवाला पुरुष (रागद्वेषौ) राग तथा द्वेषको (भजति एव) अवश्य ही सेवन करता है अर्थात् नियमसे उसके रागद्वेष पैदा होते हैं (च) और नियमसे ('सः') वह (बहून्) बहुतसे (सूक्ष्मान्) सूक्ष्म (योनिजन्तून्) योनिसम्बन्धी जीवोंको (हिनस्ति) मारता है (अतः) इसलिये (स्वस्त्रीरतः अपि) अपनी स्त्रीमें रति-मैथुन करनेवाला भी अर्थात् अपनी स्त्रीको सेवन करनेवाला भी ('नरः') पुरुष (हिंस्रः) हिंसक ('भवति') होता है।

भावार्थ—स्वदार-सन्तोषीके आसक्तिकी मन्दतासे रागद्वेष मन्द होते हैं किंतु परस्त्री सेवन करनेवालोंको संक्लेश परिणामकी अधिकतासे आसक्तिकी प्रबलतासे तीव्र रागद्वेष होते हैं और रागद्वेषसे भावहिंसा होती है और योनिगत बहुतसे संमूर्च्छन जीवोंका स्त्रीप्रसंगसे घात होता है। इसलिये द्रव्य-हिंसा भी होती है। इसलिये स्त्रीप्रसंग करनेवाला अपनेमें रागद्वेषको उत्पन्न करनेके कारण भावहिंसा करता है तथा संभोग करके द्रव्यहिंसा करता है। 'वात्सायन'ने भी योनिमें सूक्ष्म जन्तुओंको माना है। जैसे उन्होंने कहा भी है कि—

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कंडूर्ति जनयन्ति तथाविधाम ॥

मृदु मध्यम अधिक शक्तिवाले रक्तसे उत्पन्न हुये, योनिमें खुजली उत्पन्न करनेवाले बहुतसे सूक्ष्म जीव होते हैं।

अतः अपनी भार्यामें संतोष करनेवाला स्वदार-संतोषी भी द्रव्य भाव हिंसाका करनेवाला है। इसलिये वह भी हिंसक है।

तात्पर्य—यह है कि जैसे अध्यात्म दृष्टिसे 'परिग्रह' प्रमुख पाप है और हिंसादिक, परिग्रहके ही कारणसे होते हैं इसलिए उसीके पर्यायवाचक हैं या भेदप्रभेद हैं, वैसे ही व्यावहारिक दृष्टिसे 'हिंसा' प्रमुख पाप है, असत्यादिक पाप उसके पर्यायवाचक हैं या भेदप्रभेद हैं। इस दृष्टिसे सब पापोंमें हिंसा होती है। तदनुसार स्वदार सन्तोषमें भी द्रव्य और भावहिंसा जिस प्रकारसे घट सकती है उसको ग्रन्थकारने यहां बताया है।

अब—ब्रह्मचर्यव्रतकी महिमा बताते हैं—

स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात् किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(स्वस्त्रीमात्रे अपि) अपनी स्त्री मात्रसे ही (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होता हुआ

(यः) जो (सदा) सदैव ही कभी भी (अन्याः स्त्रियाः) अन्य स्त्रियोंको (न इच्छेत्) नहीं चाहता है अर्थात् उनकी इच्छा नहीं करता है (सोऽपि) वह स्वदार-सन्तोषी पुरुष भी जब (अद्भुतप्रभावः) अद्भुत प्रभाववाला-लोगोंके द्वारा आश्चर्य करनेके योग्य माहात्म्यवाला (स्यात्) होता है तब (पुनः) फिर (वर्णिनः) सम्पूर्ण स्त्रियोंसे विरक्त ब्रह्मचारीके माहात्म्यका तो (किं वर्ण्यं) क्या वर्णन करें?

भावार्थ—केवल अपनी भार्यामें सदैव सन्तुष्ट रहकर जो कभी भी परनारीकी इच्छा नहीं करता है उसका भी प्रभाव अद्भुत होता है, अर्थात् उसकी महिमा भी लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाली होती है तो फिर जिसने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालकर अपने जीवनको महत्वपूर्ण बनाया है उसकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?

अब—स्त्रियोंके परपुरुषत्यागव्रतके माहात्म्यको दृष्टान्त द्वारा बताते हैं—

रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणम्।
परपूरुषमुज्झन्ती स्त्री सुरैरपि पूज्यते॥ ५७॥

अन्वयार्थ—(रावणं उज्झन्ती) रावणको छोड़नेवाली, त्यागनेवाली (सीता इव) सीताकी तरह (रूपैश्वर्यकलावर्यं अपि) रूप, ऐश्वर्य और कलाओंसे उत्कृष्ट अर्थात् असाधारण रूपादिवाले (परपूरुषं) परपुरुषको (उज्झन्ती) छोड़नेवाली-त्यागनेवाली (स्त्री) स्त्री (सुरैः अपि) देवोंके द्वारा भी (पूज्यते) पूजी जाती है।

भावार्थ—आकारकी सुन्दरताको रूप कहते हैं। प्रतिष्ठा, धन, आज्ञा और प्रभुता शक्तिको ऐश्वर्य कहते हैं। गाना नृत्य करना आदि 'कला' कहलाती है। इन बातोंमें सर्वश्रेष्ठ भी रावणको जैसे सीताने नहीं चाहा वैसे जो सती सीताके समान इन बातोंमें श्रेष्ठ भी परपुरुषका त्याग करती है वह स्त्री देवताओंके द्वारा भी लोकमें पूजाको प्राप्त होती है।

तात्पर्य—यह है कि ऐसी सदाचारिणी स्त्री लोगोंको आश्चर्यचकित करनेवाली प्रतिष्ठाको प्राप्त होती है।

अब—ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार बताते हैं—

इत्वरिकागमनं परविवाहकरणं विटत्वमतिचाराः।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडा च पञ्च तुर्ययमे॥ ५८॥

अन्वयार्थ—(इत्वरिकागमनं) इत्वरिकागमन (परविवाहकरणं) परविवाह करण (विटत्वं) विटत्व (स्मरतीव्राभिनिवेशः) कामतीव्राभिनिवेश (च) और (अनङ्गक्रीडा) अनङ्गक्रीड़ा ये (पञ्च) पांच (तुर्ययमे) सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतमें (अतीचाराः) अतीचार ('भवन्ति') होते हैं।

भावार्थ—इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश और अनङ्गक्रीड़ा ये ५ ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं।

१–इत्वरिकागमन—लोकमें गणिका व पुंश्चली, व्यभिचारिणी, इस नामसे विना स्वामीवाली असदाचारिणी स्त्रीको 'इत्वरिका' कहते हैं। चाहे जिस पुरुषके साथ व्यभिचारमें उद्युक्त रहनेकी जिस स्त्रीकी स्वभावसे तैयारी है उसे भी-वेश्याको भी 'इत्वरिका' कहते हैं। इत्वरिका स्त्रीके यहां गमन करनेवालेकी ऐसी भावना होती है कि "रुपये देकर जितने कालतक वह अपने आधीनताकी स्त्री है उतने कालतक वह परस्त्री नहीं है" अतः मेरे व्रतका भंग नहीं होता है, परन्तु वह वास्तवमें स्वपत्नी नहीं है इसलिये भंग होता है। इसप्रकार व्रतके भंगाभंग होनेसे यह अतीचार है। अर्थात् इत्वरिकाके जो दो अर्थ किये थे–एक वेश्या दूसरा पुंश्चली अर्थात् अपरिग्रहीता व्यभिचारिणी उनमेंसे वेश्या तो वेश्यापणेसे परदारा है ही और व्यभिचारिणी पुंश्चली अनाथ होनेसे परदारा है। और इन दोनों प्रकारकी असदाचारिणी स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जितने कालतक रुपये पैसा देकर अपनी समझसे परदारा नहीं समझता है उतने कालतक वह अपने व्रतका भंग नहीं मानता है। परन्तु वे दोनों ही प्रकारकी स्त्रियां लोकव्यवहारमें किसीकी स्त्री (स्वदारा) नहीं समझी जाती हैं। इसलिये व्रतके भंग और अभंगके होनेसे अतीचार समझना चाहिए।

अथवा वेश्या जब किसी अन्यके द्वारा परिगृहीती हो तब उसके यहां गमन करनेसे अर्थात् वह भी एक प्रकारकी परिगृहिता होगई, अतः परस्त्री समझनी चाहिए, उसका ग्रहण करनेसे व्रत भंग होता है, परन्तु लोकव्यवहारमें वेश्याको परस्त्रीकी रूढ़ी नहीं है, इसलिए वेश्या गमनमें भंग और अभंग पाए जानेसे अतीचार है।

कोई ग्रन्थकार 'परस्त्री त्यागव्रतीके' जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसी अपरिगृहीता कुलाङ्गनाके यहां गमनको भी अतीचार मानते हैं। उनके मतसे जिस अपरिगृहीता परस्त्रीका वह सेवन करता है वह अपनी भावनासे उसे परस्त्री नहीं मानता, परन्तु वह लोकव्यवहारमें वह भी परस्त्री समझी जाती है इसलिये भंग और अभंगके पाए जानेसे यह भी अतीचार है।

इस विवेचनसे तत्वार्थसूत्रकारने जो इत्वरिकाके दो भेद किये हैं–१ परिगृहीता इत्वरिका और २–अपरिगृहीता इत्वरिका। उन दोनों ही अतीचारोंका इस इत्वरिका गमन नामके अतीचारमें संग्रह होचुका है यह समझना चाहिये।

२–परविवाह करण—जिसने ऐसा व्रत लिया है कि मैं अपनी स्त्रीको छोड़कर किसी भी प्रकारकी स्त्रीका सेवन नहीं करूंगा, ऐसे "स्वदार-संतोषी" के तथा स्वपत्नी और वेश्याको छोड़कर अन्य सब प्रकारकी स्त्रियोंका सेवन मन वचन कायसे न करूंगा और न दूसरोंके लिये प्रेरक ही होऊंगा, इसप्रकारसे "परदार-निवृत्ति" व्रत लिया है उन दोनोंके ही "परविवाह करण" एक प्रकारसे विवाह करनेवाले दम्पतियोंके मैथुनके साधन जुटाना है इसलिये निषिद्ध है। परन्तु इस प्रकारके व्रत लेनेवाले, अपने अपने मनमें ऐसा समझते हैं कि मैंने तो इन वधूवरका विवाह किया है।

उन दोनोंके (दम्पतियोंके) लिए मैथुनमें प्रेरणा थोड़ी ही की है, इस दृष्टिसे गृहीत व्रतका अभंग है। परन्तु वास्तवमें मैथुनके लिये वह (विवाह) कारण है। इसलिये व्रतका भंग समझना चाहिए। इस प्रकारसे भंग और अभंगकी अपेक्षा 'परविवाह करण' अतीचार है, यहां व्रत पालनेवाले दो हैं—एक सम्यग्दृष्टि, दूसरा भद्र मिथ्यादृष्टि, उनमेंसे सम्यग्दृष्टि तो अज्ञानके कारण कन्यादानके फलकी इच्छासे अतीचार करता है तथा भद्र मिथ्यादृष्टि अनुग्रहकी दृष्टिसे दूसरोंके कन्या व पुत्रोंके विवाह करके अतीचार सेवन करता है।

शङ्का—तो फिर अपने कन्या तथा पुत्रका भी व्रतीको विवाह नहीं करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि यदि अपनी कन्याका विवाह नहीं किया जावेगा तो विना विवाहके वह स्वच्छन्दा-चारिणी होजावेगी। इसी तरह पुत्रका यदि विवाह नहीं किया गया तो वह भी स्वेच्छाचारी होजावेगा और इस तरह कुल शास्त्र तथा लोकव्यवहारमें विरोध आवेगा। इसलिए अपनी जिम्मेवारीका ख्याल करके पुत्र और पुत्रीका विवाह व्रतीको करना लाजमी होजाता है। हां! यदि किसीके योग्य भाई भतीजे घरमें हों और अपनी कन्या व पुत्रके विवाहकी जिम्मेदारी वे अपने ऊपर ले लेवें तो फिर व्रतीको अपने भी कन्या और पुत्रका विवाह नहीं करना चाहिये, यह सर्वश्रेष्ठ पक्ष है।

जव व्रती अपनी एक स्त्रीके रहते हुए भी दूसरी शादी करता है उस समय भी उसको विशेष संतोपके अभावसे 'अन्य विवाहकरण' नामका अतीचार लगता है। उससमय "अन्य विवाहकरण" शब्दका "अन्य कलत्रके साथ अपना विवाह करना" यह अर्थ लगाकर अतीचार समझना चाहिये।

तात्पर्य—यह है कि अपने पुत्र व पुत्रीके अतिरिक्त दूसरोंके पुत्र पुत्रियोंका कन्यादानके फलकी इच्छासे व स्नेह सम्बन्धसे विवाह करना मैथुनमें निमित्त होनेके कारण अतीचार है अथवा अपनी स्त्रीके रहते हुए भी विशेष सन्तोपके अभावमें दूसरा विवाह करना भी परविवाह करण नामका अतीचार है।

३—विटत्व—का अर्थ भंड़िया, अर्थात् अत्यंत भण्ड वचन बोलनेवाला पुरुषके द्वारा अशिष्ट वचन प्रयोग करना है। अर्थात् रागवर्द्धक आसक्ति द्योतक अश्लील वचन बोलना विटत्व नामका अतीचार है।

४—स्मरतीव्राभिनिवेश—अत्यन्त आसक्तिपूर्वक कामसेवन करना अर्थात् कामसेवनमें एक प्रकारसे लीन होकर कामकी आसक्तिके कारण सब पुरुपार्थ छोड़कर एक कामसेवनका ही व्यवसाय मान लेना, चिड़वा चिड़वीके समान अपनी स्त्रीके साथ पुनः २ कामसेवन करना तथा उसीके साथ और भी अनेक प्रकारकी कुचेष्टाओंमें लीन रहना और अति कामसेवनके कारण क्षीण शक्तिके होनेपर वाजीकरण औपधि खाकर स्त्री सेवन करना तथा ऐसी बुद्धि करना कि इन वाजीकरण औषधियोंसे मैं हाथी व घोड़ेके समान बल प्राप्त करके भोग भोगनेमें समर्थ हो जाऊँगा, इत्यादि कामकी आसक्तिपूर्वक

अधिकतामें रागद्वेष करनेको स्मरतीव्राभिनिवेश नामका अतीचार कहते हैं। यह अतीचार अपनी ही स्त्रीमें अत्यासक्तिके कारण होता है।

५–अनङ्गक्रीड़ा—यहां अंग शब्दसे स्त्रीकी योनि और पुरुष चिह्नका बोध होता है। पुरुषको स्त्रीके अंगके सिवाय दूसरे अंगोंमें कायकृत कुचेष्टा करना अनंगक्रीड़ा है। नाना प्रकारकी रागोत्पादक कुचेष्टाएं जो अतिकामी लोग करते हैं वह सब अनङ्गक्रीड़ामें शामिल हैं।

श्रावक अत्यन्त पापभीरुपनेसे पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना चाहता है, परन्तु वेद कषायके उदयके वेगको जब नहीं सह सकता है तब उस वेगको निष्प्रभ करनेके हेतुसे स्वदार-संतोषादि व्रत धारण करता है (उसकी यह स्वदार संतोषादि व्रत लेते समय दृष्टि रहती है) इसलिये विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश और अनंगक्रीड़ा स्वदारसंतोषीके निषिद्ध ही है। विटत्व आदिके करनेसे उसका कुछ लाभ नहीं, किन्तु तात्कालिक रागोद्दीपन होता है। अतः उल्टी बलकी हानि होती है और निर्बलताके कारण राज्यक्ष्मा ऐसे भयंकर रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी संभावना रहती है। कहा भी है—

ऐदंपर्य्यमतोमुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत्।
देहदाहोपशान्त्यर्थमभिधानविहानये ॥

अर्थात्–आसक्तिको छोड़कर विकारको दूर करनेके हेतुसे भोगोंको, देह और मनकी शांतिके लिये आहारके समान सेवन करना चाहिये।

इस कथनानुसार स्वदारसंतोषीके लिये विटत्वादि निषिद्ध आचरण है, उसके सेवन करनेसे भंग और वह अपनी समझसे स्वदारसंतोषरूपी नियमका पालन कररहा है इससे अभंग भी है। इस प्रकार एकदेश भंग और अभंगके पाये जानेसे 'विटत्त्व' स्मरतीव्राभिनिवेश तथा अनंग क्रीड़ा नामके अतीचार होते हैं।

अथवा स्वदार सन्तोष व्रतवाला अपने मनमें जब ऐसे भाव करता है कि मैंने तो वेश्या आदिके साथ मैथुनका त्याग किया है, हास उपहास आदिका त्याग नहीं किया है तो उसकी इस दृष्टिसे व्रतका अभंग है। परन्तु विटत्वादिके कारण वास्तवमें व्रत भंग होता है, इसलिए एक देश भंग और अभंगके कारण ये तीनों अतिचार समझना चाहिए "परदार निवृत्ति" नामके व्रतमें भी स्वदार सन्तोष व्रतीकी कल्पनाके समान भावनाके कारण व्रतका भंग अभंगकी अपेक्षा विटत्वादि ३ अतीचार समझने चाहिये।

स्त्रियोंकी अपेक्षासे भी ४ अतीचार तो पुरुषोंके समान होते हैं। एक "इत्वरिका गमन" की जगह "परपुरुष गमन" नामका अतीचार इस प्रकारसे समझना चाहिए कि किसी पुरुषके दो स्त्रियां हैं उनके सहूलियतके लिये उसने दिन नियत कर दिये हैं। जिस पत्नीका जो दिवस हैं उस पत्नीको उसी दिन अपने पतिके साथ स्त्रियोचित व्यवहार करना चाहिये। दूसरी पत्नीके दिन उसका पति इसके लिये परपुरुष ही (दूसरी पत्नीका पुरुष है इसका नहीं) है। यदि उस दिन इसकी वारी नहीं

हैं, अपने पतिके साथ वह स्त्रीवत् व्यवहार करेगी तो इसको "परपुरुष गमन" नामका अतीचार लगेगा अथवा अपना पति जिस दिन ब्रह्मचर्यव्रतसे हो उस दिन अतिक्रम करनेवाली स्त्रीके यह प्रथम अतीचार लगेगा।

अब—परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—

ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु।
ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ—(**चिदचिन्मिश्रवस्तुषु**) चेतन, अचेतन तथा चेतनाचेतनात्मक मिश्र वस्तुओंमें (**ममेदं**) यह मेरी है अथवा मैं इसका स्वामी हूं (**इति**) इस प्रकारके (**सङ्कल्पः**) सङ्कल्पका अर्थात् ममत्व परिणामोंका नाम (**ग्रन्थः**) परिग्रह (**'अस्ति'**) है तथा (**तत्कर्शनात्**) उस परिग्रहके कम करनेसे जो (**तेषां**) उन चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओंका (**कर्शनं**) कम करना इसका नाम (**तत्प्रमाव्रतं**) परिग्रह परिमाण अणुव्रत (**'अस्ति'**) है।

भावार्थ—स्त्री पुत्रादि चेतन, सुवर्णादि अचेतन और बाग बगीचा, मिश्र, परिग्रह हैं (ये तीनों बहिरङ्ग परिग्रह हैं) तथा मिथ्यात्वादि अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। इनमें "मेरा यह है" इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह कहते हैं। और इनकी मर्यादा करके उनमें मर्यादाके बाहरके जो परिग्रह हैं उनमें ये 'मेरे हैं' इस प्रकारके संकल्पके कम हो जानेसे परिग्रह परिमाण व्रत होता है।

अब—अन्तरंग परिग्रहके त्यागनेकी विधिको बताते हैं—

उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकम्।
अन्तरङ्गं जयेत्सङ्गं प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(**'पञ्चमाणुव्रतार्थी'**) परिग्रह परिमाण व्रतको चाहनेवाला श्रावक (**उद्यत्क्रोधादिहास्यादि षट्कवेदत्रयात्मकं**) उदीयमान प्रत्याख्यानावरणादि आठ क्रोधादि कषाय स्वरूप, हास्यादिक छह नोकषाय स्वरूप और स्त्री वेदादि तीन वेद स्वरूप (**अन्तरङ्गं सङ्गं**) अन्तरंग परिग्रहको (**प्रत्यनीकप्रयोगतः**) यथायोग्य उत्तम क्षमादिककी भावनाके द्वारा (**जयेत्**) जीते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावकके मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण सम्बंधी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं होते हैं। केवल प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्यादिक नोकषाय होते हैं। इन कषायोंके उदयको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं। इनको क्रोधादिके प्रतिकूल जो उत्तमक्षमादिकी भावनाएं हैं, उनसे जीतना चाहिये।

अब—बहिरङ्ग परिग्रहके त्यागनेकी विधि कहते हैं—

अयोग्यासंयमस्याङ्गं सङ्गं बाह्यमपि सजेत्।
मूर्च्छाङ्गत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—('पञ्चमाणुव्रती') परिग्रह परिमाण व्रतको पालनकरनेवाला श्रावक (मूर्च्छाङ्गत्वात्) मूर्च्छाका कारण होनेसे (अयोग्यासंयमस्य) अनुचित–नहीं करने योग्य असंयमके (अङ्गं) कारणभूत (बाह्यं सङ्गं अपि) बाह्य परिग्रहको भी (त्यजेत्) छोड़े (अपि) और ('यः') जो बाह्य परिग्रह (त्यक्तुं) छोडनेके लिये (अशक्यं) अशक्य है अर्थात् जिस बाह्य परिग्रहको श्रावक छोड़ ही नहीं सकता है। ('तं बाह्यसङ्गं') उस बाह्य परिग्रहको (शनैः) धीरे २ (कृशयेत) कम करे।

भावार्थ—जो श्रावकके पदको योग्य नहीं है और असंयमके लिये कारण है ऐसे जो त्रसवध, व्यर्थ स्थावरवध, परदारगमन आदिक हैं वे 'अयोग्यासंयमं' शब्दसे कहे जाते हैं, उसके लिये ये बाह्य परिग्रह कारण पडते हैं। इसलिये इस बाह्य परिग्रहका भी त्याग करना चाहिए और जो इनमेंसे त्यागा नहीं जासकता है अर्थात् गृहस्थाश्रममें अत्यावश्यक है उसका आगम परिपाटी तथा कालमर्यादाके क्रमसे धीरे २ त्याग करे।

क्योंकि परिग्रह संज्ञा अनादिकालसे लगी है, इसलिये उसका सहसा त्याग नहीं होसकता और किसीने कर भी दिया तो उस संज्ञाकी वासनासे उसके त्यागके भंगकी संभावना रहती है। इसलिये बाह्यपरिग्रहका श्रावकको आगमपरिपाटीके अनुसार कालक्रमसे धीरे२ त्याग करना चाहिए।

अब–इसी विषयका खुलासा करते हैं—

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात् ।
वास्त्वादिकमामरणात्परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—('परिग्रहपरिमाणाणुव्रती') परिग्रह परिमाणाणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षया) देश, काल, आत्मा और जाति आदिकी अपेक्षासे (इच्छां) परिग्रहविषयक तृष्णाको (नियम्य) संतोषकी भावनाके द्वारा रोक करके (वास्त्वादिकं) वास्त्वादिक दश प्रकारके परिग्रहको (आमरणात्) जीवन पर्यंतके लिये (परिमायात्) परिमित करे अर्थात् उसका प्रमाण करे (पुनः) और (परिमितं अपि) परिमित परिग्रहको भी अर्थात् जिसका प्रमाण किया जा चुका है ऐसे परिग्रहको भी (शक्तितः) अपनी शक्तिके अनुसार (कृशयेत्) कम करे।

भावार्थ—देश, काल, अपनी आत्मा, जाति, कुल, अवस्था और पदवीके अनुसार वास्तु (घर), क्षेत्र, धन, धान्य, चतुष्पद, द्विपद, शयन, आसन, वाहन और कुप्य भांडे अर्थात् सुवर्णव्यतिरिक्त सब चीजें, इन बाह्य परिग्रहोंके विषयमें अपनी इच्छाका निग्रह करके जन्मभरके लिये परिमाण करे तथा परिमाण करनेके बाद भी ज्यों ज्यों त्यागकी शक्ति बढ़ती जावे त्यों त्यों धीरे २ इनको कृश करता रहे। अर्थात् यथाशक्ति कम करता रहे।

अब–परिग्रहके दोषोंको वक्रोक्तिसे बताते हैं—

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रयः परिग्रहः॥ ६३॥

अन्वयार्थ—(अविश्वासतमोनक्तं) अविश्वासरूपी अन्धकारके लिये रात्रिके समान (लोभानलघृताहुतिः) लोभरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये घीकी आहुतिके समान और (आरम्भमकराम्भोधिः) आरम्भरूपी मगरमच्छ वगैरहके लिए समुद्रके समान ('असौ' परिग्रहः) यह परिग्रह (श्रेयः) मनुष्योंके कल्याणको करनेवाला अथवा उनके सेवन करनेके योग्य है यह (अहो) बड़ा भारी आश्चर्य है।

भावार्थ—अविश्वास रूपी अंधकारके फैलावके लिये परिग्रह रातके समान है। जैसा रातमें अंधकार प्रसरित होता है वैसे ही परिग्रहके कारण मन अविश्वासी बनता है। जैसे आगमें घी डालनेसे आग बढ़ती है, उसी प्रकार परिग्रहके लोभसे परिग्रहकी वृद्धि होती है। जैसे समुद्रमें मगर स्वच्छंद होकर विचरते हैं वैसे परिग्रहके रहते हुए आरम्भको फैलनेकी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। इसप्रकारका परिग्रह भो श्रावक! आपको हितकारक मालूम पड़ता है! सेवन करनेके लिए योग्य दिखता है क्या?

अब—परिग्रह परिमाणाणुव्रतके अतीचारका परिहार करनेको कहते हैं—

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बन्धनात्कनकरूप्ये।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात्॥ ६४॥

अन्वयार्थ—('परिग्रहपरिमाणाणुव्रती') परिग्रह परिमाणाणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (योगात्)वास्त्वन्तर तथा क्षेत्रान्तरके सम्बंधसे वास्त्वन्तर तथा क्षेत्रान्तरको आश्रय करके (वास्तुक्षेत्रे) वास्तु और क्षेत्रमें (बंधनात्) बन्धनसे बन्धनको आश्रय करके (धनधान्ये) धन तथा धान्यमें (दानात्) दानसे दानको आश्रय करके (कनकरूप्ये) कनक और रूप्यमें (भावात्) परिमाणान्तर अथवा अभिप्रायसे—परिमाणांतर अथवा अभिप्रायको आश्रय करके (कुप्ये) कुप्यमें तथा (गर्भतः) गर्भसे-गर्भको आश्रय करके (गवादौ) गौ बैल आदिमें (मितिं) परिग्रहपरिमाणाणुव्रतकी मर्यादाको (न अतियात्) उलंघन नहीं करे।

भावार्थ—घरके साथ घर जोड़कर, और खेतके साथ खेत जोड़कर, धन और धान्यकी बंधी बांधकर अथवा रस्सी आदिसे बांधकर, सुवर्ण और चांदीकी मर्यादाको अपने इष्ट मित्रोंको देकर, सुवर्ण और चांदीसे भिन्न संपूर्ण वस्तुओंको कुप्य कहते हैं, उनकी मर्यादाका अवस्थान्तर करके अथवा प्रतिज्ञाका अभिप्राय बदल करके, घोड़ा गाय आदिकी मर्य्यादामें अधिक लोभसे गर्भवती घोड़ी आदि रखकर, मर्य्यादाके अतिक्रमसे परिग्रह परिमाण व्रतमें अतीचार नहीं लगाना चाहिये।

वास्तुक्षेत्रातिचारका खुलासा—वास्तुका अर्थ घर, ग्राम, नगर आदि है। उनमेंसे घर तीन प्रकारके होते हैं—तलघर, प्रासाद और जो नीचे भी बनाये जाते हैं और ऊपर भी, जिनमें अटारी

वगैरह वनाई जाती है ऐसे घर। खेत भी तीन प्रकारके होते हैं—जिन खेतोंकी सिंचाई राहट वगैरहसे की जाती है ऐसे वाग वगीचेके खेत, "सेतुखेत" कहे जाते हैं। जिनकी सिंचाई आकाशके पानीसे ही होती है उनको "केतुखेत" कहते हैं और जिनकी सिचाई आकाशके भी पानीसे होती है और कुएके पानीसे भी की जाती है उनको "सेतुकेतु" खेत कहते हैं। इस प्रकारके वास्तु और क्षेत्रको यहां वास्तु क्षेत्र कहते हैं। इन दोनों शब्दोंका समास करके वास्तुक्षेत्र एक शब्द इसलिये वनाया है कि आगममें प्रत्येक व्रतके अतीचार पांच २ वताये हैं इसलिये इन दश परिग्रहके वाचक वास्तु क्षेत्र आदिक पांच शब्द वनाए हैं।

जिस श्रावकने आमरण (जन्मपर्यंत) तथा नियत काल तकको घर व खेतकी मर्य्यादा देव गुरु और शास्त्रके सामने लेरखी है उस मर्य्यादाका, घरसे घर जोड़कर और खेतकी वारी काट करके, खेतसे खेत जोड़कर उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अर्थात् इस प्रकारके भावसे वह मर्यादा वढ़ाता है कि हमने तो केवल अपने घरको अथवा खेतको वढ़ाया है, मर्यादाके समय जितने घर वा खेत रखे थे उनकी संख्याका उल्लंघन कव किया है। इस प्रकारसे व्रतकी अपेक्षा रखनेसे अभंग और भावोंसे परिग्रहकी उसने वृद्धि की है इसलिए व्रत भंग होनेसे वास्तुक्षेत्र योग नामका प्रथम अतीचार होता है।

धन धान्य वंधन नामक अतीचारका खुलासा—गणिम धरिम, मेय और परीक्ष्यके भेदसे धन चार प्रकारका है। जो चीजें गिनकर ली दी जाती हैं जैसे सुपारी, जायफल आदि उनको "गणिम" कहते हैं। कुंकुम कपूर आदिको "धरिम" तथा तेल नमक आदिको "मेय" और रत्नादिकको "परीक्ष्य" कहते हैं। धान, जवा मसूर, गेहूं, मूंग, उड़द, तिल, चना, अणु, कोद्रव आदिको धान्य कहते हैं। हमारी सुपारी जायफल आदिकी विक्री जव होजावेगी अथवा खर्च होजावेगा तव तुमारा माल मैं लेलूंगा, मेरे इतनेका परिमाण है अतः इसके विकनेके वाद व खर्च होनेके वाद सुपारी वगैरह तुमारी ही खरीदूंगा तुम वेचना नहीं, इसप्रकारसे दूसरेके मालकी वंदनी वांधकर श्रावकको धनधान्यकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि उल्लंघन करेगा तो दूसरा अतीचार होगा।

कनकरूप्य दान अतीचार—एक गृहस्थने सोने, चांदी व सोने चांदीकी वनी हुई चीजोंकी कुछ काल तक मर्यादा करली, इतनेमें राजा वगैरहने उसपर संतुष्ट होकर उसकी मर्यादासे अधिक सुवर्ण और रूप्यका इनाम दिया। ऐसी स्थितिमें व्रतीने किसी दूसरेसे कहा कि भाई, हमारी इन चीजोंको जवतक मेरी मर्यादा है धरोहर रूपमें रख लो, मैं अपनी मर्यादाका काल पूरा होनेपर उठा लूंगा, अथवा अधिक सोना चांदी मिला है तो उसे अपने इष्ट वांधवोंको दे देना, इस प्रकारसे सुवर्ण और रूपाका दान करके की हुई मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए, अन्यथा तीसरा अतीचार लगेगा।

कुप्पे भावात्—सोने चांदीसे भिन्न, जैसे तांवा आदि धातुओंकी चीजोंको, वांसकी वनी चीजोंको, लकड़ी व मट्टीसे वनी चीजोंको 'कुप्प' कहते हैं, उनमेंसे दो दोको मिलाकर एक एक

करनेको "भाव" कहते हैं । ऐसा करके कुप्य सम्बन्धी मर्यादाका उलंघन नहीं करना चाहिए, अथवा सुवर्णादिके समान ही इन चीजोंकी भी अधिक प्राप्ति होजावे तो किसीसे जाकर यह कहना कि इतने कालतक मेरे इन चीजोंका परिमाण किया हुआ है सो मैं ले नहीं सकता, आप धरोहर रख लीजिए, मेरी मर्यादाका काल पूरा होनेपर मैं उठा ले जाऊंगा, इस प्रकारके भाव याने अभिप्रायसे की हुई मर्यादाका श्रावकको उलंघन नहीं करना चाहिए । यदि उसके द्वारा उलंघन किया जायगा तो यह उसे चौथा अतीचार लगेगा । अथवा कुप्य (सोने चांदीको छोड़कर शेष वस्तु) की जितनी संख्याकी प्रतिज्ञा ले रखी है उसकी जब संख्या बढ़ने लगी तो उनमें कई चीजोंको मिलाकर (ढलवाकर) संख्याकी रक्षाके लिए बड़ी चीजें बनवा लेना भी अतीचार है, क्योंकि संख्या यद्यपि मर्यादित रही परन्तु उसकी स्वाभाविक संख्यामें ढलवा लेनेसे बाधा जरूर आती है इसलिए कथंचित् अभंग और भंगके होनेसे यह चौथा अतीचार है ।

अथवा किसी चीजके लानेवालेसे यह कहना कि मुझे यह जरूर लेना है, परन्तु इसे मेरी मर्यादाके बाहर होनेसे आज नहीं लेसकता, तुम किसीको बेचना नहीं, मेरी मर्यादाका काल पूरा होते ही मैं इसे जरूर लूंगा । इसप्रकारसे मनमें संख्याकी वृद्धिका भाव आजानेसे भी (कुप्यमें भावसे) अतीचार होता है, यह भी चौथा अतीचार है ।

गवादौ गर्भतः—यहां भैंस, हाथी, घोड़ा, तोता, मैना, दासी, दास आदिका ग्रहण "गवादौ" में आदि ग्रहणसे समझना चाहिये । इन गाय भैंस आदिमें गर्भ धारणकर परिग्रहपरिमाणव्रतकी संख्याका उलंघन नहीं करना चाहिये ।

जो गाय भैंस आदि अपनी मर्यादाके भीतर हैं उनके भी गर्भधारणको ४-६ महीनेके लिये टालना कि यदि मैं अभी इनका गर्भ धारण करसकता हूं तो इनकी संख्या बढ़जायगी और इससे मेरा व्रत भङ्ग होजावेगा । इसलिये अभी इनके गर्भधारणको टाल कर कुछ कालके अनन्तर गर्भ धारण कराना चाहिये । जिससे जब ये जानवर बच्चे जनेंगे, उस समय अपना नियम पूरा होजावेगा । अतः उनके रख लेनेमें हमें फिर दोष नहीं लगेगा । इस प्रकारके परिणामोंसे भी संख्यामें अतीचार नहीं लगाना चाहिये । यह पांचवां अतीचार है ।

यह "क्षेत्रवास्तुसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः"

इस सूत्रमें बताये अतीचारोंका वर्णन हुआ ।

स्वामी "समन्तभद्र"ने तो—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते ॥

जानवर या मजूरकी शक्तिका ध्यान न करके लोभके कारण अधिक दूर तक लेजाना या अधिक

काल तक जोतना प्रथम अतीचार कहा है। आगे अधिक लाभ होगा। इसलिये धान्यादिकका अधिक कालतक संग्रह करना "अतिसंग्रह" नामका अतीचार है।

किसीको धान्यादिके रखने या वेचनेसे अधिक नफा हुआ है। इस बातका मनमें विचार करना कि मैंने नहीं खरीद पाया। यदि मैंने भी रखा होता तो आज मैं भी क्या नफा नहीं पाता? अथवा इसने अभी खरीदा और थोड़े ही कालमें अधिक लाभ प्राप्त किया है, इसका विषाद करना, इस प्रकार लोभके कारण यही तीसरा अतीचार होता है। विशिष्ट अर्थके मिलने पर भी अधिक लाभके मिलनेकी इच्छाको "लोभ" नामका चौथा अतीचार कहते हैं। अर्थात् और देरसे वेचते तो बहुत अच्छा होता। इस प्रकारका "नफाके मिलने पर भी लोभका भाव रखना "लोभ" नामका अतिचार है। लोभके आवेशसे भाड़ेके जानवर या घरके लदनेवाले या भार ढोनेवाले जानवरों या पल्लेदारोंपर मर्यादासे अधिक बोझ लादना "अतिभारारोपण" नामका पांचवा अतीचार है।

श्री सोमदेवाचार्यके मतसे तो—

कृतप्रमाणाल्लोभेन धनाद्यधिकसंग्रहः।
पञ्चमाणुव्रतहानिं करोति गृहमेधिनाम ॥

अर्थात्—अति लोभके कारण, किए हुए प्रमाणसे अधिक धनके संग्रह करनेको, गृहस्थोंके परिग्रह-परिमाण व्रतका अतीचार बताया है। सो इन सब अतीचारोंको भी "परेप्यूह्यास्तथात्ययाः" इसी अध्यायमें कहे हुए वाक्यके अनुसार अतीचार समझना चाहिए। अर्थात् ५ अतीचार प्रत्येक व्रतके बताए हैं सो यह सब केवल उदाहरणार्थ हैं। ऐसे दूसरे भी अतीचार जो संभव हों उनका भी परित्याग करना चाहिए।

अब—निरतिचार परिग्रह परिमाणाणुव्रत पालनेवालेके माहात्म्यका वर्णन दृष्टान्त द्वारा करते हैं—

यः परिग्रहसंख्यानव्रतं पालयतेऽमलम्।
जयवज्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(जितलोभः) जीत लिया है लोभको जिसने ऐसा अर्थात् लोभको जीतनेवाला (यः) जो श्रावक (अमलं) अतीचार रहित (परिग्रहसंख्यानव्रतं) परिग्रह परिमाणाणुव्रतको (पालयते) पालन करता है (असौ) वह श्रावक (जयवत्) जयकुमारकी तरह—मेघेश्वर नामक कुरुदेशके राजाकी तरह (पूजातिशयं) पूजाके अतिशयको (अश्नुते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो इस परिग्रह परिमाण व्रतको अतीचारोंसे बचाकर निर्मल रीतिसे पालता है वह लोभका विजय करनेवाला होनेसे "जयकुमार" भरत चक्रवर्तीके सेनापतिके समान इन्द्रादिक द्वारा प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है।

अब—इसप्रकार निर्मल रीतिसे पंच अणुव्रतके पालनेके लिये श्रावकको आगेके सात शीलोंको भी

निर्मलतासे पालन करना चाहिये, इस बातका उपदेश देकर जो इस रीतिसे (निर्मलतासे) पालते हैं उनके माहात्म्यका वर्णन करते हैं—

पञ्चाप्येवमणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे।
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि॥
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात्।
तं सन्यासविधिप्रमुक्ततनवः सौर्वीः श्रियो भुंजते॥ ६६॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (ये) जो भव्य जीव (सामान्येतरभावनाभिः) सामान्य और विशेष भावनाओंके द्वारा (अमलीकृत्य) निर्मल करके—अतीचारोंको दूर करके (समतापीयूषपानोन्मुखे) समतारूपी अमृतका पान करनेके लिये उन्मुखतत्पर (आत्मनि) आत्मामें (अर्पितानि) अर्पित किये गये (पञ्चापि) पांचों ही प्रकारके (अणुव्रतानि) अणुव्रतोंको (त्रातुं) पालन करनेके लिये (इदं) वक्ष्यमाण—आगेके अध्यायमें कहे जानेवाले (निर्मलशीलसप्तकं) निरतिचार सातों ही शीलोंको (आदरात्) अत्यन्त आदरपूर्वक (पालयन्ति) पालन करते हैं (ते) भव्यजीव (सन्यासविधिप्रमुक्ततनवः) समाधिमरणके द्वारा शरीरको छोड़ते हुए (सौर्वीः) स्वर्ग सम्बन्धी (श्रियः) लक्ष्मीका (भुञ्जते) अनुभवन करते हैं अर्थात् स्वर्ग सम्बन्धी लक्ष्मीको भोगते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे समताभावरूपी अमृतके पानकी भावना आत्मामें प्रगट होती है, ऐसे सम्यग्दर्शन सहित आत्मामें इन व्रतोंको धारण करनेके पहिले तत्वार्थसूत्रमें जो अहिंसादि महाव्रतोंकी सामान्य भावना और प्रत्येक भावना बताई है, उन सामान्य—विशेष भावनाओंके साथ (नैष्ठिककी अपेक्षा) जो पांचों ही अणुव्रतोंको तथा अपि शब्दसे (अभ्यासकी दशाकी अपेक्षासे) जो एक दो तीन व चार अणुव्रतोंको अंतरात्मामें धारण करते हैं तथा इनका भले प्रकारसे निर्वाह हो इस दृष्टिसे तीन गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतोंको निरतिचार जो श्रावक पालते हैं वे इसी ग्रंथके आठवें अध्यायमें वर्णित सन्यासविधिसे मरणको प्राप्त करके स्वर्ग सम्बन्धी उत्तम संपदाको पाते हैं।

इस प्रकार पंडित प्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृत सागार धर्मको प्रकाश करनेवाली 'भव्यकुमुद चन्द्रिका' नामकी टीकामें आदिसे तेरहवां और सागार धर्मके निरूपणकी अपेक्षासे चौथा अध्याय पूर्ण हुआ।



पांचवां अध्याय।

आगे—सातों शीलोंकी व्याख्या करेंगे उनमेंसे पहले गुणव्रतोंका लक्षण करते हैं—

यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत्।
गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे ('अमूनि' व्रतानि) ये दिग्व्रत आदि तीनों व्रत (अणुव्रतानां) अणुव्रतोंके (गुणाय) गुणके लिये अर्थात् (उपकाराय) उपकारके लिये ('भवन्ति') होते हैं (तत्) तिस कारणसे (दिग्विरत्यादि कानि त्रीणि अपि) दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत और भोगोपभोग व्रत इन तीनों ही व्रतोंको (गुणव्रतानि) गुणव्रत (आहुः) कहते हैं।

भावार्थ—३ गुणव्रत, ५ अणुव्रतोंके उपकारक हैं। इसलिये दूसरी प्रतिमामें निरतिचार ५ अणुव्रत पालते हुये उनके उपकारक इन तीन गुणव्रतोंका पालना आवश्यक है। इनके कारण व्रतोंकी रक्षा होती है, उनमें विशुद्धता आती है और चारित्र गुणका आत्मामें विशेष विकाश होता है। दिग्विरति, अनर्थदंडविरति और भोगोपभोग परिमाण व्रत ये तीन उनके नाम हैं। जैसे खेतकी वाड़से रक्षा होती है वैसे ही अणुव्रतोंके रक्षक सात शील हैं। विना इन शीलोंके अणुव्रत अणुव्रतके रूपमें नहीं रह सकते हैं। जैसे कि दिग्व्रतके पालनेसे क्षेत्रविशेपकी अपेक्षा सर्व पापोंका त्याग होजाता है, अनर्थदंड त्यागव्रतके पालनेसे निरर्थक पापोंके त्यागका लाभ होता है। भोगोपभोगकी मर्यादामें भी योग्य भोगोपभोगके अतिरिक्त सर्व पापोंका त्याग होता है, इसलिये महाव्रतके पालनेकी लालसा रखते हुए अणुव्रतीके अणुव्रतोंका पालन होता है। अतः अणुव्रतोंमें विशेष गुणसंपन्न होते हैं। अतएव इन विशेष गुणोंके आधायक व्रतोंको गुणव्रत कहा है।

अब—आगे तीन गुणव्रतोंका स्वरूप कहा जाता है—दिग्विरति गुणव्रतका लक्षण—

यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि।
नात्येत्यणुव्रती सीमां तत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अणुव्रती) अणुव्रती (यत्) जो (प्रसिद्धैः अभिज्ञानैः) प्रसिद्ध २ नदी पर्वत समुद्र आदि मर्यादाके चिह्नोंसे (दशसु अपि दिक्षु) दशों ही दिशाओंमें (सीमां कृत्वा) सीमा करके (न अत्येति) उसको उलंघन नहीं करता है (तत्) वह (दिग्विरतिः व्रतं स्यात्) दिग्विरति नामका गुणव्रत है।

भावार्थ—"किसी नामके (पूर्ण शब्दके) एक देशके उच्चारण करनेसे संपूर्ण नामका ज्ञान किया जाता है।" इस व्याकरणके नियमके अनुसार यहां जैसे भीमके कहनेसे 'भीमसेन' का वोध

होता है, उसीप्रकार व्रत शब्दसे गुणव्रतको ग्रहण करना चाहिए। तथा 'अणुव्रती' इस शब्दसे दिग्विरति व्रत अणुव्रतीके होता है, महाव्रतीके नहीं, क्योंकि महाव्रतीके संपूर्ण आरम्भ और परिग्रहका त्याग होता है और वह ईर्या समिति पालते हुये विहार करता है इससे उसको दिग्विरति व्रतकी जरूरत नहीं होती है, परन्तु अणुव्रतीकी स्थिति ऐसी नहीं है, उसको तो दिशाओंकी मर्यादाके भीतर ही आरम्भ करना पड़ता है। और उसके दिग्विरति व्रतकी मर्यादाके वाहर संपूर्ण आरम्भका त्याग होता है इसलिये इस भावको व्यक्त करनेके लिए दिग्विरति व्रतका लक्षण करते समय "अणुव्रती" यह शब्द दिया है। तथा 'दशस्वपि' यहां 'अपि' शब्दसे यह भाव प्रगट किया है कि १, २ और ३ आदि दिशाओंका भी दिग्विरति व्रतधारक मर्यादा करता है अर्थात् दशों ही दिशाओंकी मर्यादा यावज्जीवन व कुछ कालके लिए करनेवाला जैसे दिग्विरति व्रतवाला कहलाता है वैसे १, २ या ३ आदि दिशाओंकी मर्यादा करनेवाला भी दिग्विरति व्रतवाला कहलाता है। यह मर्यादा व्रत देनेवाले और पालनेवालेके नदी, पर्वत और समुद्र आदि परिचित चिह्नों द्वारा कीजाती है। इसप्रकार दशोंही दिशाओंकी, प्रसिद्ध २ चिह्नोंसे मर्यादा करके उसकी सीमाको अणुव्रती किसी भी स्थितिमें उलंघन नहीं करता है, उसक दिग्वरति व्रत नामका गुणव्रत होता है।

अब–दिग्व्रतके कारण अणुव्रती भी मर्यादाके वाहर महाव्रतीके समान आचरण करता है—

दिग्विरत्यां वहिः सीम्नः सर्वपापानवर्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(दिग्विरत्या) दिग्विरतिकी (सिम्नः) मर्यादाके (वहिः) वाहर (सर्वपापनिवर्तनात) सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्ति होजानेसे (तप्तायोगोलकल्पोऽपि) तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह आरम्भ और परिग्रहके द्वारा युक्त होनेके कारण गमन, भोजन, शयन आदि सम्पूर्ण क्रियाओंमें जीवोंकी हिंसा करनेवाला भी (गृही) गृहस्थ (यतीवत) मुनिकी तरह (जायते) होता है।

भावार्थ—कर्मोका आश्रव कैसे होता है इसको समझानेके लिए "तप्तायोगोल" का शास्त्रप्रसिद्ध दृष्टांत दिया है कि जैसे तपा हुआ लाल लोहेका गोला यदि पानीमें डाला जावे तो वह चारों तरफसे पानीको खींचता है वैसे ही आरम्भ परिग्रहजनित कषायरूपी अग्निके कारण भाव विकारोंमें तपी हुई गृहस्थकी आत्मा चारों तरफसे कार्मण वर्गणाओंको खींचती है, परन्तु अणुव्रतीकी आत्मा दिग्विरतिव्रतकी मर्यादाके वाहर सर्व आरम्भ, परिग्रह और भोगोपभोगजनित पापोंका त्याग होनेसे यतिके समान आश्रवोंसे वचती है। तात्पर्य यह है कि दिग्विरतिके पालनेसे विविक्षित क्षेत्रके वाहरके क्षेत्रमें महाव्रतका अभ्यास होजाता है। इसी कारणसे अणुव्रती दिग्विरतिव्रतकी मर्यादाके वाहर महाव्रतीके समान आचरण करनेवाला कल्पित किया गया है, यह कहा जाता है।

इसीकी दृढ़ताके लिये कहते हैं—

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः।
महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— (दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः) दिग्व्रतके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होनेवाला, जो व्रतोंका घात करनेवाली कषायोंके उदयका मन्दपना, उस मन्दपनेसे (अलक्ष्यमोहे) लक्ष्यमें नहीं आता है मोह जिसका ऐसे (गेहिनि) गृहस्थमें (अणुव्रतं) अणुव्रत (महाव्रतायते) महाव्रतके समान आचरण करता है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चारों ही कषायोंका अभाव होता है और अप्रत्याख्यानावरण-(देश चारित्रकी घातक कषाय) प्रत्याख्यानावरण (सकलचारित्रकी घातक कषाय) और संज्वलन तथा नो-कषायका-(यथाख्यात चारित्र घातक कषायका) यथासंभव उदय होता है । तथा पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होता है । और प्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरणादिकका उदय होता है। सो यहांपर उक्त कथनानुसार दिग्विरति व्रतकी प्रतिज्ञासे उन प्रत्याख्यानावरणादि द्रव्य क्रोधादि कषायोंकी, जो सकल संयमके घातक मानी हैं, उत्कृष्ट रीतिसे मंदता होजाती है। इसलिये दिग्विरति व्रतके कारण जो प्रत्याख्यानावरण-जनित चारित्र मोहका उदय अणुव्रतीके है, इसके विषयमें किसीका भी लक्ष्य नहीं जा सकता है अर्थात् यद्यपि मंदतारूपसे प्रत्याख्यानावरणादिका उदय किसीके भी लक्ष्यमें नहीं आता है। इसलिये दिग्विरति गुणव्रत पालनेवाला अणुव्रती दिग्विरतिके मर्यादाके बाहर महाव्रतीके समान आचरण करता है, यह कहा जाता है ।

तात्पर्य-यह है कि उसके मर्यादाके बाहर सर्व प्रकारका आरम्भ परिग्रह नहीं है, भोग और उपभोग नहीं है, इन सबका अभाव है, इसलिये वह वहांपर महाव्रतीके समान है यह समझना चाहिये । जबतक सकल संयमके घातक प्रत्याख्यानावरणकी मंदता नहीं होती है तबतक दिग्विरति व्रतकी संभावना नहीं है ।

अब—इसप्रकार दिग्विरति व्रतको बताकर उसके अतिचारोंको बताते हैं—

सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः ।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥ ५ ॥

अन्वयाथ—(अज्ञानतः) अज्ञानसे (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमादसे (सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः) नियमित मर्यादाको भूल जाना, ऊपर नीचे तथा पूर्वादि दिशाओंमें जो नियमित प्रदेश हैं उन नियमित प्रदेशोंका उलंघन करना (च) और (क्षेत्रवृद्धिः) मर्यादित क्षेत्रसे अधिक क्षेत्रको बढा लेना ये पांच (तन्मलाः) दिग्व्रतके अतीचार (' सन्ति ') हैं ।

भावार्थ—अज्ञानसे अथवा प्रमादसे दिग्विरति व्रतमें की हुई सीमा भूल जाना, (२) ऊर्ध्वभा-

गातिक्रम करना, (३) अधोभागाऽतिक्रम करना, (४) तिर्यग्भागाऽतिक्रम करना और, (५) क्षेत्रकी वृद्धि कर लेना ये पांच दिग्विरति व्रतके अतीचार हैं।

(१) सीमविस्मृति–अतीचार बुद्धिकी अर्थात् क्षयोपशमकी मन्दतासे जिसे सीमाकी प्रतिज्ञाका स्मरण नहीं रहता है वह अज्ञानसे दिग्विरति व्रतके पांचों अतीचार लगाता है। और बुद्धिकी तो मन्दता नहीं है किंतु अन्य नानाप्रकारके विचारोंमें निमग्न रहनेसे जिसने अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण नहीं रखा है उसके प्रमाद अर्थात् असावधानताके कारण ये पांचों अतीचार होते हैं।

उदाहरणार्थ—किसीने १०० योजनकी मर्यादा की है। जब जानेका समय आया तब अज्ञान अथवा प्रमादसे उसको अपनी सीमाकी याद भूल गई और वह विचार करता है कि नहीं मालूम १०० योजनकी प्रतिज्ञा थी या ५० योजनकी। इस स्थितिमें यदि वह ५० योजनके भीतर ही गमन करता है तो उसका व्रत निर्दोष है। ५० योजनके बाहर जाता है तो अतीचारसहित है और १०० योजनके बाहर जाता है तो अनाचार है। क्योंकि ५० योजनके भीतर जानेवालेने व्रतका पालन पूरा किया है और उससे अधिक बाहर जानेवालेने संशयके कारण एकदेश व्रत भंग किया है। और १०० योजनके बाहर गमन करनेवालेने पूरा व्रत भंग किया है।

(२) ऊर्ध्वभागातिक्रम—

(३) अधोभागातिक्रम—

(४) तिर्यग्भागातिक्रम—

इन तीनों अतीचारोंका खुलासा यह है कि मर्यादा करतें समय अपनी सीमा संबंधी ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और तिर्यग्भागकी जो प्रतिज्ञा की थी उसके अज्ञान व प्रमादके उल्लंघन करनेके विचारसे ये तीनों अतीचार होते हैं। और स्वयं साक्षात् इन भागोंके उल्लंघन किये जानेपर तो अनाचार होता है अतीचार नहीं रहता है।

क्षेत्रवृद्धि—व्रतीने चारों दिशाओंमें १०० योजन तक जानेकी मर्यादा की है, परन्तु समय आनेपर जिस ओर उसे अधिक जाना है उस ओर १०० योजनसे भी अधिक चला जाता है, और उसके विरुद्ध दिशाओंमें उतने ही कम जानेका विचार करता है, तो यह उसका क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार है, क्योंकि उसने एकतरफकी मर्यादाको कम करके; दूसरी ओर उतनी ही मर्यादा बढ़ाली है।

अनर्थदंडव्रतका लक्षण—

पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम्॥ ६॥

अन्वयार्थ—(देहाद्यर्थात् विना) अपने अथवा अपने कुटुम्बीजनोंके शरीर वचन तथा मन सम्बन्धी प्रयोजनके विना (पापोपदेशाद्यैः) पापोपदेशादिकके द्वारा (अङ्गिनां) प्राणियोंको (पीडा)

पीड़ा देना (अनर्थदण्डः) अनर्थदण्ड कहलाता है और (तत्त्यागः) उस अनर्थ दण्डका त्याग करना (अनर्थदण्डव्रतं) अनर्थ दण्डव्रत (मतं) माना गया है—कहलाता है ।

भावार्थ—विना प्रयोजन अर्थात् जिससे अपने व अपनेसे संवंध रखनेवाले कुटुम्बीजन आदिका मन, वचन और काय सम्बन्धी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इस प्रकारके पापोपदेशादिक द्वारा प्राणियोंको पीड़ा पहुंचाना अनर्थदण्ड है । और इसके पापोदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्यासे ५ भेद होते हैं ।

"अनर्थदंड" में दंड शब्दका अर्थ मन, वचन और काययोग है । निष्प्रयोजन मन, वचन और कायके द्वारा जीवोंको पापोपदेशादिकके द्वारा सताना अनर्थदंड कहलाता है और उसके त्यागका नाम अनर्थदंड त्याग है ।

अब—पापोपदेश और उसके त्यागको वताते हैं—

पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् ।
तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापिं गोष्ठ्यां प्रसञ्जयेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसाकृष्यादिसंश्रयं) हिंसा, खेती तथा व्यापार वगैरहके साथ है सम्बन्ध जिसका ऐसा अर्थात् हिंसा खेती और व्यापार आदिको विषय करनेवाला (यद्वाक्यं) जो वचन है ('तत्') वह (पापोपदेशः) पापोपदेश ('भवति') कहलाता है ('तस्मात्') इसलिये ('अनर्थदण्डव्रतार्थी') अनर्थदण्डव्रतको चाहनेवाला श्रावक (तज्जीविभ्यः) हिंसा, झूठ, चोरी, खेती, व्यापार आदिसे आजीविका करनेवाले व्याध, ठग, चोर, किसान तथा भील वगैरहके लिये (तं) उस पापोपदेशको (न दद्यात्) नहीं देवे (अपि) और (न गोष्ठ्यां असञ्जयेत्) न कथा वार्तालाप वगैरहमें उसका प्रसङ्ग लावे ।

भावार्थ—जिन वाक्योंका हिंसा, झूठ और चोरीसे सम्बन्ध जुड़ता हो तथा कृषी, वाणिज्यादिकसे भी सम्बन्ध जुड़ सकता हो उन वाक्योंके द्वारा हिंसा, झूठ और चोरी तथा कृषि और वाणिज्य आजीविकाके करनेवालोंको उपदेश देना "पापोपदेश" कहलाता है ।

ऐसे पापोपदेशको नहीं देना चाहिये और गोष्ठीमें भी उसका प्रसंग नहीं लाना चाहिये। जैसे व्याधोंकी सभामें यह कहना कि क्यों वैठे हो, आज जलाशयके किनारे वहुतसे पक्षी आये हैं, इन वाक्योंके कारण कोई व्याध उनके वधका उपाय सोच सकता है। इसलिये यह वाक्य पापोपदेशकी कोटिमें चला जाता है ।

अब—हिंसोपकरणका दान नहीं करना चाहिये यह वताते हैं—

हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् ।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(‘अनर्थदण्डव्रतार्थी’) अनर्थदण्डव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं) विष, अस्त्र आदि हिंसाके कारणभूत पदार्थोंके देनेरूप (हिंसादानं) हिंसादान नामक अनर्थदण्डको (त्यजेत्) छोड़े—नहीं करे (च) और (दाक्षिण्याविषये) परस्पर व्यवहारके विषयभूत पुरुषोंसे भिन्न पुरुषोंके विषयमें (पाकाद्यर्थं) पाकादिकके लिये (अग्न्यादि) अग्नि वगैरह (न अर्पयेत्) नहीं देवे।

भावार्थ—विष, तलवार, हल, गाड़ी, कुशिया, कुदार आदि जो हिंसाकी साधनभूत चीजें हैं, उनके दानको ‘हिंसादान’ कहते हैं। तथा जिनके साथ अपना व्यवहार नहीं है ऐसे अपरिचित्त किसी व्यक्तिको भोजन पकानेके लिये अग्नि, कूटनेको मूसर आदिका देना भी एक प्रकार विना प्रयोजन हिंसादान है। और इन दोनों प्रकारके हिंसादानका अनर्थदण्डत्यागी श्रावकको त्याग करना चाहिये।

इस श्लोकके “ हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् ” की जगह “ हिंसाकृष्याद्यारम्भ ” ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ हिंसादिक और कृषि आदिके आरम्भकी जिसमें प्रधानता है, ऐसे वाक्योंका नाम पापोपदेश है। उसका त्याग करना चाहिये यह अर्थ होता है।

अब—दुःश्रुति और अपध्यानके स्वरूपको बताकर उसके निषेधका विधान करते हैं—

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्।
न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥ ९॥

अन्वयार्थ—(‘अनर्थदण्डव्रतार्थी’) अनर्थदण्ड व्रतको चाहनेवाला श्रावक (चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुति) चित्तकी कलुषताको करनेवाले काम तथा हिंसादिक आरम्भ हैं अभिधेयवाच्य जिनके ऐसे जो शास्त्र, उन शास्त्रोंके सुननेरूप (दुश्रुतिं) दुश्रुति नामक अनर्थदण्डको (न अन्वियात्) नहीं करे (च) और (आर्तरौद्रात्म) आर्त तथा रौद्रध्यान स्वरूप (अपध्यानं) अपध्यान नामक अनर्थदण्डको (न·अन्वियात्) नहीं करे।

भावार्थ—काम और हिंसारूप अर्थोंका जिन-शास्त्रोंमें कथन है उन शास्त्रोंको “कामहिंसाद्यर्थश्रुत” कहते हैं। ऐसे शास्त्र मोक्षमार्गके साधक नहीं हैं। किन्तु “चित्तकालुष्यकृत्” होते हैं। अर्थात् रागद्वेषके बढ़ानेवाले हैं। इसलिए चित्तमें कलुषता उत्पन्न करनेवाले जो कामहिंसाद्यर्थश्रुत हैं उनके सुननेको दुःश्रुति नामका अनर्थदंड कहते हैं।

वात्सायनसूत्र कामशास्त्र है। लटकादि अभितमत हिंसाशास्त्र है। वार्तानीति आरम्भ परिग्रह शास्त्र है। वीरकथा साहसशास्त्र है। ब्रह्माद्वैतादि मिथ्यात्वशास्त्र हैं। “वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः” इत्यादि वातोंके प्रतिपादक शास्त्र मदशास्त्र हैं। वशीकरणादि तंत्र रागशास्त्र हैं। इनका सुनना तथा उपलक्षणसे ऐसे शास्त्रोंसे उपजीविका करना, तात्पर्य यह है कि ये शास्त्र चित्तमें रागद्वेषसे मुक्त होनेके कारण कलुषता पैदा करते हैं इसलिए इनका सुनना “दुश्रुति” नामका अनर्थदंड है।

आर्त और रौद्र ध्यानको "अपध्यान" नामक अनर्थदंड कहते हैं। उनमेंसे 'ऋति' किंवा 'अर्ति' शब्दसे 'आर्त' शब्द बनता है। इसका अर्थ दुख किंवा किसी प्रकारकी यातना होनेपर जो वेदना व यातनाके कारण समयपर चित्तकी एकाग्रता होती है उसको आर्तध्यान कहते हैं और परके रोध करनेसे जो ध्यान होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। इन दोनों ध्यानोंमें अपध्यान नामका अनर्थदंड होता है। यह अपध्यान नहीं करना चाहिए। तथा इसी श्लोकमें जब "न दुश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्" इसकी जगहपर "न दुश्रुतिपमध्यानमार्तरौद्रात्म चान्वियात्" ऐसा पाठ भी विवक्षित है। तब इसका अर्थ यह है कि मैं नरेन्द्र होकर, विद्याधर होकर, रानी विद्याधरीजनोंका भोग करूंगा, वैरियोंका नाश करूंगा, ऐसे आर्त और रौद्र ध्यानका भी चिंतवन नहीं करना चाहिए।

अब—आगेके दो श्लोकोंमें प्रमादचर्याका लक्षण बताकर उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

प्रमादचर्यां विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम्।
खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—('**अनर्थदण्डविरतः**') अनर्थदण्डका त्याग करनेवाला श्रावक (**विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहां खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि**) निष्प्रयोजन पृथ्वीके खोदनेरूप, किवाड़ वगैरहके द्वारा वायुके प्रतिबन्ध करनेरूप—रोकनेरूप, जलादिकसे अग्निके बुझानेरूप, भूमि वगैरहमें जलके फेकने तथा सीचनेरूप और वनस्पतिके छेदने काटने आदि रूप (**प्रमादचर्यां**) प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डको (**न आचरेत्**) नहीं करे।

भावार्थ—विना प्रयोजनके भूमिके खोदनेको, किवाड़ आदि लगाकर वायुके रोकनेको, आगके बुझानेको, जलके सींचनेको और वनस्पतिके छेदनेको प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते हैं। उसे नहीं करना चाहिए।

तद्वच्च न सरेद्व्यर्थं न परं सारयेन्महीम्।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**तद्वच्च**) निष्प्रयोजन पृथ्वीको खोदने आदिकी तरह ही (**महीं**) पृथ्वीके ऊपर (**व्यर्थं**) विना प्रयोजन (**न सरेत्**) न तो स्वयं घूमे और (**न परं**) न दूसरोंको (**सारयेत्**) घुमावे तथा (**मार्जारशुनकादिकान्**) बिल्ली, कुत्ता आदि (**जीवघ्नजीवान्**) जीवोंकी हिंसा करनेवाले जीवोंको भी (**न स्वीकुर्यात्**) नहीं ग्रहण करे—नहीं पाले।

भावार्थ—उसी प्रकार विना प्रयोजन पृथ्वीपर घूमे नहीं, तथा नौकरों आदिको भी भ्रमण नहीं करावे। तथा आवश्यकताके होनेपर भी हिंसक बिल्ली, कुत्ता, नकुल, मुर्गा आदिको नहीं पाले।

इस श्लोककी टीकामें न मालूम क्यों 'महीम्' इस पदका अर्थ नहीं ग्रहण किया है। इसलिये

ग्रन्थकारने यह अर्थ किया है कि हाथ पैर विना प्रयोजन नहीं चलाना चाहिये और न नौकरादिकसे भी चलवाना चाहिये।

अब—आगे अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोंके त्यागका उपदेश करते हैं—

मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तदत्ययान्।
असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥ १२॥

अन्वयार्थ—('अनर्थदण्डविरतः') अनर्थदण्डका त्याग करनेवाला श्रावक (कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि) कन्दर्प कौत्कुच्य मौखर्य (असमीक्ष्याधिकरणं) असमीक्ष्याधिकरण (अपि) और (सेव्यार्थाधिकतां) सेव्यार्थाधिकता इन (तदत्ययान्) अनर्थदण्डव्रतके पांच अतीचारोंको (मुञ्चेत्) छोड़े।

भावार्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेवार्थाधिकता नामके अनर्थदण्डविरतिके अतीचार छोड़ने चाहिये।

कंदर्प—कामके उत्पादक व कामकी जिन वाक्योंमें प्रधानता है ऐसे रागके उद्रेकसे बोले हुये अशिष्ट वचनोंको कंदर्प कहते हैं। अर्थात् रागोद्रेकसे प्रहास मिश्रित अशिष्ट वचनके बोलनेको कंदर्प कहते हैं।

कौत्कुच्य—हास्य और भंडवचन सहित भौंह, नेत्र, नाक, ओंठ, मुख पैर और हाथ आदिके संकोचादि क्रिया द्वारा कुत्सित विकारोंको (कुचेष्टा करनेको) कौत्कुच्य कहते हैं। और ये कंदर्प और कौत्कुच्य दोनों ही अतीचार प्रमादचर्या नामक अनर्थदंडके अतीचार हैं।

मौखर्य—धृष्टतापूर्वक विचाररहित असत्य और सम्बन्ध रहित बहुत बोलनेको मौखर्य कहते हैं। यह पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड विरतिका अतीचार है, क्योंकि मौखर्यके कारण पापोपदेशकी संभावना रहती है।

असमीक्ष्याधिकरण—अपने प्रयोजनका विचार न करके प्रयोजनसे अधिक कार्यका करना-कराना असमीक्ष्याधिकरण है। जैसे किसीसे कहना कि तू बहुतसी चटाइयोंको लाना, हमें जितनी लगेंगी हम लेलेंगे और भी बहुतसे खरीददार हैं वे भी ले लेंगे, हम बिकवा देंगे। इसप्रकारसे चटाई बनानेवालोंसे अपने प्रयोजनके विना अधिक कार्य कराना, बिननेवालोंको बहुत आरम्भमें लगाना। इसप्रकार बढ़ई, ईंटें पकानेवालों आदिसे कहना सो असमीक्ष्याधिकरण नामका चौथा अतीचार है। अथवा हिंसाके उपकरणोंका उसके साथी दूसरे उपकरणोंके पास रखना, जैसे-उखलीके पास मूसर, हलके साथ फाल, गाड़ीके पास जुआ और धनुषके साथ बाणोंको तैयार रखना यह भी असमीक्ष्याधिकरण है। क्योंकि ऐसा करनेसे आरम्भादि कार्यको हरकोई सुलभतासे ले सकता है अन्यथा नहीं, तथा देनेके लिए निषेध भी नहीं किया जा सकता है और उससे आरम्भजनित हिंसाकी अधिकता होती है इसलिये

इस बातका विचार न करके इनकी जो अधिक तैयारी की जाती है यह भी असमीक्ष्याधिकरण नामका अतीचार हिंसादान नामके अनर्थ दंडव्रतका है ।

सेवार्थाधिकता—जितने भोग व उपभोगके साधनोंसे अपना प्रयोजन सधता है उससे अधिक साधन सामग्रीके जुटानेको सेव्यार्थाधिक्ता कहते हैं । उसीका खुलासा यह है कि यदि नहानेके लिये सरोवरको जाते समय बहुतसा तेल, खल, आंवला आदि लेकर जावोगे तो अनायास ही इनके लोभसे अथवा सुभीता-विशेषसे बहुतसे मित्रगण भी साथ हो लेवेंगे और ऐसी परिस्थितिमें जलकायके और वायुकायके जीवोंकी विराधनाकी अधिक सम्भावना है । अतः यह भी सेव्यार्थाधिक्ता नामक अनर्थ-दण्डव्रतका अतीचार है । इसलिये घरपर ही नहाना चाहिये । अथवा तेल वगैरह घर ही लगाकर तालाव पर जाना चाहिये । और किनारे पर बैठकर छने पानीसे लोटासे अथवा अंजुलियोंसे नहा लेना चाहिये ।

जिन २ क्रियाओंमें हरितकायके फूल पत्तोंका संसर्ग आता है उन सबसे भी बचना चाहिये । नहीं तो यह भी प्रमादचर्या नामके अनर्थदण्डव्रतका छट्ठा अतीचार है यह समझना चाहिये ।

अब—आगे भोगोपभोग नामके तीसरे गुणव्रतको धारण करनेकी विधि बताते हैं—

भोगोऽयमियान् सेव्यः समयमियन्तं मयोपभोगोऽपि ।
इति परिमायानिच्छस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(**अयं भोगः**) यह भोग (**अपि**) और (**इयान्**) इतना (**उपभोगः**) उपभोग (**इयन्तं समयं**) इतने समय तक (**'मया'**) मेरे द्वारा (**सेव्यः**) सेवन करनेके योग्य है (**वा**) अथवा (**अयं भोगः**) यह भोग (**अपि**) और (**उपभोगः**) उपभोग (**इयान्**) इतना तथा (**इयन्तं समयं**) इतने समय तक (**'मया'**) मेरे द्वारा (**न सेव्यः**) सेवन करनेके योग्य नहीं है (**इति**) इस प्रकार (**परिमाय**) प्रमाण करके (**अधिकौ तौ**) सेव्य और असेव्य रूपसे प्रतिज्ञाके विषयभूत हुये भोगोपभोगसे अतिरिक्त भोगोपभोगको (**अनिच्छन्**) नहीं चाहनेवाला (**'गुणव्रती'**) गुणव्रती श्रावक (**तत्प्रमाव्रतं**) भोगोपभोग परिमाण व्रतको (**श्रयतु**) स्वीकार करे ।

भावार्थ—यह भोग अथवा उपभोग मेरे द्वारा इतना और इतने समय तक सेवन किया जावेगा इस प्रकारसे भोग और उपभोगके विषयमें परिमाण करके अनन्तर उससे अधिककी इच्छा नहीं करना गुणव्रत पालनेवालेका भोगोपभोग परिमाण व्रत है । इन भोग और उपभोगोंकी मर्यादा विधिमुखसे तथा निषेधमुखसे भी की जाती है । जैसे ४ मालाएं दश दिन तक पहनूंगा, पानके १० बीड़े १० दिन तक खाऊंगा अथवा १ माला और ताम्बूल दश दिन नहीं पहनूंगा और न खाऊंगा । इतने वस्त्र और अलंकार वगैरह उपभोग योग्य पदार्थ इतने कालतक ही सेवन करूंगा अथवा इतने वस्त्र अलंकार इतने दिनतक सेवन नहीं करूंगा । इस प्रकार विधि और निषेध दोनों ही रीतियोंसे भोग और उपभोगयोग्य

पदार्थोंकी मर्यादा की जाती है। मर्यादाके कालके भीतर उन त्यागे हुए भोगोपभोगोंकी इच्छा नहीं करनेवालेके भोगोपभोग परिमाण व्रत होता है।

अब—आगे भोग और उपभोगका लक्षण बताकर उनका यम नियमरूपसे त्याग करना चाहिए, यह बताते हैं—

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनःपुनः स्रगम्बरवत्।
तत्परिहारः परिमितकालो नियमो यमश्च कालान्तः॥ १४॥

अन्वयार्थ—('यः') जो (स्रग्वत) माला ताम्बूल आदिकी तरह (सकृत) एकवार (सेव्यः) सेवन किया जाता है ('सः') वह (भोगः) भोग ('भण्यते') कहलाता है (तु) और ('यः') जो (अम्बरवत) वस्त्र आभूषणादिकी तरह (पुनःपुनः) वारवार (सेव्यः) सेवन किया जाता है ('सः') वह (उपभोगः) उपभोग ('भण्यते') कहलाता है तथा (परिमितकालः) किसी नियमित कालतकके लिए (तत्परिहारः) भोगोपभोगका त्याग करना (नियमः) नियम (व्यपदिश्यते) कहलाता है (च) और (कालान्तः) जीवन पर्यंतके लिए (तत्परिहारः) भोगोपभोगका त्याग करना (यमः) यम (व्यपदिश्यते) कहलाता है।

भावार्थ—जिन पदार्थोंका सेवन एकवार किया जाता है, जैसे चंदन, माला और ताम्बूल, इनको भोग कहते हैं, जिनको एकवार सेवन करके कालान्तरमें भी सेवन किया जाता है उनको उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र, अलंकार वगैरह।

जो त्याग कालकी मर्यादापूर्वक किया जाता है उसके त्यागको नियम कहते हैं और जो त्याग जन्मभरके लिए किया जाता है उसको यम कहते हैं। त्याग करनेकी यम और नियम यह विशेष संज्ञाएं हैं।

अब—आगे त्रसघात, बहुघात, प्रमादविषय, अनिष्ट और अनुपसेव्य इन पांचोंके त्यागका अंतर्भाव भी भोगोपभोग परिमाण व्रतमें होता है यह बताते हैं—

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः।
त्याज्योऽन्यथाऽप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम्॥१५॥

अन्वयार्थ—('भोगोपभोगपरिसंख्यानव्रतिना') भोगोपभोग परिमाण व्रतके पालन करनेवाले श्रावकको (पलमधुमद्यवत्) मांस, मधु तथा मदिराकी तरह (त्रसबहुघातप्रमादविषयः) जो त्रसघात बहुघात और प्रमादका विषय करनेवाले हैं ऐसे तथा (अन्यथा अपि) त्रसघातादिकको विषय करनेवाले नहीं हो करके भी (अनिष्टः) जो अनिष्ट हैं ऐसे (च) और ('इष्टोऽपि') इष्ट हो करके भी (अनुपसेव्यः) जो अनुपसेव्य हैं—उत्तम पुरुषोंके द्वारा सेवन करनेके योग्य नहीं हैं ऐसे भी (अखिलः अर्थः) भोग तथा उपभोग करनेके योग्य सम्पूर्ण पदार्थोंका (त्याज्यः) त्याग कर देना

चाहिये (हि) क्योंकि (व्रतात्) व्रतसे (इष्टं फलं) स्वर्गादिक इष्ट फल ('भवति') प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिन इन्द्रियोंके भोगयोग्य पदार्थके भक्षणादिकमें मांसके समान त्रस घात होता है उन सब इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका त्याग करना चाहिये। जिनके सेवनसे मधुके समान रसात्मक बहुतसे तदाश्रित जीवोंकी तथा जिन कन्दमूलादिक भक्षणसे अनन्त स्थावरोंकी हिंसा होती है वे सभी पदार्थ नहीं खाना चाहिये, क्योंकि इनके भक्षणसे बहु घात होता है।

जिनके सेवनसे मद्यके समान वेसुधी (प्रमाद) उत्पन्न होती है उन सबका त्याग मद्यके समान करना चाहिये। जिनमें उड़कर आए हुए बहुतसे संमूर्छन जीव बैठते हैं, जिनमें जीवोंके रहनेके लिये बहुत जगह है, इसप्रकार कमलनाल आदि त्रसघात-विषयक पदार्थ हैं और इसी प्रकारसे केतकीके फूल, सहजनेके फूल, अरणिके फूल, बेलफल आदि बहुजन्तुओंके स्थान हैं, इसलिये ये भी त्रसघात-विषयक पदार्थ समझे जाते हैं।

जो गुरबेल, ल्हसून, अदरक, बहुघात विषयक पदार्थ हैं अर्थात् इनके भी भक्षणसे अनंत एकेंद्रियोंकी हिंसा होती है। इसलिये भी बहुघातको विषय करनेवाले पदार्थ हैं। भांग, धतूरा अफीम आदि प्रमाद-विषयक पादार्थ हैं। अतः इन त्रसघात बहुघात और प्रमाद करनेवाले सब ही पदार्थोंका भक्षण नहीं करना चाहिये। प्रसंगवश इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्रूरताजनक व्यापार भी नहीं करना चाहिये।

तथा जिसके सेवनसे त्रसघात, बहुघात व प्रमाद वगैरह कुछ नहीं होता हो परन्तु जो अपनेको, अपने स्वास्थ्यको अनिष्ट हो, अर्थात् अपनी प्रकृतिके अनुकूल न हो अथवा स्वतःको इष्ट न हो उस सबका भी त्याग करना चाहिये।

जो अनुपसेव्य हैं अर्थात् जो भले पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं समझे जाते हैं उनका भी त्याग करना चाहिये। जैसे चित्र विचित्र वस्त्र परिधारण करना, विकृत वेष-भूषा वगैरह करना अथवा मलमूत्रादिकका सेवन करना अनुपसेव्य कहलाता है। इन सबका भी त्याग करना चाहिये।

इस तरह ग्रन्थकारने भोगोपभोगकी मर्यादाके समय व्रतीके लिये त्रसघात, बहुघात, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य सब ही पदार्थोंके खानेका मद्य, मधू और मांसके समान त्याग करनेका उपदेश दिया है, क्योंकि व्रतसे अभीष्ट फलकी सिद्धि होती है।

अब—उपरोक्त कथनका संव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये आगेके इन तीन पद्यों द्वारा खुलासा करते हैं—

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम्॥ १६॥

अन्वयार्थ—('धर्मार्थी') धर्मको चाहनेवाला श्रावक (नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि) नाली सूरण, कलींदा, द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको (आजन्म) जीवनपर्यंतके लिये (वर्जयेत्) छोड़े (हि) क्योंकि (तत्प्रसूजां) उन नाली सूरण वगैरह पदार्थोंके खानेवाले पुरुषोंको ('तद्भक्षणे') उन पदार्थोंके खानेमें (फलं) फल तो (अल्पं) थोड़ा (च) और (घातः) घात (भूयसां) बहुतसे जीवोंका ('भवति') होता है।

भावार्थ—जन्मभरके लिये नाली (एक प्रकारकी भाजी), सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प, मूला, व अदरख, नीमके फूल, केतकीके फूल आदिके भक्षणका त्याग करे। क्योंकि इनके भक्षणसे क्षणभरके लिये जिह्वाके स्वादकी पूर्ति होती है और खानेवालेके निमित्तसे बहुतसे एकेंद्रिय प्राणियोंका घात होता है।

अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः।
यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(दयापरैः) दयाशील श्रावकोंको (सदा) सर्वदाके लिए (सर्वेऽपि अनन्तकायाः हेयाः) सब ही अनन्त कायवाली वनस्पति त्यागनी चाहिए। (यत्) क्योंकि (एकं अपि तं हन्तुं प्रवृत्तः) जो एक भी अनन्तकाय वनस्पतिकी हिंसाके लिए प्रवृत्त होता है वह (अनन्तकान् हन्ति) अनन्त जीवोंका वध करता है।

भावार्थ—धर्म दयाप्रधान है इसलिए दयालु होकर सदैवके लिए अनन्तकायवाली साधारण वनस्पतीके भक्षणका त्याग करना चाहिए। क्योंकि एक साधारण वनस्पतीके जीवको भक्षण द्वारा मारनेके लिए प्रवृत्त व्यक्ति उनमें रहनेवाले अनन्त जीवोंके मारनेके लिए प्रवृत्त होता है। जिस वनस्पतीके शरीरमें अनन्त साधारण वनस्पतीके जीव रहते हैं उसको अनन्तकाय कहते हैं। ऐसी अनन्तकाय वनस्पती सात प्रकारकी है—मूलज, अग्रज, पर्वज, कंदज, स्कंधज, बीजज और सम्मूर्छनज। उनमेंसे अदरख, हल्दी वगैरह मूलज वनस्पती है। 'आर्यका' एक प्रकारकी ककड़ी इत्यादि वनस्पतीको अग्रज कहते हैं। देवनाल, ईख, वेत आदि गांठसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पती पर्वज है। प्याज, सूरण वगैरह कंदज वनस्पती है। सल्लाकी कटेरी, पलाश वगैरह स्कंधज वनस्पती है। ये वनस्पतियां इनके (स्कंधोंके) टुकड़ोंको लगानेसे लग जाती हैं। धान, गेहूँ वगैरह बीजसे पैदा होनेवाली वनस्पती बीजज है। और विना बीजादिकके केवल इधरउधरके पुद्गलोंके संमिश्रित होनेसे जो वनस्पती पैदा होती है वह संमूर्छनज वनस्पती है। यह कहीं भी होसकती है। कहा भी है कि:—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकाया य॥

मूल, अग्रभाग, पर्व, बीज, कंद, और स्कन्धके लगानेसे उत्पन्न होनेवाली तथा सम्मूर्छनपनेसे

उत्पन्न होनेवाली वनस्पति सप्रतिष्ठित वनस्पति है । क्योंकि इनमें एक प्रत्येक वनस्पतीके आश्रित अनन्त साधारण जीव रहते हैं ।

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम् ।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(आमगोरससंपृक्तं द्विदलं 'नाहरेत्') कच्चे दूधसे मिश्रित द्विदल, कच्चे दूधसे बनाए गए दही और मठासे मिश्रित द्विदलको नहीं खाना चाहिए। (प्रायशः) प्रायः करके (अनवं) पुराने (द्विदलं) द्विदलको ('नाहरेत्') नहीं खाना चाहिये और (वर्षासु अदलितं द्विदलं 'नाहरेत्') वर्षाऋतुमें विना दला द्विदल नहीं खाना चाहिये (च) तथा (अत्र) वर्षाऋतुमें (पत्रशाकं च 'नाहरेत्') पत्तोंका साग भी नहीं खाना चाहिए ।

भावार्थ—आगममें यह बताया है कि कच्चे गोरसके साथ मिले हुए द्विदलमें बहुत सूक्ष्म जीव पड़ते हैं। इसलिए कच्चे दूधके साथ तथा कच्चे दूधसे उत्पन्न दहीके साथ कच्चे दूधसे ही तैयार हुए दही और उससे तैयार किए गए मठाके साथ उड़द, मूग, चना, मटर आदिकी दालकी चीजोंको नहीं खाना चाहिए। प्रायःकर इन दालवाले पुराने धान्योंको और वर्षाऋतुमें विना दले किसी भी द्विदल धान्यको नहीं खाना चाहिए। क्योंकि वैद्यक ग्रंथोंके अनुसार वर्षाऋतुमें उनके भीतर अंकुर उत्पन्न होजाते हैं यह बताया है। तथा प्रत्यक्षमें भी किन्हीं२ दालवाले धान्यमें घुन लग जाता है इसलिए त्रस जीवोंकी भी उनमें संभावना है। यहां "प्रायः" पदका अभिप्राय यह है कि जिनमें जीवोंके आश्रयकी संभावना नहीं है, जैसे कुलथी वगैरह, उन पुराने धान्योंको वर्षामें विना दले खानेका निषेध नहीं है। तथा वर्षाऋतुमें हरे पत्तोंकी मेथी आदिकी साग भी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि इस ऋतुमें बहुतसे आजूबाजूके जीव पत्तोंपर आकर बैठते हैं उनका इस ऋतुमें पत्तोंसे बहुत अधिक संसर्ग रहता है। वर्षाऋतुमें फलकी सागका निषेध नहीं है। क्योंकि उनके साथ जीवोंका अधिक संसर्ग नहीं होता है।

अब—भोगोपभोग व्रतके पालनेसे क्रूर कर्मोंका भी निषेध होजाता है यह बताते हैं—

भोगोपभोगकृशनात्कृशीकृतधनस्पृहः ।
धनाय कोट्टपालादिक्रियाः क्रूराः करोति कः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(भोगोपभोगकृशनात्कृशीकृतधनस्पृहः) जिसकी भोगोपभोगोंको कम कर देनेके कारण धनकी आकांक्षा कृश होगई है ऐसा (कः) कौन पुरुष (धनाय) धनके लोभसे (क्रूराः कोट्टपालादिक्रियाः करोति) क्रूर कोतवाल आदिकी आजीविका करेगा अर्थात् कोई नहीं करेगा ।

भावार्थ—जिसने अपने भोगोपभोगोंके कम करनेसे धनलोलुपता कम कर रखी है वह क्रूर

कर्मवाली कोतवाल आदिकी नोकरीको धन कमानेके हेतुसे कैसे कर सकता है? कभी नहीं कर सकता है।

अब—आगे भोगोपभोग परिमाण व्रतके पांच अतीचारोंको बताते हैं—

सचित्तं तेन सम्बद्धं सम्मिश्रं तेन भोजनम्।
दुष्पक्वमप्यभिषवं भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम्॥ २०॥

अन्वयार्थ—(सचित्तं) सचित्त भोजनको (तेन सम्बद्धं भोजनम्) सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले भोजनको तथा (तेन सम्मिश्रं) उस सचित्तसे मिले हुए भोजनको (दुष्पक्वं अपि अभिषवं भुञ्जानः तद्व्रतं अत्येति) अधपके तथा गरिष्ट भोजनको करनेवाला श्रावक भोगोपभोग परिमाण व्रतका उल्लंघन करता है। अर्थात् ये पांच भोगोपभोग परिमाणव्रतके अतीचार हैं।

भावार्थ—सचित्त भोजन, सचित्त सम्बद्ध भोजन, सचित्तसे मिला हुआ भोजन, दुष्पक्व भोजन और अभिषव भोजन ये पांच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतीचार हैं। उनमेंसे कच्ची ककड़ी आदिको सचित्त कहते हैं। अज्ञानसे या प्रमादसे कदाचित् कच्ची ककड़ी वगैरह मुंहमें डाल ली जावे या खानेमें आजावे तो सचित्त नामका प्रथम अतीचार होता है।

यहांपर यह शङ्का होसकती है कि १५ वें श्लोकमें त्रस घात बहुघातादि विषयक सब ही वनस्पतियोंके भक्षणका निषेध कर चुके हैं। पुनः सचित्त भक्षणको अतीचार क्यों कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि यहांपर बुद्धिपूर्वक जिन वनस्पतियोंके भक्षणमें त्रस घातादिककी संभावना है उसके त्यागका विधान है, और उसका पालन भोगोपभोगपरिमाण व्रतीको अवश्य करना चाहिए। परन्तु यहांपर अज्ञानभावसे या असावधानीसे त्यागी हुई सचित्त वस्तुके भक्षणका मौका आजावे तो वह 'सचित्त' नामका अतीचार है। और यही युक्ति सचित्तसे सम्बन्धित तथा सम्मिश्रित आहारको अतीचारके कथनमें लागू करना चाहिए।

सचित्त सम्बन्ध—अज्ञान व असावधानीके कारण वृक्षमें लगी हुई गोंदके खानेसे, पके फलोंके खाते समय भीतरके बीजके खानेमें आजानेसे सचित्त सम्बन्ध नामका अतीचार होता है।

उदाहरणार्थ—"इस फलमें केवल बीज मात्र सचित्त है और हमने केवल सचित्तका त्याग किया है। इसलिए खाते समय उसे छोड़ दूंगा और शेष जो भाग अचित्त है उसे खाऊँगा ऐसी स्थितिमें आम खजूर आदि पके फलोंके खाने समय सचित सम्बन्ध नामका अतीचार होता है। क्योंकि सचित्त बीजका सम्बन्ध उनसे नहीं छूटा है।

सचित्त संमिश्र—जिस पदार्थमें सचित्त वनस्पती इस प्रकारसे मिल गई हो कि जिसको किसी प्रकारसे भी अलग नहीं किया जा सकता हो और प्रमाद व अज्ञानसे उसका खानेमें आजाना सचित्त

संमिश्र नामका अतीचार है। अथवा सचित्तसे मिली हुई वस्तुको सचित्त संमिश्र कहते हैं—जैसे अदरखसे अनारके दानोंसे व ककड़ी आदिसे मिश्रित पकोड़ी व पुओंका खाना 'सचित्त संमिश्र' नामका अतीचार है। अथवा जो तिलमिलाकर यवधानादिक बनाए जाते हैं अर्थात् जौ व धान वगैरहके पदार्थ बनाए जाते हैं वे 'सचित्त संमिश्र' कहलाते हैं। इस प्रकारकी कोई भी चीज भोगोपभोग-परिमाण व्रतीको प्रमाद और अज्ञानसे नहीं खानी चाहिए।

दुष्पक्वम्—जो अपनी योग्यतासे अधिक पक गया हो अर्थात् अधजला होगया हो अथवा कम पका हो। जैसे चावल जिसकी भीतरकी कनी कची रह जाती है उसको 'दुष्पक्व' कहते हैं। ऐसे पदार्थको खानेसे जितना अंश कच्चा है उसके खानेमें आजानेसे सचित्ताहार कृत दोषकी संभावनासे व्रत भंग होता है और ऐसे पदार्थके खानेसे शारीरिक अपाप भी होता है। जैसे पृथुक शब्दका अर्थ पोहे (मराठीमें) होता है, वह जब अधिक भुंज जाती है तब भी उसका कुछ भाग अचित्त रहता है और कुछ भाग अधिक सिक जाता है। इसलिए सचेतन और अचेतनके संमिश्रितपनेसे अतीचार लगता है। यह अधिक पकेका उदाहरण है। इसी प्रकार कम पकेमें भी सचित्त और अचित्त भागकी संभावना रहती है जैसे कम पका भात। ये दोनों ही "दुष्पक्व" नामके अतीचार हैं। ये सब अतीचार अज्ञान व प्रमादसे होते हैं।

अभिषव—कांजी आदि पतले पदार्थ अथवा खीर आदि पुष्टिकारक पदार्थ भी स्वादु व पुष्टिकी अभिलाषासे अधिक इच्छा रखकर खाए जाते हैं। उससमय उसमें (भोगोपभोग परिमाण व्रतमें) अतिक्रमादि दोष लगते हैं इसलिए यह भी अतीचार होता है। चारित्रसारमें इन सचित, आदि अतीचारोंके विषयमें यह युक्ति दी है कि इनके कारण अतिथिका उपयोग इन सचित्त आदिके विषयमें जाता है। इनके भक्षणसे इन्द्रियोंका मद बढ़ता है, वातादि रोगोंका प्रकोप होता है और दवाई खानी पड़ती है। इसलिए कुछ पापोंका अंश भी लगता है। अतः व्रतियोंको इनको टालना चाहिए।

स्वामी समन्तभद्रने तो भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतीचार दूसरे बताए हैं, जैसे—

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥

अर्थात्—विषय एक प्रकार विष है इसलिए इनके विषयमें अनुप्रेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अनुभव ये पांच भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतीचार हैं।

अनुप्रेक्षा—विषयरूपी विषोंका आदर करना अर्थात् विषयोंके भोगनेसे विषय सम्बन्धी वेदनाके दूर होनेपर भी भोगी हुई इष्ट स्त्री सम्बन्धी संभाषण आलिंगनका त्याग नहीं करना, पुनः २ चिंतवन करना, अनुप्रेक्षा नामका अतीचार है।

अनुस्मृति—भोगोंके अनुभव द्वारा विषय सम्बन्धी वेदनाके पूरे होनेपर भी अत्यन्त आसक्तिके

कारण अपनी स्त्री आदिके सौंदर्य, सुखसाधनपनेका बार २ स्मरण करना 'अनुस्मृति' नामका दूसरा अतीचार है।

अतिलौल्य—अत्यंत भोगोंकी लोलुपता रखना, भोगभोगकर भी उसके भोगनेकी अत्यंत आकांक्षा रखना अतिलौल्य नामका अतीचार है।

अतितृषा—अपनी कामनीके भोगादिकोंकी अत्यंत गृद्धितापूर्वक इच्छा रखना अतितृषा नामका अतीचार है।

अनुभव—भोगोंको वेदनाका प्रतीकार न समझकर अपने नियतकालमें भी अत्यासक्तिसे भोगना अनुभव नामका अतीचार है।

ये सब अतीचार भी "परेप्यूह्यास्तथात्ययाः" इसी ग्रन्थके इस वाक्यके अनुसार अतीचार समझना चाहिए, क्योंकि पांच पांच अतीचार बता दिए हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल पांच ही अतीचार प्रत्येक व्रतमें होते हैं, किन्तु पांच पांच अतीचार सिर्फ उदाहरणके लिए बताए हैं, जहां भी अन्तर्वृत्तिसे व्रती च्युत होता है, केवल बाह्य वृत्तिसे अपने व्रतोंको पालता रहता है उससमय उसको नानाप्रकारके अतीचार लगते हैं यह समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्तर्वृत्तिसे पालते हुए भी यदि बाह्य वृत्तिसे कोई व्रती च्युत होजावे तो भी अतीचार होता है यह सब इस कथनका सारांश है।

इसी प्रकार श्री सोमदेवाचार्यके बनाए हुए—

दुःपक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसम्बन्धमिश्रयोः।
अवीक्षितस्य च प्राशः सन्त्यात्यक्षतिकारणम्॥

दुःपक्व भोजन करना दुःपक्व नामका अतीचार है। निषिद्ध भोजन, अर्थात् शास्त्रमें जिनका निषेध है उन पदार्थोंका खाना, निषिद्ध भोजन नामका अतीचार है। जिनमें सूक्ष्म जंतुओंका सम्बन्ध पाया जाता हो ऐसे पदार्थोंका खाना "सूक्ष्म जंतु सम्बन्ध" नामका अतीचार है। "जंतु मिश्र" अर्थात् जिसमें सूक्ष्म जीव मिले हुए हों, उनका खाना, जंतु संमिश्र नामका अतीचार है और "अवीक्षित प्राशः" अर्थात् बिना शोधे बिना देखे भोजन करना अवीक्षित प्राश नामका अतीचार है। ये पांच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतीचार हैं। इनमें यद्यपि कुछ विशेष अन्तर नहीं है तथापि जो थोड़ा बहुत अन्तर है उसका भी ग्रहण "परेप्यूह्यास्तथात्ययाः" इस ग्रन्थोक्त वाक्यसे समझना चाहिए।

इस विषयमें श्वेतांबर आचार्योंके मतसे इन भोगोपभोगके साधनभूत जो द्रव्य हैं अथवा जो व्यापार हैं वह भी भोगोपभोग ही है। क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार करके भोगोपभोगके कारणभूत साधनोंको भी भोगोपभोग शब्दसे कह सकते हैं। और इसका नाम खरकर्म भोगोपभोग त्याग रखना चाहिये तथा इस व्रतके वन जीविका आदि १५ अतीचार मानना चाहिये। और खरकर्म तथा इनके इन अतीचारोंका त्याग करना चाहिये, इसका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है। यह सब

" सावद्यकर्म " हैं और ये १५ ही होते हैं यह नहीं कहा जासकता है । क्योंकि संसारमें सावद्यकर्म बहुतसे हैं । इसलिये इनकी संख्या गिनाना ठीक नहीं है । अथवा यदि कहा जावे कि अत्यंत मंद-मतियोंके लिए इसका उपदेश देना गैर टीक नहीं है तो इसके ऊपर ग्रंथकारने स्वीकारता की है । क्योंकि अत्यंत मंदमती यह पहचान नहीं कर सकते कि संसारमें सावद्य और निरवद्य कर्म कौनसे हैं इसलिए उनके लिए नाम निर्देश करके समझा देना ही ठीक है, परन्तु बुद्धिमानोंके लिए गिनाना ठीक नहीं है । क्योंकि जितने भी क्रूर कर्मवाली आजीविकाएं हैं उन सबका ही त्याग भोगोपभोग परिमाण-व्रतीको करना चाहिए । सावद्य कर्मोंकी संख्या गिनानेसे इतर सावद्य कर्मोंके करनेके विधानका प्रसंग आता है, इसलिये सावद्य कर्मोंकी संख्याका गिनाना उचित नहीं है ।

अब—आगेके तीन पद्योंसे श्वेतांबर मतमें प्रतिपादित पन्द्रह खर कर्मोंके त्यागका भी भोगो-पभोग परिमाणमें अन्तर्भाव है । इसलिये उनका पृथक् कथन करना ठीक नहीं है तथा मन्दमतियोंको समझानेके लिये कथन करना बाधक भी नहीं है यह बताते हैं—

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत् ।
वृत्तिं वनाग्न्यनःस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥ २१ ॥
निर्लाञ्छनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदाम् ।
विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥ २२ ॥
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम् ।
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') एक देशव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (खरकर्म) खरकर्मको अर्थात् प्राणियोंको बाधा देनेवाले व्यापारको (व्रतयेत्) छोड़े तथा (अत्र) क्रूर कर्मोंके-खोटे कर्मोंके त्यागरूप इस खरकर्म व्रतमें (वनाग्न्यनःस्फोटभाटकैः) वन, अग्नि, गाड़ी, स्फोट और भाटकके द्वारा (वृत्तिं) आजीविकाको-व्यापारको (यन्त्रपीडनं) यंत्रपीड़नको (निर्लाञ्छनासतीपोषौ) निर्लाञ्छन तथा असतीपोषको (सरःशोषं) सरः शोषको (दवप्रदां) दवदानको और (अङ्गिरुक्) प्राणियोंको बाधा देनेवाले (विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यं) विष, लाक्षा, दंत, केश तथा रसके व्यापारको करनेरूप (पञ्चदश) पन्द्रह (मलान्) अतीचारोंको (त्यजेत्) छोड़े (इति) इस प्रकार (केचित्) कोई श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं परन्तु (लोके) संसारमें (सावद्यकर्मणां) सावद्य कर्मोंकी-पाप सहित क्रियाओंकी (अगण्यत्वात्) परिगणना करनेके लिये असमर्थ होनेसे (तत् चारु न) उनका वह कथन ठीक नहीं है (वा) अथवा (अतिजडान् प्रति) अत्यंत मूढ़ बुद्धिवाले पुरुषोंको उद्देश करके (तदपि) वह खरकर्म व्रत भी (प्रणेयं) प्रतिपादन करनेके योग्य है अर्थात् अत्यंत मन्द बुद्धिवाले पुरुषोंके लिये उस खर कर्मव्रतका भी प्रतिपादन करना चाहिये ।

भावार्थ—प्राणियोंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाले व्यापारको खरकर्म अर्थात् क्रूरकर्म कहते हैं, इनका त्याग करना चाहिये। इस व्रतका नाम खरकर्म भोगोपभोग त्यागव्रत है। इनके १५ अतीचार हैं. उनका भी त्याग करना चाहिये। उन १५ अतीचारोंका खुलासा पृथक् २ इस प्रकार है—

१ वनजीविका—स्वयं टूटे हुए अथवा तोड़कर वृक्ष आदि वनस्पतिका बेचना, अथवा गेहूं आदि धान्योंका पीस कूटकर व्यापार करना।

२ अग्निजीविका—कोयलाको तैयार करना। यह आजीविका ६ कायके जीवोंकी विराधनाके लिये हेतु है।

३ अनोजीविका— स्वयं गाड़ी, रथ तथा उसके चक्र वगैरह बनाना अथवा दूसरोंसे बनवाना, गाड़ी जोतनेका व्यापार स्वयं करना तथा दूसरोंसे कराकर आजीविका करना, गाड़ी आदिके बेचनेका धंदा करना अनोजीविका है। इस आजीविकामें बैल आदिको बन्धनमें रखना पड़ता है तथा इन वाहनोंके द्वारा बहुतसे प्राणियोंका उपमर्दन होता है।

४ स्फोट जीविका—पटाखे व आतिशबाजी आदि बारूदकी चीजोंसे आजीविका करना, स्फोट जीविका है। इस कर्मसे भी ६ हों ही कायके जीवोंका घात होता है।

५ भाटक जीविका—गाड़ी, घोड़ा आदिसे बोझा ढोकर जो भाड़ेकी आजीविका की जाती है, वह भाटक जीविका कहलाती है।

६ यन्त्र पीडन—तेल निकालनेके लिये कोल्हू चलाना, सरसों तिल आदिको कोल्हूमें पिलवाना, तिल वगैरह देकर उनके बदलेमें तेल लेना, यह सब यंत्र पीडन कहलाता है। इस व्यापारमें तिलादिकमें रहनेवाले जीवोंका घात होता है इसलिये यह भी दुष्कर्म—खरकर्म है।

७ निर्लाञ्छन कर्म—बैलों आदिकी नाक आदि छेदनेका धंदा करना अर्थात् नितरां लांछन, अर्थात् शरीरके अवयवके छेदनको निर्लांछन कर्म कहते हैं।

८ असतीपोष—हिंसक प्राणियोंका पालनपोषण करना और किसी प्रकारकी भाड़ेकी उत्पत्तिके लिए दास और दासियोंका पोषण करना असतीपोष कहलाता है।

९ सरःशोष—अनाज बोनेके लिए जलाशयोंसे नाली खोदकर पानी निकालना सरःशोष कहलाता है। इसमें जलकाय, जलचर, त्रस और जलाश्रित ६ कायिक जीवोंकी विराधना होती है।

१० दवप्रदा— वनमें घास वगैरहके जलानेके लिए आग देना दवप्रद कहलाता है। वह दो प्रकारका है—एक व्यसनज और दूसरा पुण्यबुद्धिज। उनमेंसे विनाप्रयोजनके भीलोंद्वारा वनमें आग लगवाना व्यसनज दवप्रद कहलाता है और जब मैं मर जाऊँगा उस समय मेरे कल्याणके लिए इतने दीपोंका उत्सव कराया जाय इस प्रकारकी पुण्यकी बुद्धिसे जो दीपोंमें अग्नि प्रज्वलित कराई जाती है

उसको पुण्यबुद्धिज दवप्रद कहते हैं। तथा सूखे घासके जला देनेसे उस जगह अच्छी उपज होती है, गायोंको अच्छा घास पैदा होता है इस बुद्धिसे आग लगवाना दवप्रद कहलाता है। इसमें भी करोड़ों जीवोंका वध होता है।

११ **विषवाणिज्य**—विषका प्राणिघातक व्यापार करना विषवाणिज्य कहलाता है।

१२ **लाक्षावाणिज्य**—लाखके धंदेको लाक्षावाणिज्य कहते हैं। लाख जिन पत्तोंपर लगाई जाती है उनकी हिंसा होजाती है। जब वृक्षसे लाख निकाली जाती है, तब जिन जीवोंके शरीरकी यह लाख बनती है उसमें भी असंख्य अनेक त्रस रहते हैं उनका भी घात होता है। लाखके कीड़े जिन छोटे २ पत्तोंपर बैठते हैं तथा उनमें जो सूक्ष्म त्रस होते हैं उनके घातके विना लाख पैदा ही नहीं होती है। इसलिये यह व्यापार निषिद्ध है और यह भी खरकर्म है। इसीप्रकार टाकनखार, मनसिल आदि पदार्थोंका व्यापार तथा गुगूलका व्यापार तथा धायके फूल व छाल जिससे मद्य बनता है उसके व्यापारका भी ग्रहण लाक्षावाणिज्यमें गर्भित है।

१३ **दन्तवाणिज्य**—जहां हाथी वगैरह रहते हैं उस जगहपर व्यापारके लिये भीलादिकोंको द्रव्य देकर दांत आदि खरीदना दन्तवाणिज्य है, यह भी खरकर्म है, क्योंकि वे भिल्ल दंत आदि लानेके लिये हाथी आदिका वध करेंगे। यहां इतना विशेष है कि जहां उत्पत्तिस्थान नहीं है और उसके निमित्तसे जीवोंके वधकी संभावना नहीं है वहांपर हाथीदांत आदिका व्यापार किया जासकता है, उसमें दोष नहीं है।

१४ **केशवाणिज्य**—दासी, दास और पशुओंके व्यापारको केशवाणिज्य कहते हैं। इस व्यापारमें भी दासी, दास आदिकी परतंत्रता, क्षुधा, तृषा, बंध, वध आदि कृतपीड़ा होती है।

१५ **रसवाणिज्य**—मक्खन वगैरहके व्यापारको रसवाणिज्य कहते हैं। मक्खनमें संमूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मधू, चरवी और मद्यमें भी जीवोंका घात होता है। मद्यसे मद पैदा होता है और बहुत जीवोंका घात भी होता है इसलिये इन चीजोंका व्यापार करना दुष्कर्म है।

ये पन्द्रह खरकर्म त्यागव्रतके अतीचार हैं। इस खरकर्मका त्याग करना चाहिए। यह किसी श्वेतांबर आचार्यका कथन है। परन्तु पापरूप आजीविकाओंकी गिनती नहीं की जासक्ती है इसलिये १५ हीके त्यागका उपदेश देना ठीक नहीं है। हां! जो अत्यंत मंद बुद्धि हैं उनके लिये इतने खरकर्म बताकर त्याग कराना बुरा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि दिगम्बर आचार्योंने त्रसघात, बहुघात और प्रमादके विषयभूत अर्थोंका त्याग कराया है उसमें इन सबका समावेश हो ही जाता है। अतएव इस खरकर्म व्रतके पृथक् उपदेशकी आवश्यक्ता नहीं है।

अब-आगे शिक्षाव्रतके लक्षणपूर्वक उसके पालनेका उपदेश देते हैं—

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत्।
श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') नैष्ठिक श्रावक (श्रुतिचक्षुः) श्रुतज्ञानरूपी नेत्रवाला होकरके (देशावकाशिकादीनि) देशावकाशिक है आदिमें जिसके ऐसे अर्थात् देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग इन चार (शिक्षाव्रतानि) शिक्षाव्रतोंको (संश्रयेत्) ग्रहण करे (हि) क्योंकि (तानि व्रतानि) वे देशावकाशिक आदि व्रत (शिक्षाप्रधानानि) शिक्षाप्रधान ('भवन्ति') होते हैं।

भावार्थ—श्रावकको शास्त्रज्ञानरूपी लोचनधारी होकर जिनमें शिक्षाकी प्रधानता है उन देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग नामके ४ शिक्षाव्रतोंका भी पालन करना चाहिए। जैसे देशावकाशिक व्रतमें प्रातःकालकी सामायिकके अनन्तर दिनभरके लिये जो क्षेत्रको लक्ष्य करके नियम-विशेष किये जाते हैं उससे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है। सामायिक करते समय सामायिकके कालतक समताभाव धारण करनेसे सर्व पापोंका कालकृत त्याग होजाता है। प्रोषधोपवास व्रतमें भी प्रोषधोपवास व्रतके कालतक सर्व आरम्भादिका त्याग कर देनेसे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है और अतिथिसंविभाग व्रतके पालनेसे अतिथियोंकी वैयावृत्य करनेसे उनका आदर्श अपने जीवनमें उतर सकता है। इसलिये सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है। अतएव इन चार व्रतोंको शिक्षाकी प्रधानतासे शिक्षाव्रत कहा है। इनके पालनेसे अणुव्रतोंमें विशेषता-निर्मलता आती है और उनकी रक्षा होती है। अतः ये चारों शिक्षाव्रत भी व्रत परीरक्षक होनेके कारणशील हैं।

अब—आगे देशावकाशिक व्रतका निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं—

दिग्व्रतपरिमितदेशविभागेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् ॥
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस व्रतमें (दिग्व्रतपरिमितदेशविभागे) दिग्व्रतमें प्रमाण किये गये क्षेत्रके किसी एक विभागमें-अंशमें (मितसमयं) किसी नियमित समय तक (अवस्थानं) श्रावकको अवस्थिति (अस्ति) रहती है। (तद्व्रतं) उस व्रतको (तज्ज्ञाः) उस व्रतकी निरुक्तिके जाननेवाले पुरुष (देशावकाशिकं) देशावकाशिक व्रत (निराहुः) कहते हैं।

भावार्थ—अपने दिग्व्रतकी जो जन्मभरके लिए श्रावकने मर्यादा निश्चित की है उसके ही भीतर जो क्षेत्रका विभाग करके कुछ नियतकालतक रहना देशावकाशिक व्रत कहलाता है।

'देशावकाशिक'का निरुक्ति अर्थ यह है कि देश अर्थात् दिग्व्रतमें परिमाण किये हुये किसी

एक देशमें अर्थात् अंशमें अवकाश अर्थात् रहना। सारांश यह है कि जिस व्रतमें, दिग्व्रतमें परिमाण किए हुए क्षेत्र किसी एक देशमें अवकाश अर्थात् निवास करना पड़ता है उसको देशावकाशिक व्रत कहते हैं।

अब—देशावकाशिक व्रत पालनेवालेका स्वरूप वताते हैं—

स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे।
इति सङ्कल्प्य सन्तुष्टस्तिष्ठन्देशावकाशिकी॥ २६॥

अन्वयार्थ—(इदं इदं यावत्) घर, पर्वत तथा ग्राम वगैरहकी मर्यादा करके (सन्तुष्टः 'सन्') मर्यादाके वाहरमें तृष्णारहित होता हुआ (इहास्पदे) इस स्थानमें ('अहं') मैं (इयत्कालं) इतने कालतक (स्थास्यामि) निवास करूंगा—रहूंगा (इति) इस प्रकारसे (सङ्कल्प्य) मनके द्वारा सङ्कल्प करके—नियम करके (तिष्ठन्) स्थित होनेवाला ('श्रावकः') श्रावक (देशावकाशिकी) देशावकाशिक ('भवति') होता है—कहलाता है।

भावार्थ—सीमाके वाहरकी तृष्णाका विरोध करके और किसी पर्वत, गांव तथा नगर आदिकी मर्यादा करके मर्यादित क्षेत्रके भीतर मर्यादित कालतक मैं ठहरूंगा, ऐसा संकल्प करके संतुष्ट रहनेवाला श्रावक देशावकाशिक व्रत पालनेवाला होता है।

दिग्व्रतके समान इस व्रतमें भी सीमाके बाहर विद्यमान वस्तु-सम्बन्धी लोभादिककी निवृत्ति होजानेके कारण स्थूल और सूक्ष्म हिंसादिकका सब प्रकारसे त्याग होजाता है। यही इसका प्रत्यक्ष फल है और परभवमें आज्ञा, ऐश्वर्य आदिक सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह व्रत अवश्य पालन करने योग्य है, यह सुतरां सिद्ध होजाता है। और सीमाके बाहर सर्वदेश रूपसे पापके त्याग करनेका अभ्यास होता है, शिक्षा मिलती है तथा यह व्रत परिमित कालतक होता है। दिग्व्रतके समान यह व्रत यावज्जीवनके लिये नहीं होता है। अतः इसे शिक्षाव्रत कहना युक्तियुक्त है।

सूत्रकारने देशावकाशिक व्रतको गुणव्रत मानकर इसके स्थानमें भोगोपभोग परिमाण व्रतको शिक्षाव्रत माना है। उसका यह अभिप्राय है कि दिग्व्रतके संक्षेपीकरणका नाम देशावकाशिक व्रत है। और यह दिग्व्रतका देशावकाशिक व्रतरूपसे संक्षेप करना उपलक्षण होनेसे इसीप्रकार शेष सभी बातोंके संक्षेपीकरणका द्योतक है। क्योंकि प्रत्येक व्रतका भी संक्षेपीकरण इसके समान होना आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक व्रतके संक्षेपीकरणको स्वतंत्र व्रत मान लेने पर उत्तरगुण बारह होते हैं, यह नियम नहीं रह सकता। इसलिये उपलक्षणसे देशावकाशिक व्रतको ही सबका संक्षेपीकरण मान लिया है।

अब—आगे देशावकाशिक व्रतके अतीचार बताते हैं—

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम्।
प्रेषं सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत्॥ २७॥

अन्वयार्थ—('तद्व्रतनैर्मल्यार्थी') देशावकाशिक व्रतकी निर्मलताको चाहनेवाला श्रावक (सीमन्बहिर्देशे) मर्यादाके विषयभूत प्रदेशसे बाहरके प्रदेशमें (पुद्गलक्षेपणं) लोष्ठादिकके—लोड़ आदि फेंकनेको (शाब्दश्रावणं) शब्दके सुनानेको (स्वाङ्गदर्शनं) अपने शरीरके दिखानेको (प्रैषं) किसी मनुष्यके भेजनेको (च) और (ततः) मर्यादाके बाहरके प्रदेशसे (आनयनं) किसी वस्तुके बुलानेको (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ—देशावकाशिक व्रतके पुद्गलक्षेपण, शब्दश्रावण, स्वांगदर्शन, प्रेष्यप्रयोग और प्रेष्यानयन इन पांच अतीचारोंको छोड़े।

पुद्गलक्षेपण—मर्यादाके बाहर स्वयं तो न जाना परन्तु अपने कार्यके लोभसे सीमाके बाहर व्यापार करनेवालोंको प्रेरणाके हेतु ढेला, पत्थर आदि फेंककर संकेत करना पुद्गलक्षेपण नामका अतीचार है।

शब्दश्रावण—सीमाके बाहर रहनेवाले मनुष्योंको कार्यके लिये अपने पास बुलाने आदिके हेतुसे उनको सुन पड़े इसप्रकार चुटकी बजाना, ताली पीटना आदि शब्दश्रावण नामका अतीचार है।

स्वांगदर्शन—सीमाके बाहरसे जिनको बुलाना है उन्हें किसी कार्यके लिये शब्दोचारके विना ही अपने शरीर अथवा शरीरके अवयवको दिखाना स्वांगदर्शन नामका अतीचार है। ये तीनों ही अतीचार मायावीपनेसे होते हैं।

प्रेष्यप्रयोग—स्वयं मर्यादाके भीतर रहकर कार्यके लिये, 'तुम यह कार्य करो' इस प्रकार कहकर मर्यादाके बाहर सेवकको भेजना प्रेष्यप्रयोग नामका अतीचार है।

प्रेष्यानयन—स्वयं मर्यादाके भीतर रहकर 'तुम यह लाओ' इस प्रकार कहकर मर्यादाके बाहरसे किसी वस्तुको बुलाना प्रेष्यानयन नामका अतीचार है।

श्लोकमें आये हुए 'च' पदसे यह भी घोषित किया है कि मर्यादाके बाहर यदि सेवक स्थित है तो उसे किसी कार्य करनेकी आज्ञा करना भी अतीचार है। ये दोनों अतीचार अज्ञानसे अथवा उतावलेपनसे होते हैं। इन पांचोंमें व्रतकी अपेक्षा रहते हुए मायावीपन, अज्ञान और उतावलेपनसे एक देशका भंग है, इसलिये ये अतीचार कहलाते हैं।

अब—आगे सामायिक व्रतका प्ररूपण करते हैं—

एकान्ते केशबन्धादिमोक्षं यावन्मुनेरिव।
स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादित्यागः सामायिकंव्रतम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(केशबन्धादिमोक्षं यावत्) केशबन्ध मुष्टिबन्ध आदिके छोड़ने पर्यन्त (एकांते) एकान्त स्थानमें (मुनेः इव) मुनिके समान (स्वं ध्यातुः) अपनी आत्माको चिंतवन करनेवाले ('शिक्षाव्रतिनः') शिक्षाव्रती श्रावकका ('यः') जो (सर्वहिंसादित्यागः) हिंसादिक पांचों ही

पापोंका त्याग है ('तत्') वह (सामायिकव्रतं) सामायिक व्रत ('भवति') कहलाता है ।

भावार्थ—सामायिककी विधिके अनुसार सामायिकके समय तक सामायिक प्रारम्भ करते समय कालकी मर्यादाके कारणभूत जो चोटीमें गांठ बांधी जाती है, आसन मांड़ी जाती है, मुठी बांधी जाती है उसके छोड़नेके समय तक संपूर्ण राग और द्वेषको छोड़कर प्रशम और संवेगादिरूप जो ज्ञानका लाभ होता है यही जिसकी आराधनाका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। सामायिकमें सम शब्दका अर्थ राग-द्वेषकी निवृत्ति है और अय शब्दका अर्थ प्रशमादिरूप ज्ञानका लाभ है। ये दोनों जिसके प्रयोजन हैं उसे सामायिक कहते हैं। अथवा राग-द्वेषमें मध्यस्थ भाव रखना सामायिक है। अथवा समयका अर्थ आप्तोपदेश है। अतः उस उपदेशमें नियुक्त कर्म (व्यापार) को सामायिक कहते हैं। अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे जिनभगवानकी पूजा, अभिषेक, स्तुति और जापको सामायिक कहते हैं। और निश्चयनयसे अपनी आत्माके ध्यानको सामायिक कहते हैं। इस प्रकार सामायिकरूप जो व्रत उसका नाम सामायिक व्रत है। देशावकाशिक व्रतमें मर्यादाके बाहर सर्व पापकी निवृत्ति होती है और सामायिकमें सर्वत्र सर्व पापोंकी निवृत्ति होती है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। इसकी विधिमें जो केशबन्धादिकके मोक्ष पर्यंत सामायिक करनेका विधान किया है उसका अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय ऐसी प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है कि जबतक मैं केशोंकी गांठ न छोड़ूंगा, बांधी हुई मुठी न छोड़ूंगा, वस्त्रकी गांठ न छोड़ूंगा तबतक मेरे सर्व सावद्यका त्याग है। मैं समताभावको नहीं छोड़ूंगा।

अब—सामायिक व्रतमें कैसी भावना भावें यह बतात हैं—

परं तदेव मुक्त्यङ्गमिति नित्यमतन्द्रितः ।
नक्तं दिनान्तेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(तदेव) सामायिक ही (परं) उत्कृष्ट (मुक्त्यङ्गं) मोक्षका साधन है (इति) इसलिये ('मुमुक्षुः') मोक्षकी इच्छा रखनेवाला श्रावक (नित्यं) सदैव ही (अतन्द्रितः) आलस-रहित होकर (नक्तं दिनान्ते) रात्रि और दिनके अन्तमें (अवश्यं) नियमसे ('सामायिकव्रतं, भावयेत्) सामायिक व्रतका अभ्यास करे तथा (शक्तितः) शक्तिके अनुसार (अन्यदा) दूसरे समयोंमें भी (तत् भावयेत्) उस सामायिक व्रतका अभ्यास करे।

भावार्थ—केवल सामायिक ही मुक्तिका अङ्ग है इसलिये आलस्यका त्याग करके सदैव प्रातः और संध्याकालमें मुमुक्षु व्रतिक श्रावकको अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। और यथाशक्ति मध्याह्न आदि कालमें भी सामायिक करना चाहिये। क्योंकि मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है और चारित्रका प्रधान अङ्ग सामायिक है। व्रतिकके लिये प्रातः और संध्याके समय सामायिकका विधान आवश्यक है और मध्याह्नकाल तथा इतर समयमें अपनी शक्तिको न छिपाकर सामायिक करना दोषाधायक नहीं

किन्तु उसके गुणोंका वर्धक है। जितने अंशमें समताभावकी वृद्धि होती जावेगी उतने ही अंशमें उसके चारित्रमें वृद्धि होती जावेगी।

अब—सामायिक करते समय यदि परीषह—उपसर्ग आजावें तो क्या चिंतवन करना चाहिये यह बताते हैं—

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन्वसतो मेऽन्यत्किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—('प्रतिपन्नसामायिकः') सामायिक व्रतको ग्रहणकरनेवाला श्रावक (मोक्षः) मोक्ष (आत्मा) आत्मारूप है (सुखं) सुखरूप है (नित्यः) नित्य है (शुभः) शुभ है तथा (शरणं) शरण है और (भवः) संसार (अन्यथा) इससे विपरीत है इसलिये (अस्मिन्) इस संसारमें (वसतः मे) निवास करनेवाले मेरेको (अन्यत् किं स्यात्) अन्य क्या होगा (इति) इस प्रकार (आपदि) परीषह तथा उपसर्गके आने पर (स्मरेत्) स्मरण करे-चिन्तवन करे।

भावार्थ—सामायिक करते समय जब परीषह और उपसर्ग आवें उस समय सामायिक व्रत धारण करनेवालेको अपने अन्तःकरणमें इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि अनन्त ज्ञानादि स्वरूप मोक्ष ही मेरा आत्मा है। अनाकुल चेतनस्वरूप होनेसे मोक्ष ही सुख है और अनन्तस्वरूप होनेसे मोक्ष नित्य है। शुभ कार्य होनेसे मोक्ष ही शुभ है। विपत्तिके अगोचर होनेसे मोक्ष ही शरण है। और मेरे लिये चतुर्गतिमें परावर्तनरूप संसार इससे विपरीत है, अर्थात् संसार मेरे लिये अनात्मा है, दुःखरूप है, विनाशी है, अशुभ है, और अशरण है। जबतक मैं इस संसारमें हूं तबतक मुझे इन परीषह और उपसर्गोंको छोड़कर और क्या होनेवाला है, क्या हुआ है और क्या होगा। तात्पर्य यह है कि इस प्रकारका चिंतवन करते हुए सब प्रकारके परीषह और उपसर्गोंको सहकर भाव सामायिक व्रतका धारण करना चाहिये।

अब—सामायिककी सिद्धिके लिये क्या क्या करना चाहिये यह बताते हैं—

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते।
युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते सङ्कल्पितेऽर्हति ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—('मुमुक्षुः') मोक्षको चाहनेवाला श्रावक (प्रतिमार्पिते) प्रतिमामें अर्पित किये गये (अर्हति) अर्हन्त भगवानमें (साम्यार्थं) सामायिक व्रतकी सिद्धिके लिये (यथाम्नायं) आम्नायके अनुसार (स्नपनार्चास्तुतिजपान्) अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप इन चारों क्रियाओंको (युंज्यात्) करे तथा (सङ्कल्पिते अर्हति) सङ्कल्पित किये गये अर्हन्त भगवानमें (आद्यात् ऋते) आदिके बिना—अभिषेकके बिना अन्य पूजा आदि तीन क्रियाओंको (युंज्यात्) करे।

भावार्थ—तथा मुमुक्षु सामायिक व्रतकी सिद्धिके लिये आगमके अनुसार साकार प्रतिमामें

स्थापित अरिहंतका अभिषेक, पूजन, स्तुति और जप करे। और केवल निराकार रूप स्थापित अरिहंतकी अर्चा, स्तुति और जप करे।

पूजा आदि कैसी करनी चाहिये इसका वर्णन इस ग्रन्थकी ज्ञानदीपिका नामकी टीकामें देखना चाहिये। अथवा इसी ग्रन्थके छठे अध्यायके बावीसवें श्लोकमें वर्णित है वहांसे समझना चाहिये।

स्थापना दो प्रकारकी होती है—साकार और निराकार। साकार स्थापनामें अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपके द्वारा देवपूजा की जाती है और अनाकार स्थापनामें अभिषेकको छोड़कर तीन प्रकारसे देवकी उपासना की जाती है। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार देवकी उपासनामें तत्पर रहनेवाले व्यवहारसे सामायिक व्रतके धारण करनेवाले होते हैं।

अब—सामायिक दुष्कर है इस प्रकारकी शंकाका निराकरण करते हैं—

सामायिकं सुदुःसाधमप्यभ्यासेन साध्यते।
निम्नीकरोति वार्बिन्दुः किं नाश्मानं मुहुः पतन्॥ ३२॥

अन्वयार्थ—(सुदुःसाधं अपि) अत्यंत दुःसाध्य भी अर्थात् बड़ी कठिनतासे सिद्ध होनेवाला भी (सामायिकं) सामायिक व्रत (अभ्यासेन) अभ्यासके द्वारा (साध्यते) सिद्ध होजाता है ('यतः') क्योंकि ('यथा') जैसे कि (मुहुः) वारवार (पतन्) गिरनेवाली (वार्बिन्दुः) जलकी बूंद (किं) क्या (अश्मानं) पत्थरको (न निम्नी करोति) नीचा गड्ढा विशिष्ट नहीं कर देती है अर्थात् कर ही देती है।

भावार्थ—आकुलता सहित कठोर अन्तःकरणवाले संसारियोंके लिये यद्यपि सामायिकका धारण करना बहुत कठिन है, तौभी वह अभ्यासके द्वारा सिद्ध किया जासकता है। जैसे—पत्थरके ऊपर पुनः पुनः पड़नेवाली जलकी बूंद पत्थरमें भी गड्ढा कर देती है वैसे ही समताभावके पुनः पुनः किये गये अभ्याससे आत्मामें विषय और कषायोंकी मन्दता होकर सामायिक व्रतकी सिद्धि होती है। इस अभ्यासके माहात्म्यके विषयमें अन्य धर्मी ग्रन्थकारोंने भी कहा है कि—

अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति।
न हि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्राव्णि निम्नतामादधातीति॥

अर्थात्—अभ्याससे कर्मोंमें कुशलता आती है। क्योंकि पत्थरपर पड़नेवाली बूंद एकवारमें पत्थरमें निशान नहीं कर सकती है, किन्तु पुनः पुनः पड़नेसे ही निशान करती है।

अब—सामायिक व्रतके पांच अतीचारोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

पञ्चात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः।
कायवाङ्मनसां दुष्टप्रणिधानान्यनादरम्॥ ३३॥

अन्वयार्थ—('फलार्थी श्रावकः') सामायिकके फलको चाहनेवाला श्रावक (अत्रापि) दूसरे व्रतोंकी तरह इस सामायिक व्रतमें भी (स्मृतेः अनुपस्थापनं) चित्तको स्थिर नहीं रखना अथवा स्मृतिको भूल जाना (कायवाङ्मनसां) काय, वचन तथा मनकी (दुष्प्रणिधानानि) पापरूप अथवा पापकार्योंमें प्रवृति करना और (अनादरं) अनादर करना इन (पञ्चमलान्) पांच अती-चारोंको (उज्झेत्) छोड़े।

भावार्थ—सामायिक व्रतकी पूर्तिको चाहनेवाला व्रतिक श्रावक सामायिकके स्मृत्यनुपस्थापन, मन दुष्प्रणिधान, वचन दुष्ट प्रणिधान, काय दुष्प्रणिधान और अनादर इन पांच अतीचारोंको छोड़े।

स्मृत्यनुपस्थापन—चित्तकी एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थापन है। अथवा मैंने सामायिक किया है या नहीं किया है. मुझे सामायिक करना चाहिये या नहीं करना चाहिये, इस प्रकार चित्तकी अनेकाग्रताको भी स्मृत्यनुपस्थापन कहते हैं। यह अतीचार प्रमादकी प्रबलतासे होता है। क्योंकि व्रतानुष्ठानका स्मरण मोक्षमार्गके अनुष्ठानका मूल कारण है। इसलिये उसके स्मरणमें अन्तर आना आत्माको व्रतकी अन्तर्वृत्तिसे च्युत करना है। अतः स्मृत्यनुपस्थापन अतीचार बतलाया गया है।

कायदुष्प्रणिधान—सामायिक करते हुए भी शरीरसे सावद्य कर्ममें प्रवृत्त होना कायदुष्प्रणि-धान है। अर्थात् सामायिक करते समय हाथ पैर आदि शरीरके अवयवोंको स्थिर नहीं रखना काय-दुष्प्रणिधान है।

वचनदुष्प्रणिधान—सामायिक पाठ या सामायिक मन्त्रके उच्चारणके समय वर्णोंके संस्कारसे उत्पन्न होनेवाला अर्थबोध नहीं होना अथवा सामायिक व मन्त्रके पाठके उच्चारमें चपलताका होना वचनदुष्प्रणिधान नामका अतीचार है।

मनोदुष्ट प्रणिधान—सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, वैर, अभिमान, ईर्षा वगैरह मनो-विकारोंका उत्पन्न होना, कार्यके व्यासंगसे संभ्रम उत्पन्न होना मनोदुष्ट प्रणिधान है।

स्मृत्य उपस्थापन और मनोदुष्ट प्रणिधानमें यह अन्तर है कि सामायिकमें क्रोधादिकके आवेशसे चित्तका चिरकाल तक नहीं ठहरना स्मृत्यनुपस्थापन है और चिन्ताके कारण चित्तमें जो अनेकाग्रता रहती है वह मनोदुष्ट प्रणिधान है।

अनादर—सामायिकमें उत्साहका न रहना, निश्चित समयपर सामायिकका न करना अथवा यद्वातद्वा सामायिक करना या सामायिकके अनन्तर ही अतिशीघ्र भोजनादिकमें लग जाना अनादर नामका अतीचार है।

'अविधिपूर्वक किये गये सामायिककी अपेक्षा सामायिकका न करना अच्छा है' इस असूया-सूचक वचनको प्रमाण मानकर भंगकी संभावनासे सामायिकका नहीं करना अच्छा नहीं है, क्योंकि पूर्व संस्कारके विना यतियोंके भी आरम्भमें सामायिककी एकदेश विराधना होती है, किन्तु इतने

मात्रसे उनका सामायिक व्रत भंग नहीं समझा जाता है । इसी प्रकार सामायिक करते समय में मनसे कोई पाप नहीं करूंगा, इसप्रकार सब प्रकारके पापोंके त्यागमें भी उपर्युक्त अतीचारोंके कारण सामायिकके एकदेशका भंग होता है, सर्वथा सामायिक व्रतका अभाव नहीं होता है । इसलिये ये पांचों अतीचार हैं । इनके होते हुए सामायिकका सर्वथा भंग नहीं होता है । तथा अभ्याससे जब सामायिक निरतिचार होने लगे तब वह श्रावक तीसरी प्रतिमावाला होजायगा । इसलिये व्रतिकको अतीचारोंके परिहारके लिये प्रयत्न करते रहना उचित है ।

अब—प्रोपधोपवासका लक्षण बताते हैं—

स प्रोपधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् ।
साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (साम्यसंस्कारदार्ढ्याय) सामायिकके संस्कारको दृढ़ करनेके लिये (चतुष्पर्व्यां) चारों ही पर्व–तिथियोंमें (यथागमं) आगमके अनुसार (सदा) जीवनपर्यंत (चतुर्भुक्त्युज्झनं) चारों प्रकारके आहारका त्याग करना है (सः) वह (प्रोपधोपवासः) प्रोपधोपवास ('भवति') कहलाता है ।

भावार्थ—सामायिकके संस्कारोंको दृढ़ करनेके लिये अर्थात् परीषह और उपसर्गोंके आनेपर समताभावसे पतन न हो इस हेतुसे जो जीवनभरके लिये चारों ही पर्वोंमें शास्त्रानुसार चार प्रकारके आहारोंकी चार भुक्तियोंका त्याग किया जाता है उसे प्रोपधोपवास कहते हैं ।

एक दिनमें दो भुक्ति होती हैं यह शास्त्रसंमत मार्ग है । प्रोपधोपवास धारणा और पारणापूर्वक होता है । अतः प्रत्येक मासके चार पर्वोंमें प्रोपधोपवास करनेवाला सप्तमी और त्रयोदशीको प्रोषधोपवासकी धारणामें एक भुक्तिका त्याग करता है और एक भुक्तिका ग्रहण करता है । अष्टमी और चतुर्दशीके दिन दोनों ही भुक्तियोंका त्याग करता है । और नवमी तथा पूर्णिमाको पारणा करते हुए एक ही भुक्तिका ग्रहण करता है और एक भुक्तिका त्याग करता है । इस प्रकार असन, स्वाद्य, खाद्य और पेय इन चारों प्रकारके आहारोंकी चतुर्भुक्तियोंके त्यागको प्रोपधोपवास कहते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रोपधोपवासके करनेसे परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेका अभ्यास होता है और उससे समताभावका उत्कर्ष तथा दृढ़ीकरण होता है ।

अब—पहले पद्यके द्वारा उत्तम प्रोपधोपवासका वर्णन करके इस पद्यके द्वारा मध्यम और जघन्य प्रोपधोपवास विधानका उपदेश करते हैं—

उपवासक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः ।
आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(उपवासाक्षमैः) जो श्रावक उपवासको करनेमें असमर्थ हैं उनको (अनुपवासः) जलको छोड़कर चारों प्रकारके आहारका त्याग (कार्यः) करना चाहिये और (तदक्षमैः) जो अनुपवासको भी करनेमें असमर्थ हैं उनको (अचाम्लनिर्विकृत्यादि) आचाम्ल तथा निर्विकृति आदिरूप आहार ('कार्य') करना चाहिये (हि) क्योंकि (शक्त्या) शक्तिके अनुसार किया गया ही (तपः) तप (श्रेयसे) कल्याणके लिये ('भवति') होता है।

भावार्थ—ऊपर कही हुई विधिके अनुसार जो उपवास करनेमें असमर्थ हैं उन्हें अनुपवास करना चाहिये। और जो अनुपवास करनेमें भी असमर्थ हैं उन्हें आचाम्ल निर्विकृति भोजन करना चाहिये। क्योंकि प्रोषधोपवास तप है और वह अपनी शक्तिके अनुसार किया गया ही कल्याणकारी होता है।

अनुपवास—प्रोषधोपवास व्रतमें जल रखकर शेष आहारोंका त्याग करना अनुपवास कहलाता है।

आचाम्लाहार—कांजी सहित केवल भातके भोजनको आचाम्लाहार कहते हैं।

निर्विकृति आहार—विकृति शब्दका अर्थ गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस है, क्योंकि जिसके आहार जिह्वा और मनमें विकार पैदा हो उसे विकृति कहते हैं। अतः उपर्युक्त चारों प्रकारके रस विकृति कहलाते हैं। घी, दूध आदि गोरस हैं। शक्कर, गुड़ आदि इक्षुरस हैं। द्राक्ष, आम आदिके रसको फलरस कहते हैं और तेल, मांड़ आदिको धान्यरस कहते हैं।

अथवा जिसको मिलाकर भोजन करनेसे भोजनमें स्वाद आता है उसको विकृति कहते हैं और इसप्रकारकी विकृतिरहित भोजनके करनेको निर्विकृति-आहार कहते हैं। आचाम्ल निर्विकृत्यादि पदमें जो आदि शब्द आया है उससे एक स्थानपर बैठकर ही भोजनपान करनेका अथवा रस छोड़कर भोजन करने आदिका ग्रहण किया है।

अब—आगेके चार पद्योंद्वारा आगमानुकूल प्रोषधोपवासकी विधिको बताते हैं—

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे भुक्त्वाऽतिथ्याशितोत्तरम्।
लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः॥ ३६॥
धर्मध्यानपरो नीत्वा दिनं कृत्वाऽऽपराह्णिकम्।
नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे॥ ३७॥

अन्वयार्थ—('प्रोषधोपवासी') प्रोषधोपवास व्रतको पालन करनेवाला श्रावक (पर्वपूर्वदिनस्य) पर्वके पहलेके दिनके (अर्धे) आधे भागमें अर्थात् मध्याह्न अथवा कुछ कम ज्यादह कालमें (अतिथ्यशितोत्तरं) अतिथिको भोजन करानेके अनन्तर (भुक्त्वा) स्वयं भोजन करके (यतिवत्) मुनिके समान (उपवासं) उपवासको (लात्वा) स्वीकार करके (विविक्तवसतिं) निर्जन स्थानका (श्रितः) आश्रय करके अर्थात् निर्जन स्थानमें रहकरके (धर्मध्यानपरः) धर्मध्यानमें तत्पर होता हुआ (दिनं)

दिनको (नीत्वा) विता करके और (अपराह्णिकं) सन्ध्याकालमें होनेवाले सन्ध्यावन्दन आदि सम्पूर्ण कर्मोंको (कृत्वा) करके (स्वाध्यायरतः 'सन्') स्वाध्यायमें लीन होता हुआ (प्रासुकसंस्तरे) प्रासुक विछोनेमें (त्रियामां) रात्रिको (नयेत्) वितावे।

भावार्थ—पर्वके पूर्व दिनके मध्याह्नकालमें अतिथियोंके आहार देनेका जो समय है, उससमय अतिथियोंको दान देकर और स्वयं विधिपूर्वक भोजन करके यति जिसप्रकार भोजनके अनन्तर, यदि उन्हें अगले दिन उपवास करना हो तो वे उपवास करनेका व्रत लेते हैं, उसी प्रकार भोजनान्तर यह भी उपवास ग्रहण करे तथा आचार्यके पास जाकर ली हुई उपवासकी प्रतिज्ञाको प्रगट करे। उसको उपवासकी प्रतिज्ञा लेनेके अनन्तर सावद्य व्यापारोंका, शरीर संस्कारका और अब्रह्मका त्याग कर देना चाहिये। तथा अयोग्य जन रहित और प्रासुक एकान्त स्थानका आश्रय करे। और वहांपर चार प्रकार-के धर्मध्यानमें लीन होता हुआ संध्याकालको व्यतीत करे। यहां पर 'धर्मध्यानपरः' में जो पर शब्द आया है उससे यह सूचित होता है कि यदि धर्मध्यानमें चित्त न लगता हो तो स्वाध्याय और वारह भावनाओंका चिन्तवन करे। अनन्त संध्याकाल सम्बन्धी सब कृतिकर्म करके जन्तुरहित तृण्णा-दिकसे बने हुए प्रासूक संस्तर अर्थात् चटाई आदि पर स्वाध्याय करते हुए निद्रा और आलस्यको छोड़कर रात्रि व्यतीत करे।

ततः प्राभातिकं कुर्यात्तद्वद्यामान् दशोत्तरान्।
नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) विधिपूर्वक छह प्रहरोंको वितानेके अनन्तर (प्राभातिकं) प्रभात कालमें होनेवाले सम्पूर्ण आवश्यकादिक कर्मोंको (कुर्यात्) करे (च) और (पुनः) फिर (ततः) इसके अनन्तर (तद्वत्) पूर्वोक्त छह प्रहरोंके समान (उत्तरान्) आगेके (दश यामान्) दश प्रहरोंको (नीत्वा) विता करके (अतिथिं भोजयित्वा) अतिथिको भोजन करानेके अनन्तर (अलौल्यतः) भोजनमें आसक्तिको छोड़ करके (सकृत्) एकवार (भुञ्जीत) भोजन करे।

भावार्थ—पर्वके दिन प्रातःकाल उठकर प्रातःकाल सम्बन्धी सब आवश्यक कर्म करे और धारणके दिन सम्बन्धी छह प्रहरके कृति—कर्मके समान शेष दस प्रहरमें भी कृतिकर्म करता हुआ व्यतीत करे। अनन्तर पारणाके दिन आसक्तिको छोड़कर अतिथिदान देकर भोजन करे।

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत्।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(उपवसन्) उपवासको करनेवाला श्रावक (भावमय्या) भावमयी (वा) अथवा (प्रासुकद्रव्यमय्या) प्रासुक द्रव्यमयी (पूजया एव) पूजाके द्वारा ही (पूज्यान्) देव शास्त्र और गुरुकी (पूजयेत्) पूजा करे तथा (रागाङ्गं) रागके कारणोंको (दूरं उत्सृजेत्) दूरसे ही छोड़े।

भावार्थ—उपवासके दिन उपवास करनेवाला भावपूजा करे अथवा प्रासुक द्रव्यसे पूजन करे। और इन्द्रिय और मनकी लोलुपता बढ़ानेवाले गीत, नृत्यादि रागवर्द्धक साधनोंका त्याग करे। देव, शास्त्र और गुरुकी भक्तिपूर्वक उनके गुणोंका स्मरण करना भावपूजा है। और यह भावपूजा प्रोषधोपवासीके सामायिकमें निरत रहनेके कारण सहज–सिद्ध है। क्योंकि द्रव्यपूजाका भी साध्य (फल) भावपूजा है, परन्तु जो इसमें असमर्थ हैं उन्हें प्रासुक अक्षतादिके द्वारा द्रव्यपूजा करनी चाहिये।

अब—आगे प्रोषधोपवासके पांच अतीचारोंको बताते हैं—

ग्रहणास्तरणोत्सर्गाननवेक्षाप्रमार्जनान्।
अनादरमैनकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रते ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकः') नैष्ठिक श्रावक (इहव्रते) इस प्रोषधोपवास नामक व्रतमें (अनवेक्षा प्रमार्जनान्) नहीं है चक्षुके द्वारा देखना तथा कोमल उपकरणके द्वारा साफ करना जिनमें, ऐसे उपकरणादिकके (ग्रहणास्तरणोत्सर्गान्) ग्रहण करनेको, बिछौनाके बिछानेको, मलमूत्रादिकके त्याग करनेको (अनादरं) अनादरको (अपि) और (अनैकाग्र्यं) अनैकाग्र्यको–अन्यमनस्कपनेको (जह्यात्) छोड़े।

भावार्थ—अनवेक्षा प्रमार्जन ग्रहण, अनवेक्षा प्रमार्जनास्तरण, अनवेक्षा प्रमार्जितोत्सर्ग, अनादर और अनैकाग्र्य पोषधोपवासके इन पांच अतीचारोंको भी छोड़े।

अनवेक्षा प्रमार्जन ग्रहण—जन्तु है कि नहीं इसप्रकार चक्षुके द्वारा अवलोकन करनेको अवेक्षा करते हैं। और कोमल उपकरणसे स्थानादिकके शोधनेको प्रमार्जन कहते हैं। तथा इस प्रकारसे देखकर और शोधकर पूजाके उपकरण और स्वाध्यायके लिये शास्त्र आदिके नहीं ग्रहण करनेको अनवेक्षा प्रमार्जन ग्रहण नामका अतीचार कहते हैं। उपलक्षण विना देखे और विना शोधे हुए उनको रखना भी अतीचार होता है। इसीप्रकार आस्तरण अर्थात् बिछौना आदिका विना देखे और विना शोधे बिछाना धरना सो अनवेक्ष प्रमार्जनास्तरण नामका अतीचार है। और विना देखे और विना शोधे किसी जगह पर मल मूत्रादिकका विसर्जन करना सो अनवेक्षा प्रमार्जनोत्सर्ग नामका अतीचार है। यहां पर नहीं देखना और नहीं शोधना तो अविधि है और यद्वा तद्वा देखना और यद्वा तद्वा शोधना अतीचार है। यह भाव अनवेक्ष और अप्रमार्जन शब्दोंमें कुत्सा अर्थमें नञ् समासके करनेसे निकलता है। जैसे कि अब्राह्मण पदमें किये गये नञ् समासका अर्थ ब्राह्मणका अभाव नहीं किंतु कुत्सित ब्राह्मण है। वैसे ही अनवेक्ष और अप्रमार्जन शब्दमें भी कुत्सित रीतिसे देखना और शोधना अतीचार है। बिल्कुल नहीं देखना और बिल्कुल नहीं शोधना अतीचार नहीं किन्तु अनाचार है।

अनादर—क्षुधादिककी वेदनासे प्रोषधोपवास व्रतमें अथवा अन्य आवश्यक कर्ममें उत्साहका न होना अनादर नामका अतीचार है।

अनैकाग्र्य—क्षुधादि वेदनाके कारण प्रोषधोपवास व्रतमें व अन्य आवश्यक कर्ममें चित्तका एकाग्र न रहना अनैकाग्र्य नामका अतीचार है।

अब—आगे अतिथिसंविभाग व्रतका स्वरूप बताते हैं—

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय॥ ४१॥

अन्वयार्थ—('यत्') जो (दातृविशेषस्य) विशेष दाताका (फलविशेषाय) विशेष फलके लिये (विधिविशेषेण) विशेष विधिके द्वारा (पात्रविशेषाय) विशेष पात्रके लिये (द्रव्यविशेषवितरणं) विशेष द्रव्यका दान करना है वह (अतिथिसंविभागः) अतिथिसंविभाग (व्रतं) व्रत ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—अतिथिसंविभाग व्रतके श्रावकके लिए प्रतिपादन करनेका यहां यह प्रयोजन है कि उसको अपने भोजनके पहले अतिथिकी प्रतीक्षा करनी ही चाहिए, इससे उसको अतिथिके न मिलनेपर दानके फलमें बाधा नहीं आती किन्तु वह दानके फलका अधिकारी भावनाके बलसे होजाता है। संविभागमें, 'सं' इस शब्दसे निर्दोष और निर्बाध तथा 'वि' भाग, इस शब्दसे अपने लिए बनाए हुए भोजनके अंशका अतिथिके लिए हिस्सा रखना, सो अतिथिसंविभाग कहलाता है। सुयोग्य अतिथिके लिए, सुयोग्य दाता द्वारा योग्य द्रव्यके देनेसे विशेष फलकी प्राप्ति होती है, इसका खुलासा ग्रंथकारने आगेके पद्योंसे स्वयं किया है।

अब—निरुक्तिपूर्वक अतिथिका स्वरूप बताते हैं—

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम्।
यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः॥ ४२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय) ज्ञानादिककी सिद्धि है प्रयोजन जिसका ऐसा जो शरीर, उस शरीरकी स्थिति है प्रयोजन जिसका ऐसा जो अन्न, उस अन्नके लिये (स्वयं) विना बुलाये (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक अर्थात् संयमकी विराधना नहीं करके (गेहं) दातारके घरको (अतति) जाता है (सः) वह (अतिथिः) अतिथि ('भवति') कहलाता है (वा) अथवा (यस्य) जिसके (तिथिः न) तिथि पर्व आदि किसीका भी विचार न हो (सः) वह (अतिथिः) अतिथि ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—अपने संयमको संभालते हुए, किसीके विना बुलाये ज्ञानादिकी सिद्धिके उपायभूत जो शरीरकी रक्षा है उसके लिये (न कि शरीरकी ममताके लिए) जो शास्त्रविहित आहारकी

आवश्यक्ता है, उसके लिए जो श्रावकके घरको यत्नाचार सहित गमन करता है उसको अतिथि कहते हैं।

अथवा अतिथि शब्दका दूसरा यह भी अर्थ है कि तिथि, और तिथिके उपलक्षणसे पर्व दिवस और उत्सवदिवसका भी ग्रहण करना चाहिये। वे जिसके नहीं है वह अतिथि हैं। कहा भी है कि—

"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥"

अर्थात् गृहस्थाश्रममें माने जानेवाली तिथियां, अष्टमी आदि पर्व, दिवाली आदि उत्सव दिनोंका जिस महात्माने त्याग किया है अर्थात् सब तिथियां जिसके सरीखी हैं उसे अतिथि कहते हैं। और शेष व्यक्तियोंको अभ्यागत कहते हैं।

अब—पात्रके स्वरूप और भेदोंको बताते हैं—

यत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान्यानपात्रवत्।
मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात्पात्रं त्रिधा मतम्॥ ४३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (यानपात्रवत्) जहाजकी तरह (स्वाश्रितान्) अपने आश्रित प्राणियोंको (जन्माब्धेः) संसाररूपी समुद्रसे (तारयति) पार कर देता है ('तत्' पात्रं) वह पात्र ('भवति') कहलाता है और ('तत्' पात्रं) वह पात्र (मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात्) मोक्षके कारणभूत अथवा मोक्ष ही है प्रयोजन जिनका ऐसे सम्यग्दर्शनादिक गुणोंके सम्बन्धके भेदसे (त्रिधा) तीन प्रकारका (मतं) मानागया है।

भावार्थ—जैसे जहाज अपने आश्रितोंको समुद्रसे तार देता है वैसे ही जो दानके कर्ता, दानके प्रेरणा करनेवाले और दानकी अनुमोदना करनेवालोंको संसार-समुद्रसे पार करनेमें आदर्श है उसे 'पात्र' कहते हैं, वह पात्र मोक्षके लिए आवश्यक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणोंके संयोगके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। अर्थात् उत्तम मध्यम और जघन्य पात्र इस प्रकारसे पात्रके तीन भेद माने हैं।

अब—आगे उक्त कथनका खुलासा करते हैं—

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम्।
सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः॥ ४४॥

अन्वयार्थ—(यतिः) मुनि (उत्तमं पात्रं) उत्तम पात्र (स्यात्) कहलाता है (श्रावकः) श्रावक (मध्यमं पात्रं) मध्यम पात्र (स्यात्) कहलाता है तथा (सुदृष्टिः) असंयत सम्यग्दृष्टी जीव (अधमं पात्रं) जघन्य पात्र (स्यात्) कहलाता है (विशिष्टगुणयोगतः) विशेष गुणोंके सम्बन्धसे ही (तद्विशिष्टत्वं) इन उत्तमादि पात्रोंका परस्परमें या दूसरोंसे भेद (स्यात्) होता है।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इन तीनोंमें परस्परमें जो विशेषता है वह सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिविशेषके कारण हैं। अर्थात् मुनियोंमें महाव्रत सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। श्रावकोंमें देशव्रत सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा सम्यग्दृष्टियोंमें व्रत रहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसलिये उत्तम मध्यम और जघन्यपात्र कहलाते हैं। यही इनमें परस्परमें विशेषता है। तथा ये तीनों ही पात्र अपात्रोंकी अपेक्षा भी विशेषता रखते हैं अर्थात् अपात्र तारक नहीं होता है और ये पात्र तारक हैं।

अब—दानकी विधिके प्रकार और विशेषताको बताते हैं—

प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रिक्षालनार्चानतीर्विदुः।
योगान्नशुद्धीश्च विधीन् नवादरविशेषितान्॥ ४५॥

अन्वयार्थ—('पूर्वाचार्याः') पूर्वाचार्य (आदरविशेषितान्) यथायोग्य विनयके द्वारा विशेषताको प्राप्त हुये (प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रिक्षालनार्चानतीः) प्रतिगृह, उच्च स्थान, अंघ्रिक्षालन, अर्चा, आनती (च) और (योगान्नशुद्धीः) मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा अन्नशुद्धि इन (नव विधीन्) दानके नौ प्रकारोंको (विदुः) जानते हैं।

भावार्थ—विशेष आदरपूर्वक नवधाभक्तिसे जो पात्रके लिए आहार दिया जाता है उसे विधिविशेष कहते हैं।

प्रतिग्रह, उच्च स्थान, अंघ्रिक्षालन, अर्चा, आनति, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा अन्नशुद्धि यह पात्रको आहार देते समय नौ प्रकारकी विधि होती है। जब पात्र अपने द्वारपर आवे तब भक्तिपूर्वक प्रार्थना करे कि भो गुरो! मुझपर प्रसाद कीजिए, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए, इस प्रकारसे आहारके लिए पात्रका स्वागत करके स्वीकार करना 'प्रतिग्रह' कहलाता है और जब पात्र अपने यहां भोजन ग्रहण करना स्वीकार करले, तब पात्रको अपने घरके भीतर लेजाकर निर्दोष, निर्बाध उच्च स्थानपर (पाटपर) बैठालनेका नाम "उच्च स्थान" है, फिर उनके भक्तिपूर्वक पैर धोनेका नाम "अंघ्रिक्षालन" है। अनन्तर गंध अक्षतादिकसे पूजन करनेका नाम "अर्चा" है। अनन्तर पञ्चांग नमस्कार करनेका नाम "आनति" है। आहार देते समय मन, वचन और कायकी प्रसन्नताका नाम यहांपर "मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि है" अर्थात् आर्तरौद्र ध्यानरहित अवस्थाको 'मनशुद्धि', परुष कर्कश आदि वचन नहीं बोलनेको 'वचनशुद्धि.' शरीरसे संवृत आचार करनेका नाम 'कायशुद्धि' है। यत्नपूर्वक शोधकर पिंडशुद्धि' नामके अनगार धर्मामृतमें कहे गए १४ पिंड सम्बन्धी दोषोंसे रहित आहारका नाम "अन्नशुद्धि" है। इसप्रकारसे प्रतिग्रह आदि ५; मन, वचन, कायशुद्धि ३ और अन्नशुद्धि १, आहार देनेकी ये नव विधि हैं। इनमें जितनी आदर और भक्ति अधिक होगी वह सब विधिविशेष कहलाती है।

अब—आगे देनेयोग्य द्रव्यकी विशेषताको बताते हैं—

पिण्डशुद्ध्युक्तमन्नादिद्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु।
रागाद्यकारकत्वेन रत्नत्रयचयाङ्गता ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(पिण्डशुद्ध्युक्तं) पिण्डशुद्धि नामक अनगार धर्मामृतके पञ्चम अध्यायमें कहा गया (अन्नादि) आहार वगैरह (द्रव्यं) देनेयोग्य द्रव्य ('भवति') कहलाता है (तु) और (रागाद्यकारकत्वेन) रागद्वेष आदिको उत्पन्न करनेवाला नहीं होनेसे (रत्नत्रयचयाङ्गता) रत्नत्रयकी वृद्धिका कारणपना (अस्य) इस देनेयोग्य द्रव्यकी (वैशिष्ट्यं) विशेषता ('भवति') कहलाती है।

भावार्थ—अनगारधर्मामृतके पांचवें अध्यायके पिंडशुद्धि अधिकारमें बताए हुए १४ दोषरहित आहार औषध आवास पुस्तक आदि द्रव्य पात्रके लिये देय पदार्थ हैं। और वे देय पदार्थ पात्रके लिये राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःखादिकका कारण न हो, किंतु रत्नत्रयकी वृद्धिमें कारण हो यह देय द्रव्यकी विशेषता है।

अब—दाताका लक्षण और उसके विशेष गुणोंको बताते हैं—

नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः।
भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानालौल्यक्षमागुणः ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानालौल्यक्षमागुणः) भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात हैं। असाधारण गुण जिसके ऐसा (यः) जो श्रावक (नवकोटीविशुद्धस्य) मन, वचन, काय तथा कृत कारित अनुमोदना इन नो कोटियोंके द्वारा विशुद्ध (दानस्य) दानका–देनेयोग्य द्रव्यका (पतिः) स्वामी ('भवति') होता है ('सः') वह (दाता) दाता ('भण्यते') कहलाता है।

भावार्थ—मन वचन और काय तथा इनको कृत कारित और अनुमोदनासे गुणा करने पर जो नौ विकल्प होते हैं उनको नव कोटि कहते हैं। इस नवकोटिकी विशुद्धता जिस दानमें हो उसे नवकोटि विशुद्ध दान कहते हैं। उस दानके प्रयोग करनेवालेको दाता कहते हैं। नवकोटि विशुद्ध शब्दका दूसरा अर्थ यह भी है कि—

देयशुद्धि और उसके लिये आवश्यक दाता तथा पात्रकी शुद्धि ये ३, दाताकी शुद्धि और उसके लिये आवश्यक जो देय और पात्रकी शुद्धि ये तीन तथा पात्र शुद्धि और उसके लिये उपयोगी पड़नेवाली जो देय और दाताकी शुद्धि ये ३, इस प्रकारसे भी नवकोटि विशुद्ध दान कहलाता है। इस नवकोटिसे विशुद्ध दानका जो पति है अर्थात् प्रयोग करनेवाला है उसे दाता कहते हैं। और वह दाता भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा गुणवाला होना चाहिये।

१—पात्रगत गुणके अनुरागको भक्तिगुण कहते हैं।

२—पात्रको दिये गये दानके फलमें प्रतीति रखनेको श्रद्धा कहते हैं।

३—"सत्त्व" मनका वह गुण है जिससे कि दाता अल्प धनवाला होकर भी बड़े २ धनाढ्योंको भी अपनी दानवृत्तिसे आश्चर्यमें डालता है।

४—देते समय अथवा दिये जाने पर जो हर्ष होता है उसे तुष्टि कहते हैं।

५—देनेयोग्य द्रव्यादिककी जानकारी रखनेको ज्ञान कहते हैं।

६—दुर्निवार क्रोधादिकके कारण होने पर भी क्रोध न करना क्षमा कहलाती है।

७—सांसारिक फलकी इच्छाका न रखना 'अलौल्य' कहलाता है।

तदुक्तं—भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं संविज्ञानमलौल्यकम्।
सात्त्विकं क्षमकं सन्तो दातारं सप्तधा विदुः॥

सज्जन भाक्तिक, तौष्टिक, श्राद्ध, संविज्ञानी, अलौल्यक, सात्त्विक, क्षमकके भेदसे दाताको सात प्रकारसे जानते हैं अर्थात् कहते हैं। तथा सत्वादि गुणवाले दाता जिन दानोंमें पाए जाते हैं, उन दानोंको सात्विक, राजस और तामस दान कहते हैं।

तदुक्तं यथा—

सात्विक दान।

आतिथेयं हितं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम्।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः॥

जिस दानमें अतिथिके हितका विचार किया जाता, पात्रके गुणोंकी यथार्थ परीक्षा होती है, श्रद्धा आदि सात दाताके गुण पाए जाते हैं वह सात्त्विक दान है।

राजस दान।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम्।
परप्रत्ययसम्भूतं दानं तद्राजसं मतम्॥

दान देते समय जिसमें अपने वर्णनकी ही प्रमुखता रहती है, क्षणभरके लिए अर्थात् दान देते समय ही आहार देनेयोग्य क्षमासत्वादि गुणोंकी दिखावट रहती है और जिस दानकी वृत्ति पर प्रत्ययसे अर्थात् पर निमित्तसे पाई जाती है वह दान राजस दान है।

तामस दान।

पात्रापात्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतम्।
दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे॥

जिस दानमें पात्रको अपात्र समझा जाता है, सत्काररहित प्रशंसनीय नहीं है। जिसमें दास भृत्यके द्वारा उद्योग किया जाता है उस दानको तामस दान कहते हैं।

इसप्रकारसे भी दानके उत्तम मध्यम और जघन्य भेद होते हैं।

उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत्।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः॥

इन तीनों दानोंमें सात्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सबसे जघन्य है।

अब—आगे दानका फल और उसकी विशेषताको बताते हैं—

रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तुर्दातुः पुण्योच्चयः फलम्।
मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयप्रदत्वं तद्विशिष्टता॥ ४८॥

अन्वयार्थ—(भोक्तुः) भोक्ताके अर्थात् आहार आदि पदार्थोंका उपभोग करनेवाले मुनिके (रत्नत्रयोच्छ्रयः) रत्नत्रयकी वृद्धि होना और (दातुः) दान देनेवाले श्रावकके (पुण्योच्चयः) पुण्यके समूहकी प्राप्ति होना अर्थात् बहुत पुण्याश्रवका होना (फलं) दानका फल है तथा (मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयप्रदत्वं) मोक्ष है अन्तमें जिनके ऐसे नानाप्रकारके और संसारमें आश्चर्यको करनेवाले इन्द्रादिक पदस्वरूप अभ्युदयोंको देना ही (तद्विशिष्टता) दानके फलकी विशेषता है।

दानका फल दाता और पात्र दोनोंकी ही अपेक्षासे शास्त्रोंमें वर्णित है। दाताको दानके प्रतापसे पुण्यराशिकी प्राप्ति होती है और आहारादि दानके ग्रहण करनेवाले पात्रोंकी अपेक्षा रत्नत्रयकी उन्नति दानका फल है। अर्थात् दानके निमित्तसे मोक्षमार्गस्थ साधुओंकी शरीरकी स्थिति रहती है और उसके कारणसे वे अपनी आत्मविशुद्धि करके रत्नत्रयका पूर्ण विकास करते हैं।

भोगभूमित्व, देवत्व, चक्रवर्तित्व, पारिव्राज्य आदि लोगोंको विस्मयमें डालनेवाले अभ्युदय और अन्तमें निर्वाणपदकी प्राप्ति, यह सब दानके फलकी विशेषता है। दानका मुख्य फल अन्तमें मोक्षप्राप्ति और उसके पहले विश्वमें आश्चर्य पैदा करनेवाले अभ्युदय हैं।

तदुक्तम्—पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षः सस्यं कृषेरिव।
पलालमिव भोगास्तु फलं स्यादानुषङ्गिकम्॥

अर्थ—जैसे कृषिका असली फल धान्यप्राप्ति है और आनुषङ्गिक फल उसका भूसा आदि है उसी प्रकार पात्रदानका भी मुख्य फल मोक्षप्राप्ति है और स्वर्गादिके भोग यह सब आनुषङ्गिक फल है।

अब—मुनिदानके प्रभावसे घरके आरम्भसे पैदा हुये सब पापोंका प्रक्षालन होजाता है यह बताते हैं—

पञ्चसूनापरः पापं गृहस्थः सञ्चिनोति यत्।
तदपि क्षालयत्येव मुनिदानविधानतः॥ ४९॥

अन्वयार्थ—(पञ्चसूनापरः) पांच सूना हैं प्रधान जिसके ऐसा ('यः') जो (गृहस्थः) गृहस्थ (यत् पापं) जिन पापोंको (सञ्चिनोति) सञ्चित करता है (तदपि) उन सब पापोंको भी ('सः') वह गृहस्थ (मुनिदानविधानतः) मुनियोंके लिये विधिपूर्वक दान देनेसे (क्षालयत्येव) अवश्य धो डालता है अर्थात् नष्ट करदेता है।

भावार्थ—पीसना, कूटना, चौकाचूली करना, पानीकी घिनोची वगैरकी सफाई करना और घर-

द्वारको झाड़ना बुहारना इनको गृहस्थोंकी पंचसूना क्रिया कहते हैं । ये पांच तो प्रधानतासे गृहस्थोंके पाई जाती हैं और गौणतासे दूसरी आरम्भकी क्रियाएं भी पाई जाती हैं उनका ग्रहण इन "पंचसूना" क्रियाओंमें समझना चाहिए । इन हिंसात्मक क्रियाओंमें सदैव प्रवृत्त रहनेवाला गृहस्थ जो पापसंचय करता है वह सब और दूसरे भी व्यापारादिजनित पाप अतिथि दानके प्रभावसे प्रक्षालित (दूर) होजाते हैं। 'तदपि' इस पदमें जो 'अपि' शब्द आया है वह विस्मय और समुच्चय दोनों अर्थका वाचक है।

विस्मयार्थ—आश्चर्य यह है कि केवल मुनिदानके प्रभावसे गृहस्थके आरम्भजनित सब पापोंका नाश होता है ! और 'अपि' शब्दका समुच्चयार्थ यह है कि आरम्भजनित पापोंका भी नाश होता है और अन्य व्यापारादिजनित भी पापोंका नाश होता है ।

अब—आगे दानके करनेवाले, करानेवाले और अनुमोदना करानेवालेको कैसे कैसे अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है यह बताते हैं—

यत्कर्ता किल वज्रजङ्घनृपतिर्यत्कारयित्री सती
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवरव्याघ्रादयो यत्फलम् ।
आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्याप्तोपदेशाब्दक-
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(यत् किल) आगममें इसप्रकार सुना जाता है कि (मुनिदानतः) मुनियोंके लिये दान देनेसे (कर्ता) स्वदानको करनेवाला (वज्रजङ्घनृपतिः) वज्रजङ्घ नामका राजा (यत् फलं) जिस फलको ('आससाद') प्राप्त हुआ था (अपि) और (कारयित्री) दानको करानेवाली (श्रीमती) श्रीमती नामकी (सती) सती (यत्फलं) जिस फलको ('आससाद') प्राप्त हुई थी (अपि') तथा (अनुमोदकाः) दानकी अनुमोदना करनेवाले (मतिवरव्याघ्रादयः) मतिवर मन्त्री और व्याघ्र आदिक (यत् फलं) जिस फलको (आसेदुः) प्राप्त हुये थे (तत्) वह मुनियोंको दान देने आदिका फल (अधुना अपि) इस समय भी (आप्तोपदेशाब्दकव्यक्तं 'सत्') आप्तके उपदेश रूपी दर्पणके द्वारा व्यक्त होता हुआ—प्रतीतिका विषयभूत होता हुआ (कस्य भव्यात्मनः) किस भव्य जीवके (चेतसि) हृदयमें (चमत्कारं) आश्चर्यको (न करोति) नहीं करता है अर्थात् सब हीके हृदयमें आश्चर्यको करता है ।

भावार्थ—'उत्पल–खेट' नगरके राजा वज्रजंघने दान देकर, पुण्डरीकिणी नगरीके वज्रदंत चक्रवर्तीकी पुत्री और उक्त वज्रजंघ राजाकी रानी श्रीमतीने दानकी प्रेरणा करके और दान देते समय उपस्थित मतिवर नामक मन्त्री, आनंद नामक पुरोहित, अकंपन नामके सेनापति, धनमित्र नामक सेठ तथा व्याघ्र, शूकर, वानर और नकुल इन पुरुष और तिर्यंचोंने दानकी अनुमोदना करके जो फल पाया है, जोकि आगमरूपी दर्पणके द्वारा आज भी जगजाहिर है वह दानका फल किस भव्य आत्माके चित्तमें चमत्कार (आश्चर्य) पैदा नहीं करता ?

अब—आगेके दो पद्योंसे अतिथिकी प्रतीक्षा कैसी करनी चाहिये यह बताते हैं—

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तुमुद्युक्तोऽतिथये ददे ।
स्वार्थं कृतं भक्तमिति ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(‘अतिथिसंविभागव्रती’) अतिथिसंविभागव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (माध्याह्निकं) मध्याह्नकालमें होनेवाले स्नान आदि सम्पूर्ण कर्मोंको (कृत्वा) करके (भोक्तुं) भोजन करनेके लिये (उद्युक्तः) उद्यत होता हुआ-तत्पर होता हुआ (‘अतिथिसंविभागव्रती’) अतिथिसंविभागव्रतको पालन करनेवाला श्रावक (स्वार्थं) अपने लिये (कृतं) बनाये गये (भक्तं) आहारको-भोजनको (‘अहं’) मैं (अतिथये) अतिथिके लिये (ददे) दूं (इति) इसप्रकार (ध्यायन्) चिन्तवन करता हुआ (अतिथिं) अतिथिको (ईक्षतां) देखे अर्थात् अतिथिकी प्रतीक्षा करे ।

भावार्थ—मध्याह्न सम्बन्धी देवपूजा वगैरह करके भोजनके विचारमें तत्पर गृहस्थ अपने लिए तैयार किया हुआ भोजन पात्रदानके लिये यदि कोई अतिथिकी प्राप्ति होजाय तो उसको देदूं इसप्रकार मनमें ध्यान धरता हुआ अतिथिकी प्रतीक्षा करे ।

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरन्ति ये ।
ते धन्या इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यतः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(अतिथ्यन्वेषणोद्यतः) अतिथिकी खोज करनेमें तत्पर हुआ श्रावक (ये) जो गृहस्थ (अर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु) ढाईद्वीपमें (पात्रेभ्यो) पात्रोंके लिये (वितरन्ति) विधिके अनुसार दान देते हैं (ते) वे गृहस्थ (धन्याः) धन्य हैं—पुण्यवान हैं (इति च) इस प्रकारका भी (ध्यायेत्) चिन्तवन करे ।

भावार्थ—अतिथिकी प्रतीक्षा करते समय मनमें यह भी चिन्तवन करे कि “अढाई द्वीपके अन्दर सत्पात्रोंके लिये जो दाता दान देते हैं वे धन्य हैं, पुण्यवान हैं ।”

अब—आगे नैष्ठिक श्रावक, हिंसाका कारण होनेसे तथा सम्यक्त्वका उपघातक होनेसे ग्रहण या संक्रांति आदिके समयपर भूमि आदिका दान नहीं दे सकता यह बताते हैं—

हिंसार्थत्वान्न भूगेहलोहगोऽश्वादि नैष्ठिकः ।
दद्यान्न ग्रहसङ्क्रान्तिश्राद्धादौ च सुदृग्द्रुहि ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(नैष्ठिकः) नैष्ठिक श्रावक (हिंसार्थत्वात्) प्राणियोंकी हिंसामें निमित्त होनेसे (भूगेहलोहगोऽश्वादि) भूमि, घर, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा वगैरह हैं आदिमें जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण, अन्न आदि पदार्थोंको (न दद्यात्) नहीं देवे (च) और (सुदृग्द्रुहि) जिनको पर्व माननेसे सम्यक्त्वका घात होता है ऐसे (ग्रहसंक्रांतिश्राद्धादौ) ग्रहण, संक्रांति तथा श्राद्ध वगैरहमें (‘स्वद्रव्यं’) अपने द्रव्यको (न दद्यात्) नहीं देवे।

भावार्थ—अन्य मतावलंबियोंने ऐसी कल्पना की है कि चन्द्र और सूर्यके ऊपर ग्रहण पड़नेसे संकट आता है। शनिवारके दिन जोषियोंको दान देनेसे शनिका अरिष्ट दूर होजाता है। जन्मकुण्डलीमें जो घात वार हो उस दिन दान देनेसे घातका अरिष्ट दूर होजाता है। ब्राह्मणोंको भूमि आदिक जैसा दान दिया जायगा परभवमें वैसी संपत्ति आदि प्राप्त होती है। तीर्थविशेषमें पिण्डदान करनेसे पिता आदिका तर्पण होता है। इत्यादि कल्पनासे दिया हुआ ग्रहण आदिके अवसरका दान मिथ्यात्व पोषक होनेसे उसे नैष्ठिक श्रावकको नहीं करना चाहिये। तथा जो हिंसाका साधन हो ऐसा भूमि, गृह, अश्व, लोह आदिकका भी दान नहीं करना चाहिये। समदत्तिमें कन्यादानके समय जो भूमि, स्वर्णादिकका दहेज दिया जाता है उसका हेतु दंपतिके लिये अर्थ पुरुषार्थ आदिका साधन कराना है। ऐसा करनेसे गृहस्थको गृहस्थाश्रमके दानका श्रेय प्राप्त होता है परन्तु जिस दानका यह प्रयोजन नहीं किंतु केवल दूसरोंको देने मात्रसे ही लोकव्यवहारमें धर्म समझा जाता है और परिणाममें जिस दानके लेनेवाले हिंसादिक करते हैं ऐसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, लोहदान आदि भी नैष्ठिक श्रावक न करे। सारांश यह है कि सम्यक्त्व और चारित्रके उपघातक दानको नैष्ठिक श्रावक न करे।

अब—आगे अतिथिसंविभागव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः।
सकालातिक्रमपरव्यपदेशश्च मत्सरः॥ ५४॥

अन्वयार्थ—('तद्व्रतिना') अतिथिसंविभागव्रतके पालन करनेवाले श्रावकको (अतिथिदाने) अतिथिसंविभागव्रतमें (सचित्तनिक्षेपः) सचित्त पृथ्वी वगैरहमें देनेयोग्य वस्तुका रखना (तदावृतिः) सचित्त पत्र पुष्पादिकके द्वारा ढाकना (च) और (सकालातिक्रमपरव्यपदेशः) कालातिक्रम तथा परव्यपदेश सहित (मत्सरः) मात्सर्य ('अमी पंचातिचाराः') ये पांच अतीचार (त्याज्याः) छोड़ना चाहिये।

भावार्थ—सचित्त निक्षेप, सचित्त आवृति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर ये पांच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं। व्रतीको इनका त्याग करना चाहिये।

१ सचित्तनिक्षेपः—अतिथिको दान देते समय सचित्त (सजीव) जो पृथ्वी, जल, तथा वनस्पतिके पत्तोंपर देय वस्तुका निक्षेप करना स्थापित करना है, उसे सचित्त निक्षेप कहते हैं। वह आदान बुद्धिसे अतीचार होता है। दाता यदि तुच्छ-बुद्धि हुआ तो वह अपने मनमें यह विचार करता है कि संयत यति सचित्त वस्तुओंके ऊपर निक्षिप्त (रखी हुई) वस्तुको ग्रहण नहीं करते हैं। इसलिये उनका नहीं ग्रहण करना हमारा एक प्रकारका लाभ है। इसमें उसकी देय पदार्थमें आदान बुद्धिका अभिप्राय है। इसलिये यह सचित्तनिक्षेप अतीचार है।

२ सचित्तावृतिः—सचित्त पदार्थसे देय वस्तुके ढकनेको सचित्तावृति कहते हैं। यह पूर्वोक्त आदान-बुद्धिके कारण अतीचार है अथवा ये दोनों ही अर्थात् सचित्त निक्षेप और सचित्त वस्तुसे

देय पदार्थका ढकना. अज्ञान भावसे अर्थात् केवल न जानकारीके कारण भी यतिको आहारमें देना अतीचार है।

३–कालातिक्रमः—आहारके समयके टालनेको कालातिक्रम कहते हैं। अर्थात् यह अतिचार यतियोंको अकालमें भोजन देनेके अभिप्रायसे खड़े रहनेसे होता है। अथवा आहारके समयको टालकर आहारके पहले व पीछे स्वयं भोजन करनेवालेके होता है। अर्थात् अकालमें भोजन करनेसे पात्रोंको पड़गाहनेको खड़ा नहीं होना पड़ेगा। इसलिये चर्याके कालको टालकर आगे पीछे भोजन करनेवालेको भी कालातिक्रम नामका अतीचार होता है।

४–परव्यपदेशः—यह देने योग्य गुड खांड वगैरह परकीय हैं। इसप्रकार व्याजसे कहना परव्यपदेश नामका अतीचार है। अथवा अपने आप्तोंको भी पुण्यबन्ध हो इस हेतुसे जिस पदार्थको मैं यहां आहारदान करते समय दे रहा हूं उसका दाता अमुक व्यक्ति हैं अथवा देय पदार्थ अमुक व्यक्तिका है. इस बुद्धिसे समर्पण करना भी परव्यपदेश नामका अतीचार है।

५–मत्सर—मत्सर शब्दका अर्थ कोप है। पात्रकी प्रतीक्षा करते समय क्रोधभाव रखना, जैसे–"मैं रोज खड़ा होता हूं फिर भी मेरे यहां कोई पात्र आता नहीं" अथवा मैं कितनी देरसे खड़ा हूं अभी कोई भी पात्र मेरे यहां आया नहीं. ऐसे भाव रखना. इसको मत्सर नामका अतीचार कहते हैं। अथवा संयतको पड़गाह देने पर भी अपने पास रखे हुए देय पदार्थका समर्पण नहीं करना यह भी मत्सर नामका अतीचार है। सारांश यह है कि–देता है परन्तु आदर पूर्वक नहीं देता है। तौ भी मत्सर नामका अतीचार होता है। अन्य दाताके गुणोंको न सह सकना भी मत्सर नामका अतीचार है। अथवा इस श्रावकने आहारदान किया है "मैं क्या इससे भी हीन हूं", इस प्रकार दूसरेकी उन्नतिके प्रति वैमनस्य भावसे जो दान देना है वह भी मत्सर नामका अतीचार है। इस प्रकार मत्सर शब्दके अनेक अर्थ होते हैं।

तदुक्तं—"मत्सरः परसम्पत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुधि॥

मत्सर शब्दके—क्रोध, क्रोधवान और परद्रव्यमें असहिष्णुता ये ३ अर्थ हैं। ये सब अतिचार अज्ञान वा प्रमादके कारण होते हैं।

अब—आगे व्रत-प्रतिमाके सम्बन्धके संपूर्ण कथनको उपसंहार करते हुये श्रावक महाश्रावककी पदवीको कैसे पाता है यह बताते हैं—

> एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-
> न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः।
> वैयावृत्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं-
> श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः॥ ५९॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (व्रतानि) पांचों अणुव्रतोंको (पालयितुं) पालन करनेके

लिये (अमलानि) अतीचार रहित (सप्तशीलानि) सातों शीलोंको (बिभ्रत्) पालन करनेवाला (समितिषु) ईर्या आदि पांचों समितियोंमें (आगूर्णः) उद्यत (अनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः) निरन्तर मनमें दैदीप्यमान है आप्तके वचनसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञानरूपी दीपक जिसके ऐसा और (गुणवतां) गुणवान पुरुषोंकी (वैयावृत्यपरायणः) वैयावृत्य करनेमें तत्पर, तथा (अतीव) पाक्षिकादिककी अपेक्षा अधिक रूपसे (दीनान्) दीन पुरुषोंको (उद्धरन्) दुःखसे छुड़ानेवाला (यः) जो गृहस्थ (इमां) आगेके अध्यायमें कही जानेवाली (दैवसिकीं) दिनरात सम्बन्धी (चर्यां) चर्याको (चरति) पालन करता है (सः) वह गृहस्थ (महाश्रावकः) महाश्रावक (स्यात्) होता है।

भावार्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन सहित पांच अणुव्रतोंको निरतिचार पालनेके लिये व्रतोंकी रक्षा करनेवाले तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतको (सात शीलोंको) भी जो निरतिचार पालता है और पांच समितियोंमें तत्पर रहता है। तथा जिसके मनमें आप्तोपदेशसे उत्पन्न श्रुतज्ञानरूपी दीपक जागृत है। जो रत्नत्रय धारकोंकी वैयावृत्यमें तत्पर रहता है। अर्थात् आजीविकाके अभावके कारण होनेवाले कष्ट, मानसिक दुःख और शारीरिक व्याधिके निराकरणमें तत्पर रहता है तथा दीनोंका भी दयाबुद्धिसे उद्धार करता है और जो आगेके छट्ठे अध्यायमें वर्णित दिनचर्याको धारण करता है वह इन्द्रादिकसे पूज्य महाश्रावकके पदको प्राप्त होता है।

सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन सहित होनेके कारण जो 'सम्यग्दर्शनशुद्धत्व' नामक गुणका धारक है, पांच अणुव्रतोंके निरतिचार पालनेसे जो 'व्रतभूषितत्व' गुणका धारक है, निरतिचार सात शीलोंके पालनेसे जो 'निर्मलशीलनिधित्व' नामके गुणका धारक है, समितियोंमें तत्पर रहनेसे जो 'संयमनिष्ठत्व' नामके गुणका धारक है, आप्तवाणीके सदैव हृदयमें विराजमान रहनेसे जो 'जिनागमत्व' नामके गुणका धारक है, वैयावृत्यमें तत्पर रहनेसे जो 'गुरुशुश्रूषकत्व' नामके गुणका धारक है और दीनोंके उद्धार बुद्धिका धारक होनेसे जो 'दयादि सदाचारपरत्व' नामके गुणका धारक है, वह इन सात गुणोंके धारणसे इन्द्र आदिकके द्वारा पूज्य महाश्रावककी पदवीको पाता है और यह श्रावकका महत्वशाली पद किसी एक महान व्यक्तिको कालादि लब्धिके कारण होता है।

यहां इतना विशेष है कि अणुव्रत और महाव्रत यदि समितिसहित हों तो संयम कहलाते हैं, और समितिरहित हों तो विरति कहलाते हैं। उक्तं च—

"अणुवयमहव्वयाइं समिदीसहिदायि संजमो समिदिहिं विणा विरदि इति।"

अर्थात् अणुव्रत और महाव्रत यदि समितिसहित हों तो संयम कहलाते हैं तथा समितिरहित हों तो विरति कहे जाते हैं।

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञधर्मामृतसागार धर्मदीपिका भव्यकुमुदचन्द्रिका नामकी टीकामें प्रारंभसे १४ वां और सागारधर्मामृतकी अपेक्षा पांचवा अध्याय पूर्ण हुआ।

छट्ठा अध्याय।

अब—आगे श्रावककी दिनचर्याका वर्णन करते हैं और उसमें सबसे प्रथम पूर्वाह्णकी विधिका वर्णन करते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपंचनमस्कृतिः।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत्॥ १॥

अन्वयार्थ—(ब्राह्मे मुहूर्ते) ब्राह्म मुहूर्तमें (उत्थाय) उठ करके (वृत्तपञ्चनमस्कृतिः) पढ़ा है पञ्च नमस्कार मंत्रको जिसने ऐसा ('श्रावकः') श्रावक (अहं कः) मैं कौन हूं (मम कः धर्मः) मेरा कौनसा धर्म है (च) और (मम किं व्रतं) मेरा क्या व्रत है (इति) इस प्रकारसे (परामृशेत्) चिन्तवन करे।

भावार्थ—जिसकी ब्राह्मी सरस्वती देवता है उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। यह काल प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले दो घड़ी रहता है। इस मुहूर्तमें उठे और सबसे प्रथम पंचणमोकार मंत्रका अपने मनमें ही अन्तर्वृत्तिसे अथवा उच्चारण करके स्मरण करे। मैं कौन हूं? ब्राह्मण हूं या क्षत्रिय हूं, इक्ष्वाकुवंशी हूं या अन्यवंशी हूं. मेरा धर्म क्या है? मैं अविरत सम्यग्दृष्टि या श्रावक वा यति हूं? 'च' शब्दसे मेरे गुरु कौन हैं. मेरा नगर ग्रामादिक कौनसा है, इत्यादि चिंतवन करे। यह काल कौन है, मैं प्रमाता हूं अमुक प्रमेय है, इत्यादिकका भी चिंतवन करे। क्योंकि ऐसे चिन्तवनसे अपने वर्णादि विरुद्ध पड़नेवाले आचारके सुधारनेमें सुगमता होती है। तथा देश, काल, द्रव्य और अपनी पदकी परिस्थितिका विशेष ज्ञान होता है और उससे अपने कर्तव्यपालन करनेमें सुगमता होती है।

तदुक्तं—ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय सर्वकार्याणि चिन्तयेत्।
यतः करोति सान्निध्यं तस्मिन् हृदि सरस्वती॥

अर्थ—ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर सब कार्योंका चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि इससमय हृदयमें सरस्वती निवास करती है।

सारांश यह है कि ब्राह्ममुहूर्तमें मलका पाक होता है और नीरोग तथा आरोग्यवर्धक वायुका संचार होता है, इसलिये शरीर और मनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है, इस कारणसे बुद्धिकी निर्मलता दिन व रातके समयसे अधिक रहती है, ऐसे समयमें निश्चित किये हुये विचार अत्यंत कार्यकारी होते हैं।

अनादौ बम्भ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतम्।
श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलापं तदिहोत्सहे॥ २॥

अन्वयार्थ—(किल) आगममें इस प्रकार सुना जाता है कि (घोरे) भयंकर और (अनादौ) अनादि (संसारे) संसारमें (बम्भ्रमन्) कुटिल रीतिसे घूमनेवाले मैंने (आर्हतम्) वीतराग सर्वज्ञके

द्वारा कहे हुए (श्रावकीयं) श्रावक सम्बन्धी (इमं) इस (धर्मं) धर्मको (कृच्छ्रात्) बड़ी कठिनतासे (आपं) प्राप्त किया है—पाया है (तत्) इसलिये मुझे (इह) इस अत्यन्त दुर्लभ धर्ममें (उत्सहे) प्रमाद रहित होकर बड़े उत्साहसे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—पंच परावर्तनरूप अनादि घोर संसारमें भ्रमण करते हुए मैंने बड़े कष्टसे जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए इस श्रावकीय दुर्लभ जैनधर्मको पाया है। अतः मुझे इसमें उत्साहपूर्वक अर्थात् प्रमाद रहित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः।
निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतिकर्म समाचरेत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (आस्थाय) प्रतिज्ञा करके (तल्पात्) शैयासे (उत्थितः) उठकर (शुचिः 'भूत्वा') पवित्र हो करके (एकायनः 'सन्') एकाग्र मन होता हुआ (अर्हतः) अर्हन्तभगवानकी (अष्टतयीं) जल गन्धादिक आठ हैं अवयव जिसके ऐसी अर्थात् आठ प्रकारकी (इष्टिं) पूजाको (निर्माय) करके (कृतिकर्म) वन्दना आदि कर्त्तव्य कर्मोंको (समाचरेत्) अच्छी तरहसे करे।

भावार्थ—इसप्रकार उक्त दूसरे पद्यके कथनानुसार प्रतिज्ञा करके शय्यासे उठकर शौच, मुख-मार्जन, स्नानादिकसे निवृत्त होकर तथा एकाग्र होकर अर्हन्त भगवानकी और शास्त्र तथा गुरुकी पूजा करके कृतिकर्म[1] करे। वन्दना विधानको कृतिकर्म कहते हैं।

समाध्युपरमे शान्तिमनुध्याय यथाबलम्।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्य गन्तुं नमेत् प्रभुम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—('कृतक्रियः श्रावकः') वन्दना आदि कर्मोंको करनेवाला श्रावक (समाध्युपरमे) समाधिकी निवृत्ति होनेपर (शांतिं) शांति भक्तिके पाठका (अनुध्याय) चिन्तवन करके (यथाबलं) अपनी शक्तिके अनुसार (प्रत्याख्यानं) भोगोपभोग सम्बन्धी नियमविशेषको (गृहीत्वा) ग्रहण करके (इष्टं) अभिलषित पदार्थको (प्रार्थ्य) प्रार्थना करके (गन्तुं) गमन करनेके लिये (प्रभुं) अर्हन्त देवको (नमेत्) नमस्कार करे अर्थात् विसर्जन करे।

१—योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः। विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥

अर्थ—योग्य कालमें योग्य आसनसे, योग्य स्थानमें, सामायिकके योग्य मुद्रा धारण करके चारों दिशाओंमें घूमकर तीन आवर्तपूर्वक नमस्कार करे। तथा विनयपूर्वक मुनिके समान होकर अर्थात् सर्व आरंभ और परिग्रहको त्यागते हुए दिगम्बरके समान सर्व आरम्भ और परिग्रहका त्याग करके निर्मल कृतिकर्मको धारण करे। अर्थात् अपने पदानुसार जिसके वस्त्रादिकका त्याग अशक्य है, उसको रखकर शेष आरंभ परिग्रहका त्याग करके सामायिक करे। सारांश—विधिपूर्वक सामायिकको वंदना कर्म या कृतिकर्म कहते हैं।

भावार्थ—उक्त वन्दनादिरूप कृतिकर्म (सामायिक) करके "येभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः" इत्यादि शांतिपाठ पढ़कर दिनभरके लिये अपनी शक्तिके अनुसार नियम लेकर अर्थात् भोगोपभोगोंका जो नियम करना है उसे करके 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' इत्यादि पद्यके द्वारा इष्ट प्रार्थना पढ़े और पुनर्दर्शन होवें, समाधिमरणकी प्राप्ति होवे, इस प्रकारकी प्रार्थना करके पूजनका विसर्जन करे। पहले समयमें घर घरमें चैत्यालय होते थे। दक्षिणमें आज भी यही रिवाज चालू है। सो पहले घरके चैत्यालयमें पूजन, सामायिक, शांतिपाठ, इष्ट प्रार्थना और विसर्जन करके अनन्तर बड़े मंदिरमें जावे।

अब—इसका ही वर्णन आगेके पद्यसे करते हैं—

साम्यामृतसुधौतान्त–रात्मराजज्जिनाकृतिः।
दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन् गच्छेज्जिनालयम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(**साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृतिः**) समता परिणाम रूपी अमृतके द्वारा अच्छी तरहसे धोया गया अर्थात् विशुद्धिको प्राप्त हुआ जो अन्तरात्मा, उस अन्तरात्मामें दैदीप्यमान है परमात्माकी मूर्ति जिसके ऐसा (**'श्रावकः'**) श्रावक (**ऐश्वर्यदौर्गत्ये**) ऐश्वर्य और दारिद्य (**दैवात्**) पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मके उदयसे (**'सम्भवन्ति'**) होते हैं (**'इति' ध्यायन्**) इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ (**जिनालयं**) जिनालयको (**गच्छेत्**) जावे।

भावार्थ—जीवन और मरणमें जिसने समताभाव रूप अमृतसे अपना अंतःकरण पवित्र बनाया है अर्थात् सामायिकके द्वारा भेदविज्ञानयुक्त जिसका अंतःकरण है और इसी कारणसे जिसके अंतःकरणमें जिनेन्द्र भगवानकी आकृति विराजमान है वह भव्य गरीबी और अमीरीके सांसारिक भेदोंमें यह सब ऐश्वर्य और दारिद्य दैवी लीलाके फलसे है, पुरुषार्थजनित नहीं है, आत्मा न तो धनी है, और न दरिद्री है, इसलिये इसमें हर्ष व विषादको स्थान नहीं है, इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ जिनालयके दर्शनको जावे।

अब—आगे जिनालयके जानेकी विधिको बताते हैं—

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनम्।
व्रजन्कौत्कुटिको देशसंयतः संयतायते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**यथाविभवं**) अपनी सम्पत्तिके अनुसार (**जिनाद्यर्चनसाधनं**) अर्हन्तादिककी पूजनके साधनभूत जलगन्धादिकको (**आदाय**) ग्रहण करके–लेकरके (**कौत्कुटिकः**) आगे चार हाथ जमीनको देखकर (**व्रजन्**) गमन करनेवाला (**देशसंयतः**) देशसंयमी श्रावक (**संयतायते**) मुनिके समान आचरण करता है।

भावार्थ—अपनी २ विभूतिके अनुसार पूजनकी सामग्री लेकर ४ हाथ जमीनको आगे देखकर मंदिरजीके दर्शनोंको ईर्यासमिति पूर्वक जानेवाला देशसंयमी ईर्यासमितिको धारण करनेवाले संयमीके समान आचरण करता है।

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतम् ।
स्मरतस्तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सवः) जिनेन्द्र भगवानके चैत्यालयकी शिखरमें लगी ध्वजाके देखनेसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द (जगद्बोधकरं) जगतके प्राणियोंकी निद्राको दूर करनेवाले (भास्करं) सूर्यको (दृष्ट्वा) देख करके (जगद्बोधकरं) वहिरात्मा प्राणियोंकी मोहरूपी निद्राको दूर करनेवाले (आर्हतं) अर्हन्त भगवान संबंधी (ज्योतिः) ज्ञानमय अथवा वचनमय तेजको (स्मरतः) स्मरण करनेवाले ('श्रावकस्य') श्रावकके (अघहृत्) पापोंको नष्ट करनेवाला ('भवति') होता है ।

भावार्थ—प्रातःकालमें उक्त विधिसे मंदिरजीको जानेवाला श्रावक जगत्को प्रकाशमें लानेवाले सूर्यको देखकर इसप्रकार चिन्तवन करता है कि जैसे यह सूर्य अपनी किरणोंके प्रकाशसे प्रकाशमें अपने २ व्यवहारको संपादन करनेवाले प्राणियोंका मार्गदर्शक है, निद्रासे जगानेवाला है, उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान भी अपनी ज्ञानात्मक और वचनात्मक किरणोंसे संसारके वहिरात्मा प्राणियोंकी मोह निद्राका नाश करनेवाले हैं, उद्बोध देनेवाले हैं, हित मार्गके दर्शक हैं, जगतको प्रकाश देनेवाले हैं तथा इसीलिये भगवानके मन्दिरकी ध्वजाके दर्शनसे भव्यात्माके हृदयमें आनंदोत्सव होता है और उस गुणानुरागजनित उत्सवसे पापोंका नाश होता है ।

वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः ।
चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्निसहीगिरा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(चित्रैः) नानाप्रकारके और विस्मयको करनेवाले (वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः) प्रभातकाल सम्बन्धी वादित्र आदिके शब्दोंके द्वारा चम्पा गुलाब आदिके फूलोंकी गन्धके द्वारा तथा द्वार, तोरण और शिखरपर बने हुए चित्रों (आरोहदुत्साहः) वृद्धिको प्राप्त हुआ है धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसका ऐसा ('श्रावकः') श्रावक (निसहीगिरा) 'निसही' इस वचनके द्वारा अर्थात् 'निसही' इस शब्दको उच्चारण करता हुआ (तं) उस जिनालयमें (विशेत्) प्रवेश करे ।

भावार्थ—मन्दिरोंमें जो घंटा झालरके शब्द होते हैं, भव्योंके जय जय घोष होता है, कोई भव्य स्तुति पढ़ते हैं, स्वाध्याय करते हैं, उन शब्दोंसे तथा मंदिरजीमें जो तोरणवार वंदनवारमें लगे हुए नानाप्रकारकी पुष्पमालाएं होती हैं, धूप खेई जाती है, उनकी सुगन्धसे तथा प्रवेशद्वारपर खंबोंपर शिखरपर जो नानाप्रकारके भव्य चित्र अंकित होते हैं उन चित्रोंसे दर्शनार्थी श्रावकके अन्तःकरणका उत्साह वर्धमान होता है । इस प्रकारके उत्साहसे संपन्न होकर "निःसहि, निःसहि" इस प्रकार तीन वार उच्चारण करता हुआ श्रावक मंदिरमें प्रवेश करे ।

क्षालितांघ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः।

त्रिः प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(क्षालिताङ्घ्रि) धोये हैं पैर जिसने ऐसा और (आनन्दनिर्भरः) आनन्दके द्वारा व्याप्त होगया है सम्पूर्ण अङ्ग जिसका ऐसा ('असौ') यह श्रावक (तथैव) 'निःसही' इस शब्दको उच्चारण करता हुआ ही (अन्तः) चैत्यालयके मध्यप्रदेशमें (प्रविश्य) प्रवेशकरके (जिनं नत्वा) जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार करके (पुण्याः) पुण्याश्रवके करनेवाले (स्तुतीः) स्तवन वचनोंको (पठन्) पढ़ता हुआ (त्रिः प्रदक्षिणयेत्) तीनवार प्रदक्षिणा करे।

भावार्थ—जिनालयमें प्रवेश करते समय अपने पैर धोवे और पुनः तीनवार 'निःसहि' कहकर आनंदसे गद्गद होता हुआ भीतर जावे। तथा त्रिलोकीनाथको आनंदसे गद्गद होकर नमस्कार करे। और पापका क्षालन करनेवाली, पुण्याश्रवको बढ़ानेवाली, अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली स्तुतिको पढ़ते हुए तीन प्रदक्षिणा देवे।

सायमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः।

चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(इयं) यह चैत्यालयकी भूमि ही (सा आस्थायिका) वही आगमप्रसिद्ध समवशरण है तथा (अयं) प्रतिमामें अर्पित किये गये ये जिनेन्द्र भगवान ही (सः जिनः) वे आगमप्रसिद्ध अर्हंत भगवान हैं और (अमी) जिनेन्द्र भगवानकी आराधना करनेवाले ये भव्य पुरुष ही (ते सभासदः) वे आगमप्रसिद्ध मुनि आदि बारह प्रकारके सभासद हैं (इति) इस प्रकार (चिन्तयन्) चिन्तवन करनेवाला ('असौ') यह श्रावक (तत्र) उस चैत्यालयमें अथवा प्रदक्षिणा करनेके समयमें (धार्मिकान्) धर्मको आचरण करनेवाले भव्यजीवोंका (उच्चैः) बार बार (अनुमोदेत) अभिनन्दन करे अर्थात् उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ—मंदिरजीमें प्रवेश करते समय अथवा प्रदक्षिणा करते समय यह चिंतवन करे कि, "यह चैत्यालय आगमप्रसिद्ध समवशरण है। यह प्रतिमा स्थापित जिनमूर्ति वही आगमप्रसिद्ध अष्ट प्रातिहार्योंसे युक्त जिनेन्द्रभगवान हैं और ये जिनेन्द्रकी आराधना करनेवाले वे ही बारा सभास्थित साक्षात् अर्हन्त भगवानकी सेवामें दत्तचित्त सभासद हैं"। तथा वहां बैठे हुये धर्ममें तत्पर आराधकोंका पुनः २ मनसे अभिनंदन करे और "यह धर्माराधन कर रहे हैं सो बहुत अच्छा कर रहे हैं" इस प्रकारसे अनुमोदना करे।

अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम्।

श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनन्तर ('एषः महाश्रावकः') यह महाश्रावक (ईर्यापथसंशुद्धिं)

ईर्यापथ शुद्धिको–प्रतिक्रमणको (कृत्वा) करके (जिनेश्वरं) जिनेन्द्र भगवानकी (श्रुतं) शास्त्रकी (च) और (सूरिं) आचार्यकी (अभ्यर्च्य) पूजा करके (तस्य) आचार्यके (अग्रे) समीपमें (प्रत्याख्यानं) पहले घरके चैत्यालयमें ग्रहण किये हुये नियमविशेषको (प्रकाशयेत्) प्रगट करे ।

भावार्थ—भगवान्के सामने नमस्कार पूर्वक स्तुति पाठ करते हुए प्रदक्षिणा करके ईर्यापथे शुद्धिपूर्वक अर्थात् ईर्या नाम गमनका है और वह गमन, पथ कहिए मार्ग जिसका है वह ईर्यापथ कहलाता है। इसप्रकार ईर्यापथसे गमन करते हुए भी जो प्रमाद होगया हो उसकी भलेप्रकारसे शुद्धि करनेको संशुद्धि कहते हैं। यहांपर संशुद्धिका अर्थ प्रतिक्रमण होता है अतः "[2]जावरहंताणं भयवंताणं णमोकारं करोमि" इत्यादि वचनों द्वारा प्रतिक्रमण करके "नमो अर्हद्भ्यः" इत्यादि पाठ द्वारा तथा—

जयंति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥

अर्थ—जिन्होंने सर्वथा एकांतवादकी कथापर विजय प्राप्त की है, जो अनेकांतमयी सत्यवाणीके अधिपति हैं और जो निरंतर विद्या और आनन्द सहित हैं वे जिनेश्वर जयवंत रहें । इस प्रकारसे जिनेन्द्रके सन्मुख बैठकर वाचनिक नमस्कारसे अथवा जलादिकके अष्टकसे जिनेन्द्रकी पूजा करे तथा इसीप्रकार शास्त्र और गुरुकी पूजा करे । यह इसकी जघन्य वंदना विधि है। उत्तम रीतिसे तो वंदना विधि वह घरके चैत्यालयमें कर आया है । इसप्रकार बडे मंदिरजीमें वंदनाविधि करके घरके चैत्यालयमें जो प्रत्याख्यान किया था–प्रतिज्ञा की थी–वह गुरु और जनताके सामने यहां प्रगट करे ।

ततश्चावर्जयेत्सर्वान्यथार्हं जिनभाक्तिकान् ।
व्याख्यातः पठतश्चार्हद्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके अनन्तर ('असौ') यह श्रावक (यथार्हं) यथायोग्य आदर विनयके द्वारा (सर्वान्) संपूर्ण (जिनभक्तिकान्) अर्हन्तदेवकी आराधना करनेवाले भव्यजीवोंको (आवर्जयेत) अनुरक्त करे–प्रसन्न करे (च) तथा (अर्हद्वचः) अर्हंत भगवानके वचनोंका (व्याख्यातः)

१—ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादाद् एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेद्युगांतरेक्षा मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ॥

अर्थ—ईर्यापथसे चलते हुए भी मेरे द्वारा आज प्रमादसे किसी भी कायके जीवोंको यदि बाधा पहुंचाई गई हो, ४ हाथ शोधकर चलनेमें गलती हुई हो, वह सब गुरुभक्तिसे मिथ्या होवे, इसप्रकार ईर्यापथ शुद्धि करे।

२—देखो क्रियाकलापमें प्रतिक्रमण पाठ—
जाव अरहंताणं भगवंताणं णमोकारं पज्जुवासं करोमि। तावकायं पावकम्मं दुचरियं वोस्सरामि ॥
सारांश यह है कि जबतक नमोकार मंत्रका जाप देता हूं तबतक पाप कर्मके करनेवाले तथा दुष्ट आचरण करनेवाले कायका उत्सर्ग करता हूं अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूं।

व्याख्यान करनेवालोंको (च) और (पठतः) अध्ययन करनेवालोंको भी (मुहुः) बार२ (प्रोत्साहयेत्) उत्साहित करे।

भावार्थ—प्रत्याख्यानके प्रगट करनेके बाद मुनियोंको 'नमोऽस्तु' आर्यिकाओंको "वन्दे" तथा श्रावकोंको "इच्छामि" कहकर विनय करे।

अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्यात् विरतौ विनयक्रिया।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा"॥

अर्थ—मुनियोंके लिये 'नमोऽस्तु', विरतियोंके लिये विनय क्रिया अर्थात 'वंदे' कहे। क्षुल्लकोंको भी "वन्दे" कहे तथा और परस्परमें श्रावक 'इच्छाकार' करे। इस प्रकारसे जिनभक्तोंके प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करनेके बाद यथायोग्य जो उपाध्याय पद-पदार्थका समर्थन लक्षण विशेषतासे शिष्योंकी व्युत्पत्ति बढानेके लिये अर्हन्त वचन-परमागम, युक्त्यागम और शब्दागमका व्याख्यान कर रहे हों उनको तथा उनके नजीक सीखनेवाले शिष्योंको भी पुनः २ प्रोत्साहन दे।

स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः॥ १३॥

अन्वयार्थ—('ततः) इसके अनन्तर ('असौ') वह महाश्रावक (विधिवत्) विधिके अनुसार (स्वाध्यायं) स्वाध्यायको (कुर्यात्) करे (च) और (विपद्धतान्) विपत्तिसे पीड़ित दीन पुरुषोंको (उद्धरेत्) विपत्तिसे दूर करे ('यतः') क्योंकि (पक्वज्ञानदयस्यैव) पक होगये हैं ज्ञान तथा दया ये दोनों गुण जिसके ऐसे अर्थात् पक ज्ञान और दयावाले पुरुषके ही (सर्वे अपि) सब (गुणाः) गुण (सिद्धिदाः) अभिलषित अर्थके देनेवाले ('भवन्ति') होते हैं।

भावार्थ - व्यंजनशुद्धि आदि जो ज्ञानाभ्यासकी विधि है तदनुसार स्वाध्याय करे। अर्थात् यथायोग्य श्रुताध्ययन करे। स्वाध्यायका दूसरा अर्थ वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश भी है, उसे भी करे। तथा असातावेदके उदयसे जिनकी मानसिक शारीरिक शक्ति क्षीण होगई है उन दीनोंका उद्धार करे। क्योंकि जिनका ज्ञान और दया पक होचुकी है उनके ही सब गुण इष्ट संपादनमें समर्थ होते हैं। यहां ज्ञानका अर्थ तत्त्वावबोध है और दयाका अर्थ सब प्राणियोंके दुःखोंके उच्छेदके लिये अभिलाषा रखना है। ज्ञान और दया जिनके पक हैं, अर्थात् सात्मीभूत होचुके हैं, उनको संस्कृतमें 'पक ज्ञानदय' कहते हैं। ऐसे पुरुषोंके सब गुण इष्टसिद्धिमें समर्थ होते हैं।

इस प्रकार मंदिरके विधेय कर्मोंका वर्णन करके अब—निषिद्ध कर्मोंका वर्णन करते हैं—

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम्।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत्॥ १४॥

अन्वयार्थ—('असौ') वह महाश्रावक (मध्ये जिनगृहं) जिनमंदिरमें (हासं) हंसीको (विलासं)

श्रृङ्गारयुक्त चेष्टाविशेषको (दुःकथां) खोटी कथाओंको (कलिं) कलहको निद्रां) निद्राको (निष्ठ्यूतं) थूकनेको (अपि) और (चतुर्विधं) चारों प्रकारके (आहारं) आहारको (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ—यह दिनचर्याका वर्णन महाश्रावककी अपेक्षासे है। इसलिये "मध्ये जिनगृहं" इस पदका अर्थ सब प्रकारके जिनालयोंमें यह करना चाहिये तथा जो महाश्रावक नहीं हैं-उनकी अपेक्षा गन्धकुटी यह अर्थ लेना चाहिये।

चैत्यालयके उस देशको गंधकुटी कहते हैं जहां भगवानकी मूर्ति विराजमान होती है। मंदिरमें हंसी, श्रृंगारकी चेष्टाएं चित्तको कलुषित करनेवाली, काम क्रोधको बढ़ानेवाली कथाएं तथा राजकथा; कलह, निद्रा लेना, थूकना वगैरह और खाद्य, पेय, आदि ४ प्रकारके आहारको न करे।

इसप्रकार प्रभातकालीन धार्मिक कार्योंका वर्णन करके अब—आगे विधेय अर्थोपार्जन विधिका उपदेश करते हैं—

ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः।
अधितिष्ठेद्व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधतः॥ १५॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (सुधीः) हित और अहितके विचार करनेमें चतुर यह श्रावक (यथोचितस्थानं) द्रव्यके उपार्जन करनेके योग्य दुकान आदि स्थानोंमें (गत्वा) जाकरके (अर्थे अधिकृतान्) द्रव्यके उपार्जन करनेमें नियुक्त किये गये पुरुषोंको (अधितिष्ठेत् सनाथ करे अर्थात् उनकी, उनके कार्योंकी देखरेख करे (वा) अथवा (धर्माविरोधतः) अपने धर्मका व्याघात नहीं करके (स्वयं) स्वतः-खुद (व्यवस्येत्) व्यवसाय करे।

भावार्थ—तदनन्तर इसलोक और परलोकके विचारमें चतुर श्रावक अर्थोपार्जनके अपने अपने योग्य स्थानों पर जाकर अर्थोपार्जन, अर्थसंरक्षण, और कमाई करनेके लिये नियुक्त अधिकारियोंके कामोंका निरीक्षण करे। अथवा जिसकी आर्थिक स्थिति अन्य कर्मचारियोंके द्वारा धनके उपार्जन आदि करनेके लायक नहीं है वे स्वयं अर्थके उपार्जन संरक्षण और संवर्धनमें प्रवृत्ति करें। परन्तु अर्थोपार्जन करते समय प्रत्येक धार्मिक व्यक्तिको धर्मके अविरोधसे ही धन कमाने रखने और बढ़ानेमें प्रवृत्त होना चाहिये। इसका खुलासा यह है कि—

राजाका कर्तव्य यह है कि गरीब अमीर प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित और उंच नीचमें माध्यस्थभाव रखकर न्याय करे। राज्याधिकारी जिसमें राजा और प्रजाका हित हो ऐसा व्यवहार करें। और जो व्यापारी हैं वे लेनदेनमें हीनाधिक माप तोल न करें तथा निषिद्ध जो वन आजीविका वगैरह हैं उनका भी परित्याग करें, यही धर्म अविरुद्ध राजादिकका अर्थोपार्जन है।

अब—आगे पुरुषार्थकी सफलता और असफलता आदिकमें हर्षविषाद नहीं करना चाहिये यह बताते हैं—

निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे।
न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधेः॥ १६॥

अन्वयार्थ—('असौ') द्रव्यके उपार्जन करनेमें तत्पर यह श्रावक (पौरुषे) पुरुषार्थको (निष्फले) शून्य है फल जिसका ऐसा तथा (अल्पफले) अल्प है फल जिसका ऐसा (अपि) और (अनर्थफले) अनर्थ है फल जिसका ऐसा (जाते) होनेपर (न विषीदेत) विषाद नहीं करे तथा (अन्यथा) इससे विपरीत होनेपर (न वा हृष्येत्) हर्ष भी नहीं करे (हि) क्योंकि (सा) पुरुषार्थको सफल निष्फल बनाना आदि है लक्षण जिसका ऐसी वह निरंकुश प्रवृत्ति (विधेः) पूर्वोपार्जित पुण्य-पापकर्मकी (लीला) लीला ('अस्ति') है।

भावार्थ—अर्थोपार्जनके लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह निष्फल होजावे। जितनी आशा रखते थे उसकी अपेक्षा कम सफलता मिले। अपनी जितनी अपेक्षा थी उससे बहुत अधिक सफलता मिल जावे, अथवा बिलकुल विफल होजावे, तो भी श्रावकको हर्ष विषाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सफलता और असफलता आदि पुरुषार्थका फल नहीं है। किन्तु पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मजनित है। अतः हर्ष विषादसे युक्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार अर्थोपार्जनके सम्बन्धका वर्णन करके अब—श्रावक भोजनके लिये जाते समय कैसी भावना रखे इस विषयका ९ पद्यों द्वारा दिग्दर्शन कराते हैं—

कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन्।
यथालाभेन सन्तुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ॥ १७॥

अन्वयार्थ—(सा माधुकरी वृत्तिः) आगममें कही गई वह मुनियोंकी माधुकरी भिक्षावृत्ति (मे) मेरे (कदा) किस समय (स्यात्) होगी (इति) इसप्रकार (भावयन्) विचार करनेवाला-चिन्तवन करनेवाला ('असौ') यह श्रावक (यथालाभेन) यथालाभसे अर्थात् जितना धन मिला उतने ही धनसे (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होता हुआ (तनुस्थितौ) शारीरिक स्वास्थ्यके ठीक रखनेमें कारणभूत भोजनादिककी प्रवृत्तिमें (उत्तिष्ठेत्) उद्यम करे।

भावार्थ—इस आर्थोपार्जनके कालमें जो कुछ भी लाभ हुआ है, उससे संतुष्ट होकर मुनियोंके आहारार्थ निकलनेके समयपर शरीरसम्बन्धी स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये "मुझे मुनियोंके समान माधुकरी× वृत्ति कब प्राप्त होगी अर्थात् शास्त्रोक्त भिक्षावृत्तिकी योग्यताका लाभ कब होगा," इस प्रकारकी भावना भाता हुआ, अपने शरीरसम्बन्धी स्वास्थ्यके हेतुसे (न कि आसक्तिसे) भोजनके लिये घर जावे।

× मधुकर भ्रमरको कहते हैं। जैसे भ्रमर पुष्पोंको त्रास न देकर रस चूसता है वैसे ही दाताओंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर अपने शरीरको पुष्ट करनेवाली वृत्तिको माधुकरी-वृत्ति कहते हैं।

नीरगोरसधान्यैधः शाकपुष्पाम्बरादिभिः।
क्रीतैः शुद्धयविरोधेन वृत्तिः कल्प्याऽघलाघवात् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—('श्रावकेण') श्रावकको (शुद्धयविरोधेन) अपने द्वारा ग्रहण किये हुये सम्यक्त्व और व्रतोंका घात नहीं करके (क्रीतैः) मूल्य देकरके खरीदे गये (नीरगोरसधान्यैधःशाकपुष्पाम्बरादिभिः) जल, गोरस, धान्य, लकड़ी, शाक, फूल और वस्त्रादिकके द्वारा (अघलाघवात्) पापकी लघुतापूर्वक (वृत्तिः) अपने शरीरनिर्वाहका व्यापार (कल्प्या) करना चाहिये।

भावार्थ—श्रावकोंको जहांतक अधिक पाप न हो, इस प्रकारसे अपनी वृत्तिका संपादन करना चाहिये। अर्थात् अपने सम्यग्दर्शनमें और लिये हुये व्रतोंमें अतीचार न लगे इसकी संभाल रखते हुए मूल्य देकर खरीदे हुए पानी, गोरस, धान्य, ईंधन, पत्र, शाक, पुष्प, वस्त्र आदिसे अपना उदरनिर्वाह करना चाहिए।

सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्याद्विवाहादौ गृहेऽप्यदन्।
निशि सिद्धं त्यजेद्धीनैर्व्यवहारं च नावहेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(दाक्षिण्यात्) व्यवहार-निर्वाहके प्रयोजनसे (सधर्मिणोऽपि) साधर्मी भाइयोंके भी (गृहे) घरमें तथा (विवाहादौ अपि) विवाहादिकमें भी (अदन्) भोजन करनेवाला ('असौ') यह महाश्रावक (निशि) रात्रिमें (सिद्धं) बनाये गये भोजनको (त्यजेत्) छोड़े (च) और (हीनैः) हीन पुरुषोंके ('सह') साथ (व्यवहारं) व्यवहारको (न आवहेत्) नहीं करे।

भावार्थ—श्रावक विवाह आदिके समय कोई साधर्मी भोजनके लिये आग्रह करे तो श्रावक जासकता है। अपने बालबच्चोंके विवाहमें भोजन भी कर सकता है। परन्तु उसको ऐसी परिस्थितियोंमें भी रातके बने पदार्थ नहीं खाना चाहिये। क्योंकि रातके बने भोजनमें त्रस जीवोंकी विराधना और भोजनमें त्रस जीवोंका संमिश्रण नहीं हटाया जासकता है। तथा जो धर्मरूपी धनसे रहित अपनेसे हीन हैं उनके साथ भी दानग्रहणादिका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

उद्यानभोजनं जन्तुयोधनं कुसुमोच्चयम्।
जलक्रीडान्दोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—('असौ') यह महाश्रावक (उद्यानभोजनं) उद्यानमें भोजन करनेको (जन्तुयोधनं) प्राणियोंके परस्परमें लड़ानेको (कुसुमोच्चयं) फूलोंके तोड़नेको (जलक्रीडान्दोलनादि) जलक्रीड़ाको तथा झूलामें झूलने आदिको (त्यजेत्) छोड़े और (तादृशं) इसीप्रकारके अर्थात् जो हिंसाके कारण हैं ऐसे (अन्यच्च) दूसरे कर्मोंको भी (त्यजेत्) छोड़े।

भावार्थ—श्रावक, मनके बहलावके लिए वनमें जाकर मित्रोंके साथ उद्यानभोजनको न करे। तीतर लड़ाना आदि जानवरोंके युद्ध करानेको जन्तुयोधन कहते हैं सो उसको न करे। वनमें जाकर

आमोदप्रमोदके लिए फूलोंके तोड़नेको कुसुमोच्चय कहते हैं, उसको न करे। जलाशयमें जाकर रागवश होकर स्त्री पुरुष एक दूसरेके ऊपर पानीसे खेल खेलते हैं उसको जलक्रीड़ा कहते हैं। इसप्रकारकी जलक्रीड़ा न करे। तथा आदि पदसे होली वगैरहके समय राख वगैरह एक दूसरेके ऊपर फेंकी जाती है उसको न करे। तथा उपलक्षणसे इसीप्रकारके द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके पोषक जो व्यवहार हैं, जैसे—शरद्‌की पूर्णमासीके उत्सवमें खेल वगैरह खेलनेमें भाग लेना, कूदना, फांदना, नाटक देखना, लड़ाई व लड़ाईके खेल देखनेको जाना, रासलीलामें जाना आदिको भी न करे।

यथादोषं कृतस्नानो मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक्।
देवाधिदेवं सेवेत निर्द्वन्द्वः कल्मषच्छिदं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(मध्याह्ने) मध्याह्न कालमें (यथादोषं) दोषके अनुसार (कृतस्नानः) किया है स्नान जिसने ऐसा और (धौतवस्त्रयुक्) धुले हुये वस्त्रोंको धारण करनेवाला ('असौ') यह महाश्रावक (कल्मषच्छिदे) पापोंको नष्ट करनेके लिये (निर्द्वन्द्वः 'सन्') आकुलतारहित होता हुआ (देवाधिदेवं) अर्हन्त भगवानकी (सेवेत) आराधना करे—पूजा करे।

भावार्थ—मध्याह्नकालमें भोजनकी तैयारीके लिये तत्पर श्रावक दोषानुसार स्नान करे, धौतवस्त्र अर्थात् स्वच्छ धोती दुपट्टा पहने और निर्द्वन्द होकर प्राचीनकालीन और तत्कालीन पापोंके प्रक्षालनके लिये इन्द्रादिक और आचार्य आदिकके द्वारा भी स्तुतिको प्राप्त परमदेव अर्हन्त भगवानकी पूजा करे।

अब—जिनोपासनाकी विधिको बताते हैं—

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक्।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(स्नपनं आश्रित्य) अभिषेककी प्रतिज्ञा करके (तदिलां विशोध्य) जिस स्थानमें अभिषेक करना है उसकी शुद्धि करके (चतुष्कुम्भयुक् कोणायाम् सकुशश्रियां पीठ्यां) नीचे 'श्री' लिखकर ऊपर 'कुश' क्षेपण करके जिसके चारों कोनोंमें चार कलश स्थापित किये जाते हैं ऐसे सिंहासन पर (जिनपतिं न्यस्य) जिनेन्द्र भगवानकी स्थापना करके (नीराज्य) आरती उतारकर (इष्टदिक्) इष्ट दिशामें स्थित होकर (अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः) जल, घी, दुग्ध, दधिके द्वारा (सीक्त्वा) अभिषेक करके (कृतोद्वर्तनं) चन्दनानुलेपन करके (कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैश्च सिक्तं) कुम्भके जल तथा गन्धके जलसे अभिषेक करके और (सम्पूज्य) पूजा करके (नुत्वा) अनन्तर स्तुति करके (स्मरेत्) भगवानका स्मरण करे।

भावार्थ—देवकी उपासना ६ प्रकारसे होती है—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन,

पूजा और पूजाफल। इनका विशेष वर्णन अन्य आचार्यनिर्मित अभिषेक शास्त्र अथवा ग्रंथकारके स्वयं बनाये हुये 'नित्य महोदय' नामक अभिषेक शास्त्रसे देखना चाहिये। उसका संक्षेप कथन इस प्रकारसे है—

'आश्रुत्य स्नपनं' इस पदके द्वारा सबसे पहले जो अभिषेककी प्रतिज्ञा की जाती है 'जिनेन्द्र भगवानका यहां 'अभिषेक होनेवाला है' इसको प्रस्तावना कहते हैं। 'विशोध्य तदिलां' इस पदके द्वारा भूमि शुद्ध की जाती है। अर्थात् जो रत्न, जल, कुश, अग्निसे संतर्पण किया जाता है इसको पुराकर्म कहते हैं, फिर 'न्यस्य' इस पदके द्वारा जो चन्दन और अक्षतोंकी 'श्री' लिखी जाती है और मूर्तिकी उसपर स्थापना की जाती है वह स्थापना कहलाती है। 'अन्तराप्य' इस पदके द्वारा भगवानको अपने हृदयमें विराजमान किया जाता है उसको सन्निधापन कहते हैं। 'इष्टदिक्' इस पदके द्वारा इष्ट दिशामें खड़ा होकर अष्टद्रव्यसे पूजन करे। इससे यहां पूजाका अर्थ समझना चाहिये। और शास्त्रान्तरोंमें अथवा इसी शास्त्रमें पहले कहे हुए दर्शनविशुद्धिकी प्रबलताको पूजाका फल समझना चाहिये। तद्यथा—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापन पूजा पूजाफल इस प्रकारसे छह प्रकार देवकी उपासना होती है।

उक्त प्रकारसे अभिषेककी प्रतिज्ञा करके मूर्ति अभिषेकके लिये जिस पात्र व स्थानमें स्थापित करना है उसकी शुद्धि करे। फिर आगेके दूसरे पात्रमें चंदनसे श्रीकार लिखे। उपलक्षणसे ह्रींकार भी लिखे। किन्हीं आचार्योंके मतसे अक्षतसे लिखे। जैसे कहा भी है—

"निस्तुषनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालीयतण्डुलालिखिते।
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयाम्युच्चैः॥"

छिलकेसे रहित अखंड और निर्मल पानीसे धोए हुए धानके चावलोंसे लिखे हुए श्रीकार अक्षरके ऊपर श्रीकी कामना करनेवाला मैं श्रीनाथकी स्थापना करता हूं। फिर दूसरी चौकी पर रखे हुए पात्रमें और बीचमें बड़ा कलश स्थापित करे तथा चारों दिशाओंमें चार और कुम्भ स्थापित करे। उनके नीचे श्री लिखै और ऊपर कुशका क्षेपण करे। उन सकुश तथा श्रीकारसहित चारों दिशा सम्बन्धी कलशोंको स्थापित करने पर 'इष्ट दिग्' अर्थात् इष्टदिशामें पूजन करनेवाला खड़ा होवे। अथवा दूसरा अर्थ यह भी है कि मंत्र बोलकर फिर दशों दिशाओंमें दश दिक्पालोंकी स्थापना करे, फिर भगवान्का पंचामृताभिषेक करे, आरती उतारे, फिर उद्वर्तन करे और उन कलशोंसे अभिषेक करे, सुगंधित जलसे अभिषेक करे, फिर पूजा करे, नमस्कार करके हृदयमें सदैव स्मरण करे।

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयेत् ।
श्रुतं च गुरुपादांश्च को हि श्रेयसि तृप्यति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—('असौ') यह महाश्रावक (सम्यग्गुरूपदेशेन) सच्चे गुरुके उपदेशसे (सिद्धचक्रादि) सिद्ध चक्रादिककी (च) तथा (श्रुतं) शास्त्रकी (च) और (गुरुपादांश्च) गुरुके चरणोंकी भी (अर्चयेत्) पूजा करे (हि) क्योंकि (श्रेयसि) अपने कल्याणमें (कः) कौन पुरुष (तृप्यति) तृप्त होता है ?

भावार्थ—सद्गुरुके उपदेशसे बृहत् सिद्धचक्र और लघु यंत्रकी तथा श्लोकके आदि शब्दसे पार्श्वनाथ यंत्र सारस्वत यंत्र व अन्य शास्त्रप्रसिद्ध यन्त्रोंकी भी पूजा करे । अनन्तर श्रुतकी भी पूजा करे और गुरुकी पूजा करे । श्लोकगत दो 'च' शब्द समुच्चय वाचक हैं अर्थात् यंत्रकी पूजा करे और शास्त्रकी पूजा करे और गुरुकी भी पूजा करे. इसप्रकार दो च शब्द इन सबके समुच्चय अर्थमें आये हैं और तृतीय च शब्द यहांपर यंत्र श्रुत और गुरु एकसे पूज्य हैं इसका प्रकाश करनेवाला है। कोई शङ्का करे कि अकेले जिनेन्द्रकी पूजासे ही सब सिद्धि होसक्ती है तो फिर यहां यंत्रादिककी पूजाका विधान क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्गके साधनोंके मिलनेपर उनकी प्राप्ति किये विना कौन मुमुक्षु सन्तुष्ट होसकता है ? इसप्रकार भगवानकी मध्याह्नकाल सम्बन्धी पूजा करे ।

ततः पात्राणि सन्तर्प्य शक्तिभक्त्यनुसारतः ।
सर्वांश्चाप्याश्रितान् काले सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके अनंतर ('असौ') यह महाश्रावक (शक्तिभक्त्यनुसारतः) अपनी शक्ति तथा भक्तिके अनुसार (पात्राणि) पात्रोंको (च) और (आश्रितान् सर्वान् अपि) अपने आश्रित संपूर्ण प्राणियोंको भी (सन्तर्प्य) अच्छी तरहसे सन्तुष्ट करके (काले) योग्य कालमें (मात्रया) प्रमाणसे (सात्म्यं) सात्म्य पदार्थको (भुञ्जीत) खावे ।

भावार्थ—अनंतर पात्रदानके लिये द्वारापेखन करे और अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार प्राप्त सत्पात्रको दान देकर तथा संपूर्ण आश्रितोंका भरणपोषण करके योग्य कालमें मात्रासे युक्त सात्म्य भोजन करे । सात्म्यका लक्षण यह है कि—

" पानाहारादयो यस्य विरुद्धाः प्रकृतेरपि ।
सुखित्वायावकल्पंते तत्सात्म्यमिति कथ्यते ॥ "

अर्थ—प्रकृतिविरुद्ध भी आहार जिसके संयोगसे खानेपर सुखी बनानेके लिये कल्पित होते हैं, उसे सात्म्य कहते हैं । जैसे किसी चीजको मेथीका छोंक देकर खाना, किसी चीजको सोंट आदि मिलाकर खाना । मात्रा शब्दका अर्थ अच्छी तरह सुगमतासे पचनेवाला है अर्थात् जितना खानेसे अन्न जल्दी और सुगम रीतिसे पच जावे उतना ही खाना चाहिए । कहा भी है कि—

" सायं प्रातर्वा वन्हिमनवसादयन् भुञ्जीत । "

अर्थात् सुबह और शामको उतना ही खावे जो जठराग्नीको कष्ट देनेवाला न हो । जठराग्नि जितनेको सुगमतासे पचा सके उतना ही सुबह सामको भोजन करना चाहिए । और कहा है कि—

" गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।
मात्रप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्विजीर्यति ॥ "

अर्थ—गरिष्ट पदार्थ जो हों उन्हें अपनी भूखसे आधा खानां चाहिए और हल्के पदार्थ अति तृप्त होकर नहीं खाना चाहिए । तृप्ति हुए पर्यन्त खाना चाहिए । अति नहीं करनी चाहिए । इसप्रकार खाया हुआ अन्न सुखसे पच जाता है, यही मात्राका प्रमाण है ।

और इस मात्रासे सात्म्य किया हुआ भोजन भूख लगनेपर खाना चाहिए, इसीका नाम कालमें भोजन करना कहलाता है ।

" तद्विस्तर तस्शास्त्रविदस् " अर्थात् भोजन कालके संबंधमें यह शास्त्रवाक्य है कि—

" प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे,
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ,
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ॥ "

अर्थ—मल मूत्र उत्सर्ग होजानेपर, हृदयके प्रसन्न होनेपर, वातपित्त और कफजनित दोषोंके अपने २ मार्गगामी होनेपर मलवाहक द्वारोंके खुलनेपर, भूखके लगनेपर, वातके ठीक अनुसरणके होनेपर, जठराग्निके प्रदीप्त होनेपर, इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेपर, देहके हल्के होनेपर विधिपूर्वक तैयार किया हुआ नियमित आहारका ग्रहण करे । यही भोजनका लाभ माना गया है ।

यहां " काले " इस पदके द्वारा, भोजनके कालविशेषका उपदेश दिया है, इसलिए मध्याहकाल सम्बन्धी देवपूजा और आहारका कोई नियमित काल नहीं है यह अर्थ ध्वनित होता है । अतः यदि भूख लग आवे तो मध्याहकालसे कुछ समय पहले भी गृहीत प्रत्याख्यानके अनुसार[1] देवपूजा आदि करके भोजन करे तो दोषाधायक नहीं है ।

अब—आगे भोजनोत्तर कर्तव्यका निर्देश करते हैं—

लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(' अयं ') यह महाश्रावक (लोकद्वयाविरोधीनि) इसलोक और परलोकमें विरोध नहीं करनेवाले (द्रव्यादीनि) द्रव्यादिकको (सदा) सदैव (भजेत्) सेवन करे तथा

१–' गृहीत प्रत्याख्यानं तिरियत्वा ' ऐसा टीकाका पाठ है । उसका अर्थ हमने गृहीत प्रत्याख्यानके अनुसार किया है । यदि भूल हो तो ज्ञानी सुधार लेवें ।

(व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः) व्याधिके उत्पन्न नहीं होने देनेमें और यदि उत्पन्न होगई हो तो उसके दूर करनेमें (यतेत) प्रयत्न करे (हि) क्योंकि (सः) वह व्याधि (वृत्तहा) संयमका घात करनेवाली ('भवति') होती है।

भावार्थ—इसलोक और परलोकमें जो पुरुषार्थके विघातक नहीं हैं ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म और सहायकोंका सदैव सेवन करे तथा व्याधि शरीरमें उत्पन्न न होने पावे, यदि कदाचित् उत्पन्न भी होजावे तो उसका जल्दीसे जल्दी इलाज करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि व्याधि संयमकी घातक होती है।

विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभिः सह।
जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—('ततः') इसके अनंतर ('असौ') यह महाश्रावक (विश्रम्य) विश्राम करके (गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभिः सह) गुरुओंके साथ, सहपाठियोंके साथ, तथा अपने हितको चाहनेवाले पुरुषोंके साथ (जिनागमरहस्यानि) जिनागमके रहस्यका (विनयेन) विनयपूर्वक (विचारयेत्) विचार करे।

भावार्थ—भोजनान्तर थोड़ासा विश्राम लेकर "गुरुके मुखसे सुने हुए शास्त्रके उपदेश जबतक उनका परिशीलन नहीं किया जाता है, तबतक चित्तमें प्रतिष्ठित नहीं होते हैं।" इस प्रकारका विचार मनमें करके गुरु सहपाठी और मुमुक्षुजनोंके साथ जिनागमके रहस्यका 'यह इस प्रकारसे ठीक है या नहीं है' इस प्रकारसे ऊहापोह करता रहे।

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृतिः।
न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्याच्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—('ततः') इसके अनन्तर (सायं) सन्ध्या समयमें (आवश्यकं) देवपूजा आदि आवश्यक कर्मोंको (कृत्वा) करके (कृतदेवगुरुस्मृतिः) किया है देव तथा गुरुका स्मरण जिसने ऐसा ('असौ') यह महाश्रावक (न्याय्ये काले) उचित समयमें (अल्पशः) थोड़ासा (स्वप्यात्) शयन करे—सोवे (च) और (शक्त्या) अपनी शक्तिके अनुसार (अब्रह्म) मैथुनको (वर्जयेत) छोड़े।

भावार्थ—किया है देव और गुरुका स्मरण जिसने ऐसा श्रावक सायंकाल सम्बन्धी षट्कर्म करके एक प्रहर रात जानेके बाद अथवा दो प्रहर रातके अनन्तर थोड़ा शयन करे। यहां 'स्वल्पशः' पद दिया है इससे यह ध्वनित होता है कि अल्प भी शयन प्रशस्त होना चाहिए। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि किसी प्रकारके रोगके होनेपर अथवा मार्गजनित खेदके उपस्थित होनेपर अधिक शयन भी किया जासकता है।

तथा अपने संयमकी सामर्थ्यसे मैथुनका त्याग करे 'अब्रह्म वर्जयेत्' यह उपलक्षण है। इससे 'यावन्न सेव्या विषया-स्तावत्तानापर्वतितः व्रतयेत् इति' इस पूर्वोक्त प्रतिपादित वचनसे एक क्षण भी विना व्रतके व्यतीत नहीं होने देना चाहिए। इसका भी यहां ग्रहण होता है।

अब—आगे १७ पद्योंसे यदि रातमें नींद खुल जावे तो वैराग्य भावना भाना चाहिये, इत्यादिका वर्णन करते हैं—

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत्।
सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः॥ २८॥

अन्वयार्थ—('असौ') यह महाश्रावक (निद्राच्छेदे) निद्राके दूर होनेपर (पुनः) फिरसे (निर्वेदेनैव) वैराग्यके द्वारा ही (चित्तं) चित्तको (भावयेत्) संस्कृत करे अर्थात् वैराग्यका ही चित्तमें चिन्तवन करे ('यतः') क्योंकि (सम्यग्भावितनिर्वेदः) अच्छी तरहसे अभ्यास किया है वैराग्यका जिसने ऐसा (चेतनः) आत्मा (सद्यः) शीघ्र ही—उसी क्षणमें (निर्वाति) शांतिरूपी सुखका अनुभव करता है।

भावार्थ—रातमें योग्य कालमें शयन करनेपर भी यदि नींद उचट जावे तो अर्थादिका चिंतवन न करे किन्तु निर्वेद भावनासे ही अपने चित्तको भावित करे अर्थात् संसार, शरीर और विषयोंसे वैराग्य भावनाका चिन्तवन करे। क्योंकि भलेप्रकार वैराग्य भावनाका अभ्यास होजानेसे आत्मा तत्क्षणमें ही प्रशम सुखका अनुभवन करता है।

अब—संसारसे वैराग्यके लिए उपदेश करते हैं—

दुःखावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्ध्याध्यवस्यता।
मोहादेहं हहाऽऽत्माऽयं बद्धोऽनादि मुहुर्मया॥ २९॥

अन्वयार्थ—(हहा) बड़े खेदकी बात है कि (दुःखावर्ते) दुःख ही हैं आवर्त–भोंरे जिसमें ऐसे (भवाम्भोधौ) संसाररूपी समुद्रमें (मोहात्) मोहके कारण (देहं) शरीरको (आत्मबुद्ध्या) आत्मबुद्धिसे (अध्यवस्यता) निश्चित करनेवाले अर्थात् मोहसे शरीरको ही आत्मा माननेवाले (मया) मेरे द्वारा (अयं) यह आत्मा (अनादि) अनादिकालसे (मुहुः) वारवार (बद्धः) कर्मोंसे बद्ध किया गया—परतंत्र किया गया।

भावार्थ—नरकादि दुःखरूपी आवर्त जिसमें हैं ऐसे भवरूपी समुद्रमें मोहसे अर्थात् अविद्याके संस्कारसे "देहको ही आत्मबुद्धिके संकल्प द्वारा" अनुभव करनेवाले मैंने, बड़े कष्टकी बात है कि अनादिकालसे अपनी आत्माको वारंवार बांध रक्खा है।

अब—मुझे क्या करना चाहिये—

तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे।
मुच्येतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना॥ ३०॥

अन्वयार्थ—(तत्) इसलिये (एनं मोहं एव) इस मोहको ही (उच्छेत्तुं) नष्ट करनेके लिये (अहं) मैं (नित्यं) सदैव (उत्सहे) प्रयत्न करता हूं (हि) क्योंकि (एतत् क्षये) इस मोहके नष्ट होनेपर (क्षीणरागद्वेषः) क्षीण होगये हैं राग और द्वेष जिसके ऐसा (ना) पुरुष (स्वयं) स्वयं अर्थात् विना किसी प्रयत्नके ही (मुच्येत) मुक्त होजाता है।

भावार्थ—मोह (मिथ्यात्व) के नष्ट होनेपर हमारी आत्मा रागद्वेषसे रहित होकर स्वयं (विना किसी प्रयत्नके) मुक्तिका लाभ कर सकती है। क्योंकि रागद्वेषका मूल कारण मोह है। इसलिये मोहके उच्छेदसे रागद्वेषका उच्छेद अपने आप होता है। इसलिये इस (मिथ्यात्व) मोहके उच्छेदके लिये ही हमें निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

सारांश यह है कि मोहके कारण पर पदार्थमें आसक्ति होती है, परमें निजका संकल्प होता है। तदनंतर नानाप्रकारके विकल्प होते हैं और जीवात्माकी वृत्ति रागद्वेषमय होती है। उसके द्वारा हेयोपादेयके विवेकका अभाव होता है। इस प्रकारसे यह रागद्वेषमयी घटनाचक्र सदैव घूमता रहता है। उसके रोकनेका उपाय केवल रागद्वेषके मूलभूत मोहका उच्छेद करना ही है। उसके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये मोहके उच्छेदके लिये ही सदैव प्रयत्न करना चाहिए।

अब—आगे बंधके निमित्तसे होनेवाली अनर्थपरम्पराका विचार करते हुए वन्धसे विषयासक्ति और विषयोंमें (आसक्तिसे) वन्ध कैसे होता रहता है इसे ही बताते हैं—

बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम्॥ ३१॥

अन्वयार्थ—(बन्धात्) पुण्यपापरूप कर्मके उदयसे (देहः) शरीर ('भवति') होता है तथा (अत्र) इस शरीरमें (करणानि) स्पर्शनादिक इन्द्रियां ('भवन्ति') होती हैं (च) और (एतैः) इन इन्द्रियोंके द्वारा (विषयग्रहः 'भवति') स्पर्शादिक विषयोंका ग्रहण होता है (च) तथा (अतः) इन विषयोंके ग्रहणसे (पुनरेव) फिर भी (बन्धः 'भवति') कर्मोंका बन्ध होता है (तत्) इसलिये (अहं) मैं (एनं) वन्धके कारणभूत विषयोंके ग्रहणको ही (संहरामि) जड़से नाश करता हूं।

भावार्थ—पुण्यपापात्मक कर्मोंके विपाकको बंध कहते हैं। उससे देहकी प्राप्ति होती है। देहमें इंद्रियोंकी उत्पत्ति होती है, और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। और इन विषयोंके उपभोगसे पुनः बंध होता है। यह अनर्थपरंपरा अनादिसे चली आरही है, इसलिए हमें सबसे प्रथम बंधका मूल जो विषय ग्रहण है या पदार्थमें उपादेय बुद्धि है, जिसके कि कारण हम अपने सच्चे उपादेय आत्मीय सुखको भूल रहे हैं, उस मोहका ही सबसे प्रथम संहार करता हूं।

अब—आगे इन पंचेन्द्रियोंके सेवनमें भी स्त्री आसक्ति अत्यंत दुर्निवार है अतः यहां उससे परावृत होनेके उपायका विचार करते हैं—

ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ।
देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरपि) ज्ञानी पुरुषोंकी सङ्गति, तप और ध्यानके द्वारा भी (असाध्यः) वशमें नहीं किया जानेवाला (स्मरः रिपुः) कामरूपी शत्रु (देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव) शरीर और आत्माके भेदविज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यके द्वारा ही (साध्यते) वशमें किया जाता है।

भावार्थ—मैथुन संज्ञाजनित जो संस्कार आत्मामें प्रगट होता है उसे 'स्मर' कहते हैं। यह काम (स्मर) ऐहिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थसे आत्माको जीतनेवाला है, जीवात्माका अत्यंत अपकारी है। यह आत्मज्ञानियोंके सत्समागमसे पराजित नहीं होता है। बड़े२ कायक्लेश आदि तपके द्वारा भी नहीं जीता जाता है। परपदार्थ आदिके चिन्तवनरूप ध्यानसे भी इसपर विजय पाना संभव नहीं है, किन्तु आहारकादि तीन शरीर और ज्ञानानंदमय आत्मा इन दोनोंके भेदविज्ञानरूपी जो सम्यग्ज्ञान है आत्माकी अनुभूति है, उससे उत्पन्न एक प्रकारका परपदार्थसे रागद्वेष निवृत्तिरूप जो वैराग्य होता है, आत्मामें आत्माकी अनुभूति पैदा होती है उसे वैराग्य कहते हैं। केवल इस सच्चे वैराग्यभावसे ही यह स्मर वशमें किया जाता है।

अब—आगे जिन्होंने इस भेदविज्ञानके लिए स्त्री आदि सब परिग्रहोंका त्याग किया है उनकी श्लाघना करते हुए केवल स्त्रीके त्यागमें भी असमर्थ अपनी निंदा करते हुए कहते हैं किः—

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशम् ।
धिङ्मादृशकलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जिन पुरुषोंने (भेदज्ञानाय) भेदविज्ञानके लिये (तादृशं) उस प्रकारके अर्थात् आज्ञा ऐश्वर्यादिके द्वारा सर्वोत्कृष्ट (राज्यं) साम्राज्यको (अत्यजन्) जीर्ण तृणके समान छोड़ दिया (ते) वे पुरुष (धन्याः) धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं, किन्तु (कलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुः-स्थितान्) स्त्रीकी इच्छा है प्रधान जिसमें ऐसा जो गृहस्थाश्रम अथवा स्त्रीकी इच्छाके अधीन है वृत्ति जिसकी ऐसा जो गृहस्थाश्रम, उस गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्योंके द्वारा आकुलित-दुःखी (मादृशः) मेरे समान पुरुषोंको (धिक्) धिक्कार है।

भावार्थ—जिन्होंने पूर्वभवमें आचरित तप और श्रुतके अभ्याससे पुण्य-विशेषका उपार्जन किया है और उसके प्रतापसे साम्राज्य लक्ष्मीका उपयोग भी किया है, परन्तु अन्तमें भेदविज्ञानकी प्राप्तिके महत्वको तथा आत्मकल्याणके गौरवको समझकर उस दुस्त्यज साम्राज्य लक्ष्मीका भी पुराने तृणके समान तुच्छ समझकर परित्याग किया है वे भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती आदि महापुरुष

धन्य हैं, किन्तु हमारे समान तत्वज्ञानको प्राप्त करके भी सम्यक्त्व प्राप्त करके भी जो स्त्रीसम्बन्धी विषयाभिलाषाकी परतंत्रताके अधीन होकर गृहस्थाश्रममें बुरीतरह रुल रहे हैं उन्हें धिक्कार है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त इन चार प्रकारके आश्रमोंमेंसे द्वितीय आश्रममें रहनेवालेको गृहस्थ कहते हैं और गृहस्थके भाव अथवा कर्मको गार्हस्थ कहते हैं। गृहस्थाश्रममें स्थिति उन्हींकी होती है, जिनके मनकी वृत्ति स्त्री संसर्गकी अभिलाषाओंसे निवृत्त नहीं होती है, ऐसे जीवोंको मकान वगैरह परिग्रह और व्यापार आदि आरम्भ करने पडते हैं।

शारीरिक मानसिक व्याधि और आधियोंसे अपनी दुस्थितिका उपभोग करना पड़ता है और वे चारित्ररूपी अमृतके असली रसास्वादसे वंचित रहते हैं। ऐसे पुरुष तत्वका अनुभव करते हुए भी गृहस्थाश्रमसे अपना सम्बन्ध छोड़ नहीं सकते हैं। उन्हें धिक्कार है। यह सब कथन गृहस्थाश्रमके न छोड़नेकी परम्पराके कारणोंको ध्यानमें रखकर कहा है।

अब—आगे जिस उपशमश्रीकी यह श्रावक सदा अभिलाषा रख रहा है उस उपशमश्रीका तथा स्त्रीका अपने अन्तःकरणमें जो परस्परका विरोध चालू है उन दोनोंमें सबल और निर्बल कौन है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः कर्षतो मां जयेत्नु का।
आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराट्चमूः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(इतः) इस तरफसे (शमश्रीः) शांतिरूपी लक्ष्मी (च) और (इतः) इस तरफसे (स्त्री) स्त्री इस प्रकार ये दोनों (मां) मेरेको (कर्षतः) अपनी२ तरफ खींचती हैं अथवा (आ ज्ञातं) अच्छी तरहसे मालूम होगया कि (अत्र) इन दोनोंमेंसे (उत्तरैव) दूसरी स्त्री ही (जेत्री) मेरेको जीतेगी (या) जो कि (मोहराट्चमूः) मोहरूपी राजाकी सेना है।

भावार्थ—मैं अतींद्रिय=आत्मिक सुख और इन्द्रियजनित विषयसुख इन दोनोंका अनुभव करनेवाला हूं, अतः आश्चर्य है कि मुझे एक तरफसे प्रशम सुखसंपत्तिरूपी शमश्री खींच रही है और दूसरी ओरसे गृहस्थाश्रमके निवासका मूल आधारभूत स्त्री खींच रही है। मुझे संशय होता है कि दोनोंमेंसे किसका बल अधिक है तथा न मालूम मेरा आकर्षण किधर होता है। इस संशयके अनंतर ही श्रावकका अंतःकरण जवाब देता है कि—

'आ' शब्दका यहां स्मृतम् यह अर्थ है, इसलिये कहते हैं—ओह! मैं जान गया कि स्त्री ही विजय प्राप्त करेगी। उसीका ही बल अधिक है अथवा 'आ' इसका दूसरा संताप व क्रोध यह अर्थ भी होता है अर्थात् व्रती अपने मनमें झुंझलाकर कहता है कि मैंने ज्ञात कर लिया कि इन दोनोंमेंसे मुझे स्त्री ही अपने तरफ खींचेगी, शमश्रीको अभिभूत कर देगी, क्योंकि यह स्त्री केवल स्त्री ही नहीं है किंतु प्रतापी मोहराजाकी सेना है। जैसे कोई प्रतापी राजा अपनी सेनाके द्वारा प्रतिपक्षीको पराभूत-

कर विजय प्राप्त करता है उसीप्रकार चारित्रमोहरूपी राजा स्त्रीरूपी अपनी सेनाके बलसे आत्माकी इस शमश्रीको दबाकर मुझे अपनी ओर खींच रही है, यही कारण है कि मैं सर्व संगका परित्याग करनेमें असमर्थ होरहा हूं।

अब–आगे यह स्त्री कैसे दुस्त्यज है यह कहते हैं—

चित्रं पाणिगृहीतीयं कथं मां विष्वगाविशत्।
यत्पृथग्भाविताऽत्माऽपि समवैम्यनया पुनः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(चित्रं) यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि (पाणिगृहीती) हाथके द्वारा ग्रहण की गई (इयं) यह विवाहिता स्त्री (कथं) किसप्रकारसे (मां) मेरेमें (विष्वक्) चारों तरफसे (आविशत्) प्रविष्ट होगई। क्योंकि (पृथग्भाविताऽत्माऽपि) पृथक् रूपसे वारवार चिन्तवन किया है आत्माका जिसने ऐसा मैं (पुनः) वारवार (अनया 'सह') इस स्त्रीके साथ (समवैमि) तादात्म्य सम्बन्धको प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—मुझे बड़ा विस्मय है कि मैंने इस स्त्रीका पाणिद्वारा ग्रहण किया था। विवाहके समयपर हाथ पकड़कर परणग्रन किया था, परन्तु यह आज मुझमें सर्वरूपसे क्यों व्याप्त होरही है अर्थात् इसने मुझे आत्ममय कैसे बना लिया है? क्योंकि स्त्रीकी ममताके प्रतापसे ही आज मेरी यह स्थिति होरही है। जिससे "मैं भिन्न हूं" "यह भिन्न है" इस प्रकारका भेदविज्ञान सहित होकर भी मैं आज इसके साथ तादात्म्य कैसा भाव रख रहा हूं। सारांश यह है कि मैं केवल चारित्र-मोहके वश होकर इससे अभेदभाव रखनेवाला होरहा हूं।

अब–आगे यदि आत्मा स्त्रीसे विरक्त होजावे तो उसे धनादि परिग्रहकी क्या जरूरत है, यह बताते हैं—

स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे।
मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(चित्त) हे मन (चेत्) यदि तू (ननु) निश्चय करके (स्त्रीतः) स्त्रीसे (निवृत्तं) निवृत्त होजायगा ('तर्हि') तो फिर (वित्तं) धनको (किं ईहसे) क्यों चाहेगा (हि) क्योंकि (स्त्री निरीहे) स्त्रीकी इच्छा नहीं रहनेपर (धनग्रहः) धनको ग्रहण करना अथवा धनकी इच्छा करना (मृतमण्डनकल्पः) मरेहुये पुरुषको भूषण पहिरानेके समान व्यर्थ ('अस्ति') है।

भावार्थ—हे अन्तःकरण! तू यदि अपने विवेकबलके सामर्थ्यसे स्त्रीसे निवृत्त होजावे तो फिर मुझे विश्वास है कि तुझे धनकी इच्छाकी आवश्यक्ता नहीं रहेगी, क्योंकि जिसका मन स्त्रीसे परावृत्त है उसको धनके कमाने, रखाने और बढ़ानेकी गरज मुर्देको अलंकारोंकी सजावटके समान अनुपयोगी होजाती है।

विषयसुखके लिए धन साधन है। कामनी आलम्बन विभावरूपसे मुख्य है। महल, मकान, बागबगीचा आदि उद्दीपन विभावपनेसे गौण हैं, इसलिये मुख्य जो विषयसुखोंका आलंबन विभाव-भाव केवल कामिनी मानी गई है। यदि उसकी अभिलाषासे हमारा अन्तःकरण विमुख होजावेगा तो फिर साधनभूत धनकी तरफ इच्छाकी निष्फलता स्वयं होजाती है। जब साध्य ही नहीं चाहिए तो साधनकी फिर क्या जरूरत है।

इसतरह जैसे मुर्देको भूषण पहनाना व्यर्थ है वैसे ही स्त्रीसे विरत पुरुषके लिये धनकी इच्छा बेकाम मानी जाती है।

अब—आगे इस प्रकारसे निर्वेद करानेवाली भावना भानेवालोंके लिये परम सामायिकको करा-नेवाली भावना सम्बन्धी सात श्लोक कहते हैं—

इति च प्रतिसन्दध्यादुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि।
मनोरथा अपि श्रेयोरथाः श्रेयोऽनुबन्धिनः॥ ३७॥

अन्वयार्थ—(इति च) इस प्रकारसे भी वक्ष्यमाण प्रकारसे भी (‘असौ’) यह महाश्रावक (मुक्तिवर्त्मनि) मोक्षमार्गमें (उद्योगं) उद्योगको—उत्साहको (प्रतिसन्दध्यात्) वारवार लगावे—वारवार जोड़े (‘यत्’) क्योंकि (श्रेयोरथाः) मोक्ष ही है रथ जिन्होंका ऐसे अर्थात् मोक्ष विषयक (मनोरथाः अपि) मनोरथ भी (श्रेयोऽनुबन्धिनः) अभ्युदयके सम्पादन करनेवाले—स्वर्गादिकको देनेवाले (‘भवंति’) होते हैं।

भावार्थ—मोक्षमार्ग सम्बन्धी उद्योगके लिए जैसे वैराग्य भावनाका चिन्तवन किया था उसी-प्रकार आयु और कायकी अस्थिरताकी भावनाको भी भाए। यहां ‘च’ शब्द समुच्चय वाचक है। इसलिये केवल वैराग्यका ही चिंतवन न करे, किंतु मोक्षमार्गमें दृढ़ करानेवाली भावनाओंका भी उद्योग करे, यह अर्थ होता है।

यहांपर शंका होसक्ती है कि आचरणके विना केवल मनोरथ स्वप्न राज्यके समान निरुपयोगी होते हैं। परन्तु इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्गसे सम्बन्ध रखनेवाले मनोरथ भी भवभवमें श्रेयके संपादन करानेवाले होते हैं।

मनोरथा अपि—यहांके अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब श्रेयसे सम्बन्ध रखनेवाले मनोरथोंका इतना असर होता है तो अनुष्ठानके महात्म्यके विषयमें तो कहना ही क्या है?

अब—आगे यह बताते हैं कि हमारा जीवन आयुकी स्थिति और कायकी स्थितिपर निर्भरहै। लेकिन वह आयु प्रतिक्षण घट रही और काय अपनी दृढ़तासे च्युत होरही है, तो भला बताओ कि इन दोनोंमेंसे हम अपने सहायक-साथी किसको माने? इसको ही वक्रोक्ति द्वारा आगे प्रतिपादन करते हैं—

क्षणे क्षणे गलत्यायुः कायो ह्रसति सौष्ठवात्।
ईहे जरां नु मृत्युं नु सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(आयुः) आयुकर्म (क्षणे क्षणे) क्षण २ में अर्थात् प्रति समयमें (गलति) नाशको प्राप्त होरहा है और (सौष्ठवात्) स्वार्थ क्रियाको करनेकी सामर्थ्यसे (कायः) शरीर (ह्रसति) ह्रासको प्राप्त होरहा है ('अतः') इसलिये ('अहं') मैं (स्वार्थसिद्धये) अपने अभिप्रेत अर्थकी सिद्धिके लिये (सध्रीचीं) सहायभूत बुढ़ापा तथा मृत्यु इन दोनोंमेंसे (जरां नु ईहे) क्या बुढ़ापेको सहायक बनानेकी इच्छा करूं अथवा (मृत्युं नु ईहे) क्या मृत्युको सहायक मानूं?

भावार्थ—व्यावहारिक जीवनमें स्वार्थसिद्धिके लिये आयु और काय प्रधान साधन माने जाते हैं। परन्तु वास्तवमें इनमेंसे हमारी आयु अंजुलीके जलके समान प्रतिक्षण क्षीण होरही है। तथा काय भी अपनी सामर्थ्यसे प्रतिक्षण शिथिल होरही है और उसकी यह हीनता बुढ़ापेके लानेमें प्रवृत्त होरही है तो बताओ मरण और बुढ़ापा इन दोनोंमेंसे मैं किसको भला अपने स्वार्थका सहायक समझूं? अर्थात् वास्तवमें इनमें कोई भी मुझे सार्थक सहायक नहीं दिखता है, इस प्रकारसे चिंतवन करें।

अब—आगे जिनधर्म धारण करते हुए पुनः पुनः विपत्तियोंका सामना करना तो ठीक है किंतु जिनधर्मकी श्रद्धाको छोड़कर पुनः २ संपत्तिके लाभको मैं ठीक नहीं समझता हूं, इस भावनाको दर्शाते हैं—

क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरम्।
विपदां सम्पदां नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(जिनधर्मजुषः) जिनधर्मको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले (मे) मुझको (विपदां) विपत्तियोंका (क्रियासमभिहारोऽपि) वार वार आना भी (वरं) श्रेष्ठ है (तु) किंतु (जिनधर्ममुचः) जिनधर्मसे रहित (मे) मुझको (सम्पदां) सम्पत्तियोंका (असौ) वारवार आना (वरं न) श्रेष्ठ नहीं है।

भावार्थ—क्रिया समभिहार शब्दका अर्थ वारंवार अथवा अधिकता है। शुद्ध चिदानंदरूप जो आत्माकी परणति है उसको जैनधर्म कहते हैं। ऐसे धर्मको प्रेमपूर्वक सेवन करते हुए यदि शारीरिक मानसिक दुःख तथा परीषह और उपसर्गकी मुझे पुनः पुनः प्राप्ति होवे तो उसे मैं अच्छा मानता हूं किंतु जैनधर्मको छोड़कर संपूर्ण इन्द्रिय और मानसिक सुख साधनोंकी वारम्वार प्राप्तिको मैं अच्छा नहीं मानता हूं। इस प्रकारकी श्रद्धाकी दृढ़ताकी द्योतक भावना भी भाए।

अब—आगे व्रतीकी मुनिधर्मके आचरणसे ही प्राप्त होनेवाले पर-दुर्लभ सब पदार्थोंमें समताकी कामनाका वर्णन करते हैं—

लब्धं यदिह लब्धव्यं तच्छ्रामण्यमहोदधिम्।
मथित्वा साम्यपीयूषं पिबेयं परदुर्लभम् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस मनुष्य जन्ममें अथवा गृहस्थाश्रममें (यत् लब्धव्यं) जो कुछ भी मुझे प्राप्त करना चाहिये था ('तन्मया') वह मैंने (लब्धं) प्राप्त करलिया (तत्) इसलिये ('अहं') मैं (श्रामण्यमहोदधिं) मुनिव्रतरूपी महासमुद्रको (मथित्वा) मथकरके (परदुर्लभं) जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है ऐसे (साम्यपीयूषं) समतारूपी अमृतको (पिबेयं) पीता हूं।

भावार्थ—जैसे समुद्रसे अनमोल रत्न निकलते हैं उसका अवगाहन करना कठिन है, उसका पार पाना दुर्लभ होता है उसीप्रकार मुनियोंके मूल और उत्तर गुणोंसे अनमोल सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धताकी प्राप्ति होती है उसका अवगाहन करना कठिन है और उसका अन्त पाना भी दुर्लभ है। मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुणोंके आचरणको श्रामण्य कहते हैं और उसको यहां समुद्रकी उपमा दी है। यहां व्रतीकी यह भावना है कि जैसे सुना जाता है कि देव और असुरोंने क्षीरोदधिका मंथन करके अमृत पिया था, उसी प्रकार श्रामण्य (मुनित्व) रूपी महोदधिका मंथन करके अन्यको दुर्लभ साम्यभावरूपी जो अमृत है उसको भी मैं पिऊं। अपनी आत्मामें मैं अनुभव करूं। मुझे इस गृहस्थाश्रम तथा मनुष्य-जन्ममें जो कुछ प्राप्त करनेलायक था उसको तो प्राप्त कर लिया है, अब तो यही भावना है कि ऊपर कथित अवस्थाको कब प्राप्त करूं और कैसे प्राप्त करूं। 'परदुर्लभं' इसका खुलासा यह है कि वह समतारूपी अमृत अन्य मतोंके अवलंबनसे तो दुर्लभ है ही तो भी बहुतसे जिन समयके ज्ञाताओंके लिए भी दुर्लभ है। केवल परम उपेक्षामय चारित्ररूप यह समताभाव कतिपय जिनानुयायी महात्माओंको प्राप्त होता है।

अब—आगेके पद्यसे और भी इसी प्रकार समताभावके लिये विशद रूपसे वर्णन करते हैं—

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे।
जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(पुरे) नगरमें (अरण्ये) वनमें (मणौ) मणिमें (रेणौ) धूलिमें (मित्रे) मित्रमें (शत्रौ) शत्रुमें (सुखे) सुखमें (असुखे) दुखमें (जीविते) जीवनमें (मरणे) मरणमें (मोक्षे) मोक्षमें और (भवे) संसारमें ('अहं') मैं (कदा) किस समय (समधीः) समान बुद्धिवाला (स्यां) होऊंगा?

भावार्थ—मैं चातुर्वर्ण्यके अधिष्ठानका आचार और प्रीतिके कारणभूत (रागके कारण) नगरमें और इसीके ठीक विपरीत अप्रीतिके निमित्तभूत वनमें, समताभाववाला कब होऊंगा तथा रत्न और धूलीमें, हित करनेवाले मित्र और अपकार करनेवाले शत्रुमें, आल्हादकारक सुख और देह तथा मनमें संताप उत्पन्न करनेवाले दुःखमें, सब पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए उपायभूत जीवनमें और ठीक इसीके विपरीत मरणमें, अधिक कहांतक कहूं अनन्त सुखमय मोक्षमें और उसके विपरीत जो संसार है उसमें समानभाव रखनेवाला—समताभाव रखनेवाला कब होऊंगा, उसी प्रकारकी भावना भावे। यहांपर इतनी-

विशेषता समझना चाहिये कि नगर और वन आदिमें तो औरोंकी भी समभावना होसकती है परन्तु मोक्ष और संसारमें समता परम वैराग्यसे ही होती है (निर्विकल्पक ध्यानसे ही होती है) कहा है कि—मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः। और मुनियोंमें श्रेष्ठ जो मुनि होते हैं वे ही परम वैराग्यके कारण मोक्ष और संसार तथा संपूर्ण चराचरकी विरोधी वातोंमें निस्पृह होते हैं।

अब—आगे यतिधर्मकी परम सीमाकी प्राप्तिकी भावना करता है, यह बताते हैं—

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः।
कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः) मोक्षमार्गमें लगे हुये मुनियोंकी क्रियाओंके समूहको पालन करनेके द्वारा चकित कर दिया है बहिरात्मा लोगोंको जिसने ऐसा होकरके (आत्मदृक्) आत्मदर्शी होता हुआ ('अहं') मैं (कदा) किस समय (समरसस्वादिनां) समतारूपी रसका आस्वादन करनेवाले मुमुक्षुओंकी (पंक्ति) श्रेणीको (लप्स्ये) प्राप्त होऊंगा?

भावार्थ—जिन्होंने मोक्षकी प्राप्तिके लिए निमित्त जो क्रियाकांड है अर्थात् गुरुकुलका निवास, आतापनयोग वगैरह कायक्लेशरूप तपसे बहिरात्माओंको (जिनको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें बहिरात्मा कहते हैं) विस्मयमें डाल दिया है, अपने द्वारा असाध्य कर्मोंका सद्भाव दूसरोंमें देखकर आश्चर्य होता है। अतः आत्मदृष्टि साधुओंके सम्यग्दर्शनपूर्वक कायक्लेशादि दुर्द्धर जो तप हैं उनसे बहिरात्मा चकित होजाता है, आश्चर्यमें पड़ता है। इसप्रकारका आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला आत्मदर्शी तपस्वी बनकर ध्यान ध्याता और ध्येयमें अभेद्य दृष्टि धारण करनेवाले जो निर्विकल्पक योगी हैं, जिन्हें शास्त्रमें घटमान योगवाले योगी अथवा निष्पन्न योगवाले योगी कहते हैं उनकी पंक्तिमें बैठनेका सौभाग्य मैं कब प्राप्त करूंगा, उन जैसी वृत्तिको कब पाऊँगा इस प्रकारकी भी भावना भावे।

अब—आगे योगकी परम काष्ठाकी प्राप्तिकी भावना करते हैं, यह बताते हैं—

शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुद्ध्याऽनडुन्मृगैः।
उद्घृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(शून्यध्यानैकतानस्य) निर्विकल्पक समाधिमें लीन होनेवाले तथा (स्थाणुबुद्ध्या) काष्ठविशेषकी वुद्धिसे (अनुडुन्मृगैः) गाय बैल और मृगोंके द्वारा (उद्घृष्यमाणस्य) अच्छी तरहसे खुजाये जानेवाले (मम) मेरे (दिवसा) दिन (कदा) किस समय (यास्यन्ति) वीतेंगे।

भावार्थ—जब मैं नगरके बाहर तत्वज्ञान और वैराग्यसंपन्न होकर कायोत्सर्ग धारण करूं और निर्विकल्पक समाधिमें लीन होऊं उस समय अपनी इच्छानुसार विचरनेवाले जो वृषभादि जानवर हैं वे अपनी खाज खुजानेके लिये मुझे स्थाणु (ठूंठ) समझकर मेरे देहसे अपनी खाज खुजावें तथा

यदि मैं जंगलमें उक्त प्रकारसे कायोत्सर्ग करूं तो हरिणादि मृग भी मुझे ठूंठ समझकर अपनी खाज खुजावें ऐसे योगाभ्यासकी परमसीमाको प्राप्त दिन कब आवेंगे, इस प्रकारसे भी मनोरथ महाव्रती श्रावकके होते हैं।

अब—आगे चतुर्दशीकी रातमें प्रोषधोपवासको लेकर नगरके बाहर कायोत्सर्ग करते हुए उपसर्गके द्वारा अविचलित प्राचीन प्रतिमायोगधारी श्रावकोंकी प्रशंसा करते हैं—

धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन्।
तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः॥ ४४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (गृहिणोऽपि) गृहस्थ होकरके भी (तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते) शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गोंके आनेपर (जिनधर्मतः) जिनधर्मसे (न अचलन्) चलायमान नहीं हुये (ते) वे (जिनदत्ताद्याः) सेठ जिनदत्त वगैरह (धन्याः) धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं।

भावार्थ—शास्त्र प्रसिद्ध प्रोषधोपवास व्रतधारी वे जिनदत्त शेठ, वारिषेणकुमार आदि श्रावक भी धन्य हैं, जो शस्त्रप्रहार आदि घोर उपसर्ग आनेपर भी जिनोक्त धर्मसे तथा जिनसेवित सामायिकसे विचलित नहीं हुए हैं।

अब—व्रत प्रतिमाका उपसंहार करते हुए उस प्रतिमाधारीके फलविशेषका वर्णन करते हैं—

इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि।
स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्षश्रीर्घ्येव वरस्रजम्॥ ४५॥

अव—(इति) इसप्रकार (आहोरात्रिकाचारचारिणि) दिनरात सम्बन्धी सम्पूर्ण आचारको आचरण करनेवाले अर्थात् दिन और रात्रिकी सम्पूर्ण क्रियाओंका पालन करनेवाले (व्रतधारिणि) व्रतधारी पुरुषमें अर्थात् व्रतधारी पुरुषके गलेमें (स्वर्गश्रीः) स्वर्गरूपी लक्ष्मी (मोक्षश्रीर्घ्या इव) मोक्षरूपी लक्ष्मीकी ईर्षासे ही मानो (वरस्रजं) वरमालाको (क्षिपते) डाल देती है।

भावार्थ—इसप्रकार छट्ठे अध्यायमें वर्णित महाश्रावककी दिनचर्याके अनुसार चलनेवाले व्रतप्रतिमाधारीके गलेमें स्वर्गश्री मोक्षश्रीकी ईर्ष्यासे ही मानो वरमाला डालती है। सारांश यह है कि जैसे कोई कुलीन कन्या अपने मातापिताकी अनुज्ञासे 'मेरे अभीष्ट पतिको कोई दूसरी कन्या न वर लेवे' इस ईर्षबुद्धिसे उसके गलेमें जल्दीसे वरमाला डालती है, उसीप्रकार इस अध्यायमें वर्णित अहोरात्रिके आचारसे संपन्न व्रतप्रतिमाधारीके गलेमें "इसे मोक्षलक्ष्मी न वर लेवे" ऐसी ईर्ष्यासे शीघ्रतासे वरमाला डालती है।

इस प्रकार पण्डितप्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृत नामक ग्रन्थकी सागारधर्मको प्रकाशित करनेवाली 'भव्य.कुमुदचन्द्रिका' नामकी टीकामें आदिसे चौदहवां अध्याय और सागारधर्म प्रकरणके अनुसार छट्ठा अध्याय समाप्त होगया।

सातवाँ अध्याय ।

अब—आगे सामायिकादिक शेष नौ प्रतिमाओंका वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे पहले दूसरी प्रतिमामें जो सामायिक शील माना गया था वह तीसरी प्रतिमामें व्रत है यह बताते हैं—

सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः ।
भजंस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः) निरतिचार सम्यग्दर्शन, मूलगुण तथा उत्तरगुणोंके समूहके अभ्याससे विशुद्ध होगई है बुद्धि जिसकी ऐसा और (कृच्छ्रेऽपि) उपसर्गादिक कष्टोंके आनेपर भी (त्रिसन्ध्यं) तीनों सन्ध्याओंमें (साम्यं) समता परिणामोंको (भजन्) सेवन करनेवाला ('व्रतिकः') व्रती श्रावक (सामायिकी) सामायिक प्रतिमावाला (भवेत्) होता है।

भावार्थ—मोह और क्षोभसे रहित आत्माके परिणामोंको साम्य किंवा सामायिक कहते हैं। मिथ्यात्वजनित भावोंका नाम मोह है और कषायजनित भावोंका नाम क्षोभ है। इन दोनों प्रकारके विकारोंसे रहित आत्मपरिणामका आत्मसात् करना सामायिक है।

पहली और दूसरी प्रतिमामें जो निरतिचार सम्यग्दर्शन और श्रावकके निरतिचार मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालनेके पुनः पुनः अभ्याससे जिसने अपनी बुद्धिको विशुद्ध बना लिया है और जो तीनों ही कालमें सामायिक करते समय किसी भी प्रकारके उपसर्ग और परीषहके आने पर समताभावसे च्युत नहीं होता है वह सामायिक प्रतिमावाला कहलाता है।

अब—व्यवहार सामायिककी विधि बताकर निश्चय सामायिककी आराधनाको विधेयरूपसे बतलाते हैं—

कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म सन्ध्यात्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति सामायिकी कस्य स न प्रशस्यः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सन्ध्यात्रयेऽपि) तीनों ही सन्ध्याओंमें (यथोक्तं) यथोक्त विधिसे अर्थात् जिस प्रकारसे आगममें कहा है उसी प्रकारसे (कृतिकर्म) वन्दना कर्मको (कृत्वा) करके (यावन्नियमं) नियम पर्यन्त अर्थात् सामायिककी प्रतिज्ञाका काल समाप्त होनेतक (वज्रपाते अपि) वज्रके गिरनेपर भी (समाधेः) समाधिसे (जातु) कभी भी (न अपैति) च्युत नहीं होता है (सः) वह (सामयिकी) सामायिक प्रतिमावाला श्रावक (कस्य न प्रशस्यः) किसको प्रशंसाके योग्य नहीं है?

भावार्थ—रत्नत्रयकी एकाग्रता अर्थात् अभेदवृत्तिको योग, समाधि या निश्चय सामायिक कहते हैं। जो तीनों संध्याओंमें अपने सामायिकके कालतक यथोक्त कृतिकर्म करके अर्थात् पूर्व प्रतिपादित

योग्य काल, योग्य आसन आदि पूर्वक सामायिक करनेकी जो विधि बतलाई है उस कृतिकर्म या वन्दनाकर्मको करके वज्रके पात होनेपर भी जो अपने निश्चय सामायिकसे कभी च्युत नहीं होता है वह सामायिक प्रतिमावाला किसके द्वारा प्रशंसाके योग्य नहीं है? अर्थात् सामायिक पालनेके इच्छुक और व्रतानुरागी इन्द्रादिकके द्वारा भी वन्दनीय हैं। श्लोकमें आये हुए अपि शब्दसे तीनों कालोंके अतिरिक्त भी जो सामायिक व्रती अपनी शक्त्यनुसार सामायिक करता है उसमें भी वह उपसर्गादिकसे अविचलित रहता है यह दर्शाया है। अथवा, अपि शब्द उस साम्यभावका द्योतक है कि जिसके कारण भयंकर उपसर्गोंके रहनेपर भी वह समतासे च्युत नहीं होता है।

अब—निश्चय सामायिककी शिखरपर पहुंचे हुओंकी प्रशंसा करते हैं—

आरोपितः सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि।
कलशस्तेन येनैषा भूरारोहि महात्मना॥ ३॥

अन्वयार्थ—(येन महात्मना) जिस महात्माके द्वारा (एषा भूः) यह निश्चय सामायिक प्रतिमा (आरोहि) धारण की गई है (तेन) उस महात्माके द्वारा (सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि) सामायिक व्रतरूपी प्रासादकी—मंदिरकी शिखरके ऊपर (कलशः) कलश (आरोपितः) स्थापित किया गया है।

भावार्थ—जिस महात्माने गणधर, चक्रधर और इन्द्रादिकके द्वारा वांछनीय पूर्वोक्त व्यवहार सामायिकपूर्वक निश्चय सामायिक पालनेकी यह भूमिका प्राप्त करली है उसने दुर्लभ सर्व-साधारणके द्वारा आरोहण करनेके लिये कठिन और इष्ट सिद्धिका मूल कारणरूप अपने सामायिक व्रतरूपी महलके ऊपर कलश चढ़ा लिया है।

अब—चार श्लोकोंसे प्रोषधोपवास प्रतिमाका वर्णन करते हैं—

स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये।
साम्यान्न च्यवते यावत्प्रोषधानशनव्रतम्॥ ४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो श्रावक (प्रतिमात्रये) तीनों प्रतिमाओंमें (सिद्धः 'सन्') सिद्ध होता हुआ अर्थात् उनका निरतिचार पालन करता हुआ (यावत्प्रोषधानशनव्रतं) जबतक प्रोषधोपवास व्रत है तबतक (साम्यात्) सामायिकसे (न च्यवते) च्युत नहीं होता है (सः) वह श्रावक (प्रोषधोपवासी) प्रोषधोपवास प्रतिमावाला (स्यात्) कहलाता है।

भावार्थ—पहली तीन प्रतिमाओंको निर्दोष पालते हुए सोलह प्रहर उपवासके समय तक जो अपने साम्यभावसे च्युत नहीं होता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमावाला है। जबतक प्रोषधोपवासको व्रत-रूपसे स्वीकार न करके व्रतके पोषण करनेरूप शीलरूपसे पाला जाता है तबतक नाम, स्थापना, द्रव्य,

क्षेत्र, काल और भावरूपसे जो छह प्रकारका सामायिक बतलाया है उनमेंसे भाव सामायिकको छोड़कर नामादिक पांच प्रकारके सामायिकमय भावोंसे भी प्रोषधोपवास व्रत पाला जा सकता है। अर्थात् जैसे सामायिक प्रतिमामें सामायिक करते समय समताभावोंकी आवश्यक्ता है उसीप्रकार प्रोषधोपवास व्रतमें सोलह प्रहरतक साम्यभावसे अच्युत वृत्तिकी आवश्यक्ता है।

अब—प्रोषधोपवास व्रतवालेकी सच्ची वृत्तिकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापारः प्रोषधं श्रितः।
चेलोपसृष्टमुनिवद्भाति नेदीयसामपि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(**त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापारः**) छोड़ दिया है चारों प्रकारका आहार, अङ्गसंस्कार और व्यापार जिसने ऐसा (**प्रोषधं श्रितः**) प्रोषधोपवास व्रतको पालन करनेवाला श्रावक (**नेदीयसां अपि**) पार्श्ववर्ती—समीपवर्ती लोगोंको भी (**चेलोपसृष्टमुनिवत्**) वस्त्रके द्वारा उपसर्ग किये गये मुनिकी तरह (**भाति**) प्रतिभासित होता है—मालूम होता है।

भावार्थ—चारों प्रकारके आहारका त्यागी, स्नान, उबटन, चन्दनादिकका लेप, सुगंधित वस्त्राभरणादिकका त्यागी तथा आरम्भ और परिग्रहका त्यागी, सच्चा प्रोषधोपवासी श्रावक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला होनेसे और शरीरादिकसे ममत्वका त्यागी होनेसे पासवर्ती लोगोंकी दृष्टिमें, बंधुओंकी दृष्टिमें और विशेषतः अन्य अपरिचित लोगोंकी दृष्टिमें वस्त्रके उपसर्गसे युक्त मुनिके समान गिना जाता है।

अब—सामायिक और प्रोषधोपवासमें प्रतिमापना कैसे आता है इसमें युक्ति देते हैं—

यत्प्राक्सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः।
यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**यथा**) जैसे (**यत्**) जो (**सामायिकं**) सामायिक व्रत (**प्राक्**) पहले (**शीलं**) शीलरूपसे था (**तत्**) वही सामायिक व्रत (**प्रतिमावतः**) तीसरी प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके (**व्रतं**) व्रतरूपसे ('**भवति**') होजाता है (**तथा**) वैसे ही (**प्रोषधोपवासोऽपि**) प्रोषधोपवास व्रतको भी समझना चाहिये (**इति**) यही (**अत्र**) सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतके प्रतिमारूप होनेमें (**युक्तिवाक्**) समाधान वचन ('**अस्ति**') है।

भावार्थ—जैसे दूसरी प्रतिमामें सामायिक शिक्षाव्रत है वही सामायिक तीसरी प्रतिमामें मुख्य व्रत माना है और जबतक वह शील है तबतक उसका तीन काल करनेका विधान नहीं है। जैसे खेतीकी रक्षा बाड़ करती है उसीप्रकार सामायिक भी अणुव्रतोंका रक्षक रूपसे सहायक व्रत है, मुख्य व्रत नहीं। उसीप्रकार दूसरी प्रतिमाका प्रोषधोपवास शीलव्रत भी चौथी प्रतिमामें मुख्यताको

प्राप्त होनेके कारण मुख्य व्रत माना जाता है। सारांश यह है कि बारहों ही व्रत दूसरी प्रतिमामें पाले जाते हैं और उनमेंसे यहांपर पांच अणुव्रतोंकी मुख्यता और सात शीलोंकी सहायक वृत्ति मानी जाती है। परन्तु तीसरीमें सामायिक, चौथीमें प्रोषधोपवास व्रत रूपसे स्वीकार किया गया है। यही इन प्रतिमागत शीलों और व्रतोंमें अन्तर है।

अब—उत्कृष्ट प्रोषधोपवासके आराधककी प्रशंसा करते हैं—

निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (दुरितच्छिदे) पापोंको नष्ट करनेके लिये (प्रतिमायोगेन) प्रतिमा योगके द्वारा—मुनियोंके समान कायोत्सर्गके द्वारा (निशां) रात्रिको (नयन्तः) व्यतीत करनेवाले (केनापि) किसीके द्वारा भी (न क्षोभ्यन्ते) समाधिसे च्युत नहीं होते हैं (तान्) उन (तुर्यभूमिगान्) चौथी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंकी ('वयं') हम (नुमः) स्तुति करते हैं।

भावार्थ—जो पापोंके नाश करनेके लिये प्रतिमायोगसे अर्थात् संयमीके समान कायोत्सर्ग विधानसे पर्व रात्रिको व्यतीत करते हैं और किसी भी परीषह और उपसर्गसे क्षुब्ध नहीं होते हैं उन चतुर्थ प्रतिमाधारियोंको हम नमस्कार करते हैं।

अब—सचित्तत्याग प्रतिमाका चार श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(चतुर्निष्ठः 'भूत्वा') पूर्वोक्त चार प्रतिमाओंका निर्दोष रीतिसे पालन करके (अप्रासुकं) प्रासुक नहीं किये गये (हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणादि) हरे अंकुर, हरे बीज, जल, लवण आदि पदार्थोंको (त्यजन्) छोड़नेवाला अर्थात् नहीं खानेवाला (जाग्रत्कृपः) दयामूर्ति ('श्रावकः') श्रावक (सचित्तविरतः) सचित्तत्याग प्रतिमावाला (स्मृतः) माना गया है।

भावार्थ—दयाकी मूर्ति जो पहली चारों ही प्रतिमाओंको निर्दोष पालते हुए सचित्त अंकुर, बीज, पानी, नमक और श्लोकमें आये हुये आदि पदसे सचित्त कन्दमूल, फल, पत्र वगैरह नहीं खाता है वह सचित्तविरत प्रतिमावाला है।

अब—पूर्व श्लोकमें आये हुए 'जाग्रत्कृपः' इस विशेषणका समर्थन करते हैं—

पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽतिऋतीयते।
हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो ('श्रावकः') श्रावक (अर्थवशात्) प्रयोजनके वशसे (पादेनापि) पैरके द्वारा भी (स्पृशन्) हरे अंकुरादिकोंका स्पर्श करता हुआ (अतिक्रतीयते) पाक्षिकादिककी अपेक्षासे अत्यन्त दुखी होता है—ग्लानि करता है अर्थात् अपनी अत्यन्त निन्दा करता है (सः) वह श्रावक (आश्रितानन्तनिगोतानि) आश्रित हैं—मिले हुए हैं अनन्त निगोदिया जीव जिनमें ऐसी (हरितानि) हरी वनस्पतियोंको (किं) क्या (भोक्ष्यते) खावेगा अर्थात् नहीं खावेगा ।

भावार्थ—पांचवीं प्रतिमाधारी श्रावक अनन्त निगोदके आश्रयवाली सचित्त वनस्पतिको प्रयोजनवश यदि पैरसे भी छू ले तो पाक्षिक श्रावकादिककी अपेक्षा अत्यन्त दुखी होता है तो फिर क्या वह इन वनस्पतियोंका भक्षण कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता है, किन्तु भक्षण करनेसे ग्लानि करता है ।

आदिपुराणमें कहा भी है—

सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वंकुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥

ब्राह्मणोंकी स्थापना करते समय भरत चक्रवर्तीसे दयालु श्रावकोंने कहा है कि—हे राजन् ! हमने आगममें यह सुना है कि हरित अंकुरादिकमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं ।

अब—सचित्त त्यागियोंकी प्रशंसा करते हैं—

अहो जिनोक्तिनिर्णीतिरहो अक्षजितिः सताम् ।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(सतां) सज्जन पुरुषोंका (जिनोक्तिनिर्णीतिः) जिनागम सम्बन्धी निश्चय (अहो) बहुत ही आश्चर्य करनेवाला है और (अक्षजितिः) इन्द्रियविजय भी (अहो) बहुत ही आश्चर्य करनेवाला है (यत्) क्योंकि (एते) ये सज्जन पुरुष (अलक्ष्यजन्त्वपि) दिखाई नहीं देते हैं जन्तु जिसमें ऐसी भी (हरित्) हरी वनस्पतिको (असुक्षयेऽपि) प्राणोंके नष्ट होने पर भी न प्सान्ति) नहीं खाते हैं ।

भावार्थ—सचित्त त्यागी श्रावक जिसलिये प्राण जाने पर भी जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई नहीं देते हैं तो भी केवल आगमके कथनके विश्वासवश सचित्त वनस्पतिका भक्षण नहीं करते हैं, उन सज्जनोंका आगमका विश्वास और इन्द्रियोंका विजय वास्तवमें आश्चर्योत्पादक है। तथा आपि शब्दसे यह भी सारांश निकाला जासक्ता है कि जब वे आगमकी आज्ञानुसार इन्द्रियनिरोधपूर्वक वनस्पतिका भक्षण नहीं करते तो फिर जिन वस्तुओंमें अनुमान और प्रत्यक्षसे प्राणियोंके सद्भावनाकी संभावना है उनका कैसे भक्षण कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं कर सकते हैं।

अब—भोगोपभोगपरिमाण नामक शीलमें जो सचित्त भोजन त्यागको अतीचार माना है वह

पांचवी प्रतिमामें व्रत रूपसे स्वीकार किया जाता है। आगे यही बताते हैं—

सचित्तभोजनं यत्प्राङ् मलत्वेन जिहासितम्।
व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्वचकितस्तच्च पञ्चमः॥ ११॥

अन्वयार्थ—(यत् सचित्तभोजनं) जिस सचित्त भोजनको (प्राङ्) पहले ('व्रतिकेन') व्रती श्रावकने (मलत्वेन) अतीचार रूपसे (जिहासितं) छोड़ा था (तच्च) उस सचित्त भोजनको भी (अंगिपञ्चत्वचकितः) प्राणियोंके मरणसे भयभीत (पञ्चमः) सचित्त त्याग प्रतिमाके पालन करनेमें उद्यत श्रावक (व्रतयति) व्रत रूपसे—व्रत समझ करके छोड़ देता है।

भावार्थ—दूसरी प्रतिमामें भोगोपभोगपरिमाण नामका जो गुणव्रत है उस व्रतका एक अतीचार सचित्त भोजनका त्याग भी है। इन्द्रियविजयकी मुख्यतासे उसे ही यहां व्रतरूपसे स्वीकार किया गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सचित्त भोजनका त्यागी पांचवीं प्रतिमावाला प्राणिवधसे इतना डरने लगता है जिससे वह भक्ष्यमाण सचित्त वस्तुका भी त्याग कर देता है। स्वामी समंतभद्रने भोगोपभोगपरिमाण व्रतको अतीचार दूसरे बताकर सचित्त व्रत प्रतिमाका स्वरूप निम्नप्रकार बतलाया है।

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

दयामूर्ति जो श्रावक हरित मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कंद, फूल और बीजोंको नहीं खाता है वह सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक है।

अब—रात्रिभक्त प्रतिमाके स्वरूपको चार श्लोकोंद्वारा बतलाते हुए पहले इसका लक्षण कहते हैं—

स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः।
यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतस्तु सः॥ १२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (प्राग्वृत्तनिष्ठितः 'भूत्वा') पूर्वोक्त पांच प्रतिमाओंके आचारको निर्दोष रीतिसे पालन करके (स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः) स्त्रियोंसे वैराग्य होनेके कारणोंमें एकचित्त होता हुआ (त्रिधा) मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे (अह्नि) दिनमें (स्त्रीं) स्त्रीको (न भजेत्) सेवन नहीं करता है (स तु) वह (रात्रिभक्तव्रतः) रात्रिभक्त व्रतवाला ('श्रावकः') श्रावक ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—शास्त्रोंमें कामदोष, स्त्रीदोष, स्त्रीसंगदोष, अशौच इनका चिन्तवन और आर्य पुरुषोंकी संगति इन पांचोंको स्त्रीसे वैराग्य उत्पन्न होनेका कारण माना है। इन पांचों कारणोंके चिन्तवनमें एकाग्रचित्त करके पहले कही गई पांचों प्रतिमाओंको निरतिचार पालते हुए मन, वचन,

काय और कृत कारित अनुमोदनासे जो दिनमें स्त्रीका सेवन नहीं करता है वह रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा-वाला श्रावक है।

अब—छठवीं प्रतिमाधारीकी प्रशंसा करते हैं—

अहो चित्रं धृतिमतां सङ्कल्पच्छेदकौशलम्।
यन्नामापि मुदे साऽपि दृष्टा येन तृणायते ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(यन्नामापि) जिस स्त्रीका नाम भी (मुदे) आनन्दके लिये ('भवति') होता है ऐसी (दृष्टा अपि) चक्षुके द्वारा देखी गई भी (सा) वह स्त्री (येन) जिस मनोव्यापारके निरोधकी सामर्थ्यसे (तृणायते) तृणके समान मालूम होती है ('तत्' धृतिमतां सङ्कल्पच्छेदकौशलं) वह धैर्यशाली पुरुषोंकी मनोव्यापारके निरोधकी सामर्थ्य (अहो चित्रं) बहुत ही आश्चर्य करनेवाली है।

भावार्थ—अहो! छठी प्रतिमाधारी विलक्षण धृतिके धारक श्रावकोंका कितना उत्तम मनोनिग्रह है कि जिस स्त्रीके नामके श्रवणमात्रसे लोगोंको आनन्दकी कल्पना होती है उसको वे प्रत्यक्ष देखते हुये भी तृणवत् मानते हैं। अर्थात् उन्हें वह भोग्यरूपमें प्रतिभासित नहीं होती है।

अब—रात्रिमें भी मैथुनके त्यागका उपदेश देते हैं—

रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि।
भजन्ति वशिनः कान्तां न तु पर्वदिनादिषु ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(वशिनः) इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले पुरुष (रात्रौ अपि) रात्रिमें भी (ऋतौ-एव) ऋतुकालमें ही और (ऋतौ अपि) ऋतुकालमें भी (सन्तानार्थं एव) सन्तानके लिये ही (कान्तां) स्त्रीको (भजन्ति) सेवन करते हैं (तु) किन्तु (पर्वदिनादिषु) अष्टमी आदि पर्वके दिनोंमें तो ('कथमपि') किसी भी तरह (कान्तां न भजन्ति) स्त्रीको सेवन नहीं करते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष रात्रिमें स्त्रीका सेवन करते हुए ऋतुकालमें ही करते हैं। और ऋतुकालमें भी संतानके लिये ही करते हैं, विषयसुखकी अभिलाषासे नहीं। संतानके लिये स्त्रीसेवन करते हुए पर्वदिन, अमावस्या, और ग्रहण आदिके अवसरमें कभी भी नहीं करते हैं।

अब—चारित्रसार आदि शास्त्रके मतसे रात्रिभक्त व्रतकी निरुक्ति बताते हुए रत्नकरण्डादि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध रात्रिभक्त व्रतके अर्थको भी बताते हैं—

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह।
निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस ग्रन्थमें (रात्रौ) रात्रिमें (स्त्रीसेवावर्तनात्) स्त्री सेवनका व्रत ग्रहण करनेसे (रात्रिभक्तव्रतः) रात्रिभक्तव्रत (निरुच्यते) कहा जाता है और (अन्यत्र) दूसरे ग्रन्थोंमें

(रात्रौ) रात्रिमें (चतुराहारवर्जनात्) चारों ही प्रकारके आहारको छोड़नेसे (रात्रिभक्तव्रतः) रात्रिभक्तव्रत (निरुच्यते) कहा जाता है।

भावार्थ—चारित्रसार आदि शास्त्रके अनुसार लिखे हुए इस ग्रंथमें रात्रिमें ही स्त्रीकी सेवा करनी चाहिये यह रात्रिभक्त व्रतका अर्थ माना गया है और रत्नकरण्डादि शास्त्रोंमें भक्त शब्दका अर्थ आहार मानकर रात्रिमें चार प्रकारके आहारके त्यागको रात्रिभक्त व्रत कहा है। अर्थात् ग्रंथकारने 'रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं व्रतयति इति रात्रिभक्तव्रतः' ऐसी रात्रिभक्त व्रतकी निरुक्ति की है और रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें 'रात्रौ भक्तं चतुर्विधाहारं व्रतयति प्रत्याख्यायति इति रात्रिभक्तव्रतः' ऐसी निरुक्ति रात्रिभक्तव्रत शब्दकी की है। जैसा कि समंतभद्रस्वामीने कहा है—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभक्तविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥

जिसके मनमें संपूर्ण जीवोंकी दया उत्पन्न होगई है वह रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारका त्याग कर देता है, अतएव रात्रिभक्तविरत प्रतिमावाला कहलाता है।

अब—ब्रह्मचर्य प्रतिमाका वर्णन करते हैं—

तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा।
यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ॥ १६॥

अन्वयार्थ—(तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनाः) उस अर्थात् पूर्वोक्त छह प्रतिमाओंमें कहे गये और उस प्रकारके अर्थात् क्रमसे बढ़ाये गये संयमके अभ्याससे वशमें कर लिया है मनको जिसने ऐसा (यः) जो श्रावक (त्रिधा) मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे (अशेषा योषा) सम्पूर्ण स्त्रियोंको (जातु) कभी भी (न भजति) सेवन नहीं करता है (असौ) वह श्रावक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—पूर्व प्रतिमाओंमें आचरित एकदेश प्राणिसंयम और एकदेश इन्द्रियसंयमके अभ्याससे जिन्होंने अपने मनको स्वाधीन कर लिया है और इसी कारणसे जो देवांगनाएं, तिर्यंचनी और मनुष्यनी तथा उनके चित्रादिकोंको सदैव मन, वचन और कायसे सेवन नहीं करता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है।

अब—ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारीकी प्रशंसा करते हैं—

अनन्तशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम्॥ १७॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (अनन्तशक्तिः) अनन्त शक्तिवाला ('अस्ति') है (इति) यह (श्रुति) श्रुति—आपका उपदेश (वस्तुएव) वास्तविक ही है—यथार्थ ही है किन्तु (स्तुतिः न) स्तुति नहीं है (यत्) क्योंकि (स्वद्रव्ययुक्) आत्मद्रव्यको ग्रहण करनेवाला अर्थात् अपने स्वरूपमें

लीन होनेवाला (आत्मा एव) आत्मा ही (जगज्जेत्रं) संसारके प्राणियोंको जीतनेवाले (स्मरं) कामको (जयेत्) जीतता है ।

भावार्थ—आत्मा अनंत शक्तिवाला है यह कथन सच्चा है, वास्तविक है, स्तुतिरूप नहीं है, क्योंकि अपने ब्रह्ममें लीन होनेवाला ब्रह्मचारी आत्मा अनंत संसारी जीवोंपर विजय प्राप्त करनेवाले जगज्जेता कामको जीतता है अर्थात् अनन्तके विजेता कामको जीतनेसे आत्मलीन आत्मा अनन्त-शक्तिवाला सिद्ध होता है ।

अब—सर्वसाधारणकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य बतलाते हैं—

विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति किङ्करन्त्यमरा अपि ।
क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नाऽपि निर्मलब्रह्मचारिणाम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ— (निर्मलब्रह्मचारिणां) निरतिचार ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेवाले पुरुषोंको (विद्याः) विद्याएँ (च) और (मन्त्राः) मन्त्र (सिद्ध्यन्ति) सिद्ध होजाते हैं तथा उनके सामने (अमरा अपि) देव भी (किङ्करन्ति) नौकरके समान आचरण करते हैं और (नाम्नाऽपि) उनके नामोच्चारण मात्रसे भी (क्रूराः) दुष्ट पुरुष (शाम्यन्ति) शांत होजाते हैं ।

भावार्थ—निर्मल ब्रह्मचारियोंको ही विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं । उनके सामने देव भी किंकर बनते हैं । उनके नाम मात्रसे ब्रह्म, राक्षसादि क्रूर देव शांत होते हैं । श्लोकमें आये हुए अपि शब्दसे यह ध्वनित होता है कि जिनके नामसे क्रूर शान्त होते हैं उनकी स्वयं उपस्थितिके माहात्म्यका कहांतक वर्णन किया जा सकता है ?

अब—प्रसंगवश ब्रह्मचर्याश्रमका वर्णन करते हैं—

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्चोपनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (प्रथमाश्रमिणः) प्रथमाश्रमवाले अर्थात् मौञ्जीबन्धनपूर्वक व्रतको पालन करनेवाले (उपनयादयः पञ्च) उपनयादिक पांच प्रकारके ब्रह्मचारी (प्रोक्ताः) कहे हैं (ते) वे सब (नैष्ठिकात् अन्यत्र) नैष्ठिकके विना, (शास्त्रं) शास्त्रोंको (अधीत्य) पढ़ करके (दारान्) स्त्रियोंको (स्वीकुर्युः) स्वीकार करें—स्वीकार कर सकते हैं ।

भावार्थ—शास्त्र उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक इस प्रकारसे पांच प्रकारके ब्रह्मचारी माने हैं । यज्ञोपवीतके धारक समस्त विद्याओंका अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी हैं । क्षुल्लकरूपसे रहकर आगमका अध्ययन पूरा करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी हैं । विना किसी भेषके अध्ययन करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार

करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी हैं। जो कुमार मुनि वनकर विद्याका अभ्यास करते हैं और दुःसह परीषह, बन्धुजन तथा राजा आदिके कारण अथवा स्वयं मुनिवेशको छोड़कर गृहस्थधर्म स्वीकार कर लेते हैं वे गूढ़ ब्रह्मचारी हैं। तथा चोटीको रखनेवाले, भिक्षासे अपनी आजीविका करनेवाले और देवपूजामें तत्पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं। इन पांचोंमेंसे शेष चार ब्रह्मचारी विवाह कर सकते हैं।

अब—जिनागममें वर्णाश्रम व्यवस्थाका कहां प्रतिपादन है, आगे इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे।
चत्वारोऽङ्गे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(सप्तमे अङ्गे) उपासकाध्ययन नामक सातवें अङ्गमें (वर्णवत्) वर्णकी तरह (क्रियाभेदात्) क्रियाके भेदसे (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (गृही) गृहस्थ (वानप्रस्थः) वानप्रस्थ (च) और (भिक्षुः) भिक्षु इस प्रकार (चत्वारः) चार (आश्रमाः) आश्रम (उक्ताः) कहे हैं।

भावार्थ—किसी शास्त्रोक्त विवक्षित कालमें जहां यथायोग्य तपश्चर्या की जाती है उसे आश्रम कहते हैं। वे वर्णव्यवस्थाके समान क्रियाभेदसे चार प्रकारके हैं। उनका वर्णन उपासकाध्ययन अंगमें किया गया है, जिनका नाम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु है। कहा भी है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिःश्रिताः॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये चार आश्रम सातवें अंगसे निकले हैं। आगे उनका क्रियाभेदसे दिग्दर्शन कराते हैं। उनमें ब्रह्मचारीकी ये क्रियाएं हैं—

गर्भसे आठवें वर्षमें जिनमंदिरमें जिसने जिन देवकी पूजा की है और जिसका मुंडनकर्म होचुका है ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्रको तीन लड़ीका मौंजीबंधन, सात लड़ीका यज्ञोपवीत आदि बाह्य लिंग तथा ब्रह्मचर्य सहित गुरुकी साक्षीपूर्वक विशुद्ध स्थूलहिंसाविरति आदि व्रत धारण कराना चाहिये। आगममें ब्रह्मचारीकी क्रियाका विस्तार इसप्रकार बतलाया है—

शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः।
व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ॥

जिसने चोटी रखली है, जिसने शुक्ल वस्त्रका परिधान किया है, जो लंगोटी लगाता है, जिसका वेष विकार रहित है, जो व्रतके चिह्नरूप सूत्रको धारण करता है वह ब्रह्मचारी है।

चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदास्य वै।
वृत्तिश्च भिक्षयान्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्॥

उस समय इस ब्रह्मचारीका चारित्रके योग्य अथवा दूसरा उचित नाम रक्खा जाता है। और राजकुमारको छोड़कर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षासे अपना उदरनिर्वाह करते हैं।

जो पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानमें स्थित है उसे गृहस्थ कहते हैं। वह गृहस्थ जाति क्षत्रिय और तीर्थ क्षत्रियके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें जाति क्षत्रिय—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे चार प्रकारका है। तीर्थ क्षत्रिय अपनी अपनी आजीविकाके भेदसे अनेक प्रकारका है।

जिन्होंने जिनरूपको धारण नहीं किया है, जो खण्ड वस्त्रको धारण करते हैं और जो निरतिशय तपश्चर्यामें उद्युक्त हैं उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं।

जिनरूपको धारण करनेवाले भिक्षु अनेक प्रकारके होते हैं। उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

> देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रासृद्धि-
> रारूढश्रेणियुग्मो जिनयतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः।
> राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्ति-
> प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥

एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञानके धारी और सकल प्रत्यक्ष ज्ञानके धारीको मुनि कहते हैं। ऋद्धि प्राप्त साधुको ऋषि कहते हैं। दोनों श्रेणियोंपर आरूढ़ साधुको जिन यति कहते हैं। तथा दूसरे साधुवर्गको अनगार कहते हैं। जो विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण महानस ऋद्धिका धारक है उसे राजर्षि कहते हैं। जो बुद्धि ऋद्धि और औषधि ऋद्धिका अधिपति है उसे ब्रह्मर्षि कहते हैं। जो विविध नयोंमें पटु है उसे देवर्षि कहते हैं और जो विश्वका वेत्ता है उसे परमर्षि कहते हैं।

अब—आरम्भत्याग प्रतिमाका स्वरूप दो श्लोकोंमें कहते हैं—

> निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात्करोति न।
> न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—('यः') जो (निरूढसप्तनिष्ठः) पूर्वोक्त सात प्रतिमाओंको निर्दोष रीतिसे पालन करनेवाला ('श्रावकः') श्रावक (अङ्गिघाताङ्गत्वात्) प्राणियोंकी हिंसाके निमित्तसे (कृष्यादीन्) कृषि सेवा आदि कर्मोंको (त्रिधा) मन, वचन, काय तथा कृत कारितसे (न करोति) न स्वयं करता है और (न कारयति) न दूसरोंसे कराता है ('सः') वह श्रावक (आरम्भविरतः) आरम्भत्याग प्रतिमावाला ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—प्राणीघातका कारण होनेसे कृषि सेवा, वाणिज्य आदि व्यापारोंको आरम्भ कहते हैं। किंतु अभिषेक, दान, पूजा आदिको आरम्भ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ये दानादिक प्राणिघातके अंग नहीं हैं। जो पहली सात प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करते हुए मन, वचन, काय और कृत-कारित अनुमोदनासे इस आरम्भका त्याग करता है वह आरम्भत्याग नामकी आठवीं प्रतिमाका धारी श्रावक है। कदाचित् सात प्रतिमाओंको परिपूर्ण रीतिसे पालते हुए भी पुत्रादिकके प्रति अनुमतिके न देनेमें असमर्थ हो तो छह भंगसे भी आरम्भत्याग करनेवाला आरम्भत्याग प्रतिमावाला कहलाता है।

अब—आगे आरम्भत्याग प्रतिमावालेका ही समर्थन करते हैं—

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत् त्यक्तुं भक्तमपीच्छति।
प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः॥ २२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मुमुक्षुः) मोक्षकी इच्छा रखनेवाला ('आरम्भविरतः') आरम्भविरत श्रावक (अघात्) पापसे (बिभ्यत्) डरता हुआ (भक्तं अपि) भोजनको भी (त्यक्तुं) छोड़नेके लिये (इच्छति) इच्छा करता है (असौ) वह आरम्भविरत श्रावक (प्राणिसंहरणीः क्रियाः) जीवोंके नाशको करनेवाली क्रियाओंको (कथं प्रवर्तयेत्) किसप्रकारसे करेगा और करावेगा!

भावार्थ—जो मुमुक्षु पापोंसे डरता हुआ जीवोंके संहारमें कारण पड़नेवाले भोजनके भी त्यागकी सदैव अभिलाषा रखता है वह जीवोंके संहारकी कारणभूत क्रियाओंको कैसे कर सकता है अर्थात् आठवीं प्रतिमावाला श्रावक आरम्भ नहीं कर सकता है।

अब—परिग्रह त्याग प्रतिमाको सात श्लोकों द्वारा बतलाते हैं—

स ग्रन्थविरतो यः प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः।
नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान्॥ २३॥

अन्वयार्थ—(प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः) पूर्वोक्त दर्शन आदि प्रतिमा विषयक व्रतोंके समूहसे स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा (यः) जो ('श्रावकः') श्रावक (एते) ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ (मे न) मेरे नहीं हैं और (अहं) मैं (एतेषां न) इनका नहीं हूं (इति 'संकल्प्य') ऐसा संकल्प करके (परिग्रहान्) वास्तु क्षेत्रादिक दश प्रकारके परिग्रहोंको (उज्झति) छोड़ देता है (सः) वह श्रावक (ग्रन्थविरतः) परिग्रह त्याग प्रतिमावाला ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—पहलेकी आठ प्रतिमाओंका पूर्णरूपमें पालन करनेसे जिसका धैर्य सदैव जागृत है वह क्षेत्र, वास्तु आदि दश बाह्य परिग्रह मेरे भोग्य नहीं हैं और मैं भी इनका स्वामी भोक्ता नहीं हूं, इस प्रकारसे ममकार और अहंकारके त्यागके भावको धारण करके सर्व प्रकारके परिग्रहका त्याग करता है, परन्तु केवल अपने पदके योग्य संयमके साधनोंको रखता है। तथा 'स्वाचाराप्रतिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत्' इस पूर्वोक्त उपदेशको ध्यानमें रखते हुए अपने अपने पदके अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

अब—आगेके श्लोक द्वारा सकल दत्तिका वर्णन करते हैं—

अथाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधम्।
ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्ज्ञातिज्येष्ठसधर्मणाम्॥ २४॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके अनन्तर (प्रशान्) शांतिमें तत्पर नवमी प्रतिमावाला श्रावक

(योग्यं) योग्य अर्थात् अपने भारको चलानेमें समर्थ (सुतं) पुत्रको (वा) अथवा योग्य पुत्रके अभावमें (तथाविधं) योग्य पुत्रके समान (गोत्रजं) भाई या उनके पुत्र आदिको (आहूय) बुला करके (जातिज्येष्ठसधर्मणां) जातिमें जो मुख्य साधर्मी भाई हैं उनके (साक्षात) समक्षमें (इदं) आगे कहे जानेवाले वचनोंको (ब्रूयात्) कहे ।

भावार्थ—श्लोकमें आया हुआ अथ शब्द अधिकारवाचक है अर्थात् अब सकलदत्तिके वर्णनका प्रारम्भ किया जाता है । प्रशमभावका धारक योग्य पुत्र अथवा उसके अभावमें गोत्रज योग्य पुत्रको बुलाकर जातिमें ज्येष्ठ सहधर्मी पुरुषोंके समक्ष यह कहे—

तातायावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः ।
विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(हे तात) हे प्रिय पुत्र ! (अद्य यावत्) आज दिन तक (अस्माभिः) हमने (अयं गृहाश्रमः) इस गृहस्थाश्रमका (पालितः) पालन किया । अब (अद्य) आज (विरज्य) विरक्त होकरके (एनं) इस गृहस्थाश्रमको (जिहासूनां) छोड़नेकी इच्छा करनेवाले (नः पदं) हमारे स्थानको ('स्वीकर्तुं') स्वीकार करनेके लिये (त्वं) तुम (अर्हसि) योग्य हो ।

भावार्थ—हे तात ! अबतक त्रिवर्गका संसाधन है सार जिसमें ऐसा यह गृहस्थाश्रम हमने नवमी प्रतिमा तक चलाया । अब हम संसार शरीर और भोगसे विरक्त होकर इसको छोड़ना चाहते हैं । हमारे इस पदके सम्हालनेके लिये तुम योग्य हो ।

पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः ।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सुविधेः केशवः इव) सुविधि नामक राजाको उनके पुत्र केशवकी तरह (स्वात्मानं) अपनी आत्माको (पुपूषोः) शुद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले (वप्तुः) पिताका (उपस्कुरुते) उपकार करता है ('सः') वह (पुत्रः) पुत्र ('भण्यते') कहलाता है और (अन्यः) इससे भिन्न पुत्र (सुतच्छलात्) पुत्रके बहानेसे (शत्रुः) शत्रु ('अस्ति') है ।

भावार्थ—ऋषभदेवके पूर्वभव सम्बंधी सुविधि राजाकी पर्यायमें उन पूर्वभवकी श्रीमती पत्नीकी पर्यायवाला जीव केशव नामका पुत्र था । सुविधि महाराजके भाव दीक्षा लेनेके थे, परन्तु पुत्रप्रेमवश वे गृहस्थाश्रमको छोड़नेमें असमर्थ थे और श्रावक रहते हुए भी उत्कृष्ट तप तपते थे । कहा भी है—

नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद्गार्हस्थ्यमत्यजन् ।
उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुस्तरम् ॥

सुविधि राजा पुत्रके स्नेहवश गार्हस्थ्य जीवनको न छोड़कर उत्कृष्ट उपासक सम्बंधी कठिन तपश्चर्या करते रहे ।

उस आत्मकल्याणेच्छुक पिताके प्रति जिसने केशवके समान पिताकी आत्माका धर्माराधनमें उपकार किया उसको पुत्र कहते हैं। जो ऐसा नहीं करते वे पुत्रके व्याजसे शत्रु हैं।

अब—आगे इसीका उपसंहार करते हैं—

तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमप्यात्मसात्कुरु।
सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(तत्) इसलिये हे प्रियपुत्र ! (मम) मेरे (इदं) इस (धनं) धनको (धर्म्यं) पात्रदानादिकरूप धार्मिक क्रियाओंको (अपि) और (पोष्यं) पालनपोषण करनेके योग्य स्त्री मातापिता आदिको (त्वं) तुम (आत्मसात्कुरु) अपने आधीन करो (हि) क्योंकि (सा) आगममें कही गई (एषा) यह (सकलदत्तिः) सकलदत्ती (शिवार्थिनां) मोक्षके चाहनेवाले पुरुषोंको (परं) अत्यन्त (पथ्या) पथ्य है—कल्याणकारी है।

भावार्थ—इसलिये धर्मको छोड़कर कमाया हुआ मेरा धन ग्राम सुवर्णादि और पोष्यवर्ग गृहिणी, मातापिता आदि चैत्यालय, पात्रदान आदिको अपने आधीन करो इसीका नाम सकलदत्ति है, जो संसारका परित्याग करते समय योग्य पुत्रको दी जाती है। यह शिवार्थियोंके लिये परम पथ्य मानी गई है।

विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम्।
त्यागक्रमोऽयं गृहिणां शक्त्याऽऽरम्भो हि सिद्धिकृत् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशंकिनां) विदीर्ण किये गये मोहरूपी व्याघ्रके फिरसे उठनेकी शंकाको करनेवाले (गृहिणां अयं त्यागक्रमः) गृहस्थोंके त्यागका यह क्रम है (हि) क्योंकि (शक्त्या) अपनी शक्तिके अनुसार किया गया (आरम्भः) आरम्भ ही (सिद्धिकृत् 'भवति') अभिलषित अर्थको सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—शार्दूलके समान मोहरूपी प्रबल शत्रु फिर न उठ बैठे इसलिये जिन्होंने उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें मोहको विदीर्ण करनेके लिये प्रयत्न किया है, उन गृहस्थोंका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका क्रम क्रमसे प्रकृत त्यागक्रम है सो ठीक ही है, क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया आरम्भ ही इस भव और परभवमें सिद्धिको देनेवाला होता है।

एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये।
किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (सुधीः) तत्वज्ञानी श्रावक (सर्वस्वं) सम्पूर्ण परिग्रहको (व्युत्सृज्य) छोड़ करके (मोहाभिभवहानये) मोहके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिये

(औदास्यं) उपेक्षाको (भावयन्) चिन्तवन करता हुआ (किञ्चित्कालं) कुछ कालतक (गृहे) घरमें (तिष्ठेत्) रहे।

भावार्थ—इसप्रकार तत्वज्ञानसे संपन्न होकर और सर्वप्रकारके परिग्रहको त्यागकर मोहके आक्रमणकी हानिके लिये उदासीनताकी भावना भाते हुए कुछ कालतक घरमें और रहे। 'गृहे तिष्ठेत्' इस वाक्यसे अपने अंगोंके आच्छादनके लिये वस्त्र मात्र धारण करता है तो भी उसके ममता नहीं है यह सिद्ध होता है, क्योंकि वह संगका परित्याग करके घरमें रह रहा है। 'किञ्चित्कालं' इस पदसे श्वेताम्बर परिकल्पित प्रतिमाओंके कालका निराकरण किया है।

अब—सात श्लोकोंद्वारा अनुमति त्याग प्रतिमाके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरतः त्रिधा।
यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (नवनिष्ठापरः) पूर्वोक्त नौ प्रतिमाओंके पालन करनेमें तत्पर ('श्रावकः') श्रावक (त्रिधा) मन वचन कायसे (ग्रन्थं) धन—धान्यादिक परिग्रहको (आरंभं) कृष्यादिक आरम्भको (च) और (ऐहिकं) इस लोक सम्बन्धी विवाहादिक (कर्म) कार्योंकी (न अनुमोदते) अनुमोदना नहीं करता है अर्थात् उक्त कार्योंके विषयमें अपनी अनुमतिको नहीं देता है (सः) वह श्रावक (अनुमतिव्युपरतः) अनुमति त्याग प्रतिमावाला ('भवति') कहलाता है।

भावार्थ—जो पूर्वोक्त नौ प्रतिमाओंको पूर्ण पालते हुए धन—धान्यादिक परिग्रह, कृषि आदि व्यापार और विवाहादिक ऐहिक कर्मकी अनुमोदना मन वचन और कायसे नहीं करता है उसे अनुमतिविरत श्रावक कहते हैं।

अब—दशवीं प्रतिमाकी विधिको बतलाते हैं—

चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात्।
ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽश्नीयाद् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह अनुमतित्याग प्रतिमावाला श्रावक (चैत्यालयस्थः) चैत्यालयमें स्थित होता हुआ (स्वाध्यायं) स्वाध्यायको (कुर्यात्) करे और (मध्याह्नवन्दनात् ऊर्ध्वं) मध्याह्न वन्दनाके बादमें (आमन्त्रितः) बुलाये जानेपर (स्वस्य गृहे) अपने पुत्रादिकके घरमें (वा) अथवा (परस्य गृहे) जिस किसी धार्मिक पुरुषके घरमें (अश्नीयात्) भोजन करे।

भावार्थ—दशवीं प्रतिमाधारी श्रावक चैत्यालयमें निवास करे और घरके अथवा सहधर्मी जनके आमन्त्रण देनेपर मध्याह्न सामायिकके पहले भोजनको जावे।

अब—जब यह भोजन करता है तब उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाकी भावना भाता है। यह दो श्लोकोंसे बतलाते हैं—

यथाप्राप्तमदन्देहसिद्ध्यर्थं खलु भोजनम्।
देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥ ३२ ॥
सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः।
कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥ (युग्मम्)

अन्वयार्थ—(मुमुक्षुभिः) मोक्षको चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा (देहसिद्ध्यर्थं) शरीरकी रक्षाके लिये (भोजनं) भोजनकी (च) और (धर्मसिद्ध्यर्थं) धर्मकी सिद्धिके लिये (देहः) शरीरकी (खलु) निश्चयसे (अपेक्ष्यते) अपेक्षा की जाती है किन्तु (सावद्याविष्टं) सावद्य कर्मसे मिले हुए (उद्दिष्टं) उद्दिष्ट आहारको—अपने निमित्तसे बनाये गये आहारको (अश्नतः) खानेवाले (मम) मेरे (सा) वह धर्मकी सिद्धि (कथं स्यात्) किसप्रकारसे होगी अर्थात् किसी भी प्रकारसे नहीं होगी ('तत्') इसलिये ('अहं') मैं (कर्हि) किस समय (भैक्ष्यामृतं) भिक्षारूपी अमृतको (भोक्ष्ये) खाऊंगा (इति च) इसप्रकार (यथा प्राप्तं अदन्) कर्मके अनुसार प्राप्त हुए आहारको खानेवाला (जितेन्द्रियः) दशमी प्रतिमाधारी जितेन्द्रिय श्रावक (इच्छेत्) इच्छा करे।

भावार्थ—यह श्रावक जो कुछ शुद्ध भोजन मिलता है उसे खाता है क्योंकि देहकी स्थितिके लिये भोजन और देहकी सिद्धि रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुओंके द्वारा भी अपेक्षित होती है। इस उद्दिष्ट सावद्य भोजनको करते हुए यह धर्म सिद्धि कैसे होसकती है जो निर्दोषताके ऊपर निर्भर है तथा वह यह भी चिंतवन करता है कि मैं यह पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अजर अमर पदका कारण भिक्षाभोजनरूपी अमृतका कब पान करूँगा?

अब—इसीकी गृहत्याग विधिको कहते हैं—

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात्।
आपृच्छेत गुरून् बन्धून् पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो) पञ्चाचारके पालन करनेमें तत्पर और (गृहात्) घरसे (निष्क्रमिष्यन्) निकलनेकी इच्छा करनेवाला (असौ) यह श्रावक (गुरून्) गुरुओंसे (बन्धून्) बन्धुओंसे (च) और (पुत्रादीन्) पुत्रादिकोंसे (यथोचितं) यथायोग्य (आपृच्छेत्) पूछे।

भावार्थ—यह श्रावक द्रव्य और भावरूप घरसे निकलते समय पञ्चाचार क्रिया सहित होकर यथायोग्य रीतिसे गुरु, बन्धु और पुत्रादिकसे पूछे। उसकी विधि यह है—

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्रासार, तपाचार और वीर्याचार ये पांच आचार हैं—(१) काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय। इन आठ प्रकारके अङ्गोंसे युक्त हे ज्ञान! तुम निश्चयसे समझो कि तुम शुद्धात्माके नहीं हो, तुम्हारा आश्रय हम तभीतक लेते हैं जबतक शुद्धात्माकी प्राप्ति हमें नहीं हुई है। तुम मार्ग हो, साध्य नहीं। इसीप्रकार पांचों आचारोंका चिन्तवनमें

विचार करना चाहिये। (२) हे निःशङ्कित आदि अङ्गसहित सम्यग्दर्शनाचार ! (३) हे पञ्च महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति लक्षण त्रयोदशविध चारित्राचार ! (४) हे अनशनादि छह बहिरङ्ग तप और प्रायश्चितादि छह अन्तरङ्ग तपलक्षण तपाचार ! और (५) समस्त इतर आचार प्रवर्तक और अपनी शक्तिको नहीं छिपानेरूप वीर्याचार ! तुम तभीतक हो जबतक हमने शुद्धात्माको नहीं पाया, इसप्रकार चिंतवन करे। इसीप्रकार हे मेरे शरीरकी माता, पिता, स्त्री और पुत्रके आत्मन् ! तुम अपने अन्तरङ्गमें समझो कि मैं वास्तवमें तुम्हारा नहीं हूं इसलिये मुझे छोड़ो, मुझमें मोह मत करो। इसप्रकारसे यह आत्मा शुद्धात्मोपलब्धिकी ओर गृहत्याग करके चढ़ता है।

अब—विनयाचारके भेद अनगारधर्मामृतमें विस्तारसे कहे हैं। यहां पर उनका जल्दीसे स्मरण हो इसलिये पुनः संक्षेपमें कहते हैं—

सदृङ्निवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(मुमुक्षोः) मोक्षकी इच्छा रखनेवाले श्रावकका (सुदृङ्निवृत्ततपसां) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपको (निर्मलीकृतौ) निर्मल करनेमें अर्थात् तत्सम्बन्धी दोषोंको दूर करनेमें ('यः' यत्नः) जो प्रयत्न है ('सः' विनयः भण्यते) वह विनय कहलाता है (तु) और (वीर्यात) अपनी शक्तिके अनुसार (शुद्धेषु तेषु) निर्मल किये गये उन सम्यग्दर्शनादिकमें ('यः' यत्नः) जो प्रयत्न है ('सः' आचारः) वह आचार ('भण्यते') कहलाता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निर्मल करनेके लिए यत्नका नाम विनय और निर्मलताको प्राप्त इन चारोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर जो यत्न किया जाता है उसका नाम आचार है। इस कथनसे पांचवा वीर्याचारका अभिप्राय दिखाया है।

अब—आगे नवमी प्रतिमाका उपसंहार करते हैं—

इति चर्यां गृहत्यागपर्यन्तां नैष्ठिकाग्रणीः।
निष्ठाय साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(नैष्ठिकाग्रणीः) नैष्ठिक श्रावकोंमें मुख्य अर्थात् अनुमतिविरति प्रतिमावाला श्रावक (इति) पूर्वोक्त कथनानुसार (गृहत्यागपर्यन्तां) गृहका त्याग है अन्तमें जिसके ऐसे (चर्याम्) गृहस्थाचारको (निष्ठाय) समाप्त करके (साधकत्वाय) आत्मशुद्धिके लिये (पौरस्त्यम्) आगेके (पदम्) स्थानको अर्थात् उद्दिष्ट त्याग दशमी प्रतिमाको (आश्रयेत्) स्वीकार करे।

भावार्थ—दशमी प्रतिमा नैष्ठिक श्रावकका उत्कृष्ट स्थान है। यहांपर श्रावकका नैष्ठिकपना पूरा होजाता है। इस पदको पूर्ण करके दशमी प्रतिमावाला श्रावक साधकत्वकी प्राप्तिके लिये अर्थात् आत्मशुद्धिके लिये ग्यारहवीं प्रतिमा—उद्दिष्टविरतिको ग्रहण करनेके लिये प्रयत्नशील हो।

अब—आगे तेरह श्लोकों द्वारा उद्दिष्टविरति नामक ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन करते हैं—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः ।
उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः) उन पूर्वोक्त व्रतरूपी अस्त्रोंके प्रहारसे अत्यन्त नष्ट होकरके भी श्वास लेता हुआ है मोहरूपी महाभट जिसके ऐसा (अन्तिमः) अन्तिम (उत्कृष्टः) उत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला (श्रावकः) श्रावक (उद्दिष्टं) अपने उद्देशसे बनाये गये (पिण्डम्) भोजनको (अपि) और उपाधि शयन और आसनादिकको भी (उज्झेत्) जो त्याग देता हैं वह उद्दिष्टविरत श्रावक कहलाता है ।

भावार्थ—पहिले दशमी और ग्यारहवीं प्रतिमाको उत्कृष्ट श्रावक और भिक्षु यह विशेषण दिये जाचुके हैं और इस श्लोकमें केवल ग्यारहवीं प्रतिमाको उत्कृष्ट कहा है । सो यहां पर अन्तिम दोनों प्रतिमाओंको उत्कृष्ट कहनेमें एवंभूतनयकी अपेक्षा है ऐसा समझना चाहिये ।

चारित्र मोह रूपी महाभटके उपर पूर्वोक्त दश प्रतिमारूपी तीक्ष्ण अस्त्रोंका प्रहार जिसने किया है तथापि मुनि होनेके लिये उस मोहको प्रतिबन्धक होनेसे वह दशमी प्रतिमाधारीके श्वास भर रहा है। अतः उसके उन्मूलनके लिये जो उद्दिष्ट भोजनको भी नहीं ग्रहण करता है तथा 'अपि' शब्दसे आसनादिकको भी ग्रहण नहीं करता है किंतु मुनीके समान अनुद्दिष्ट भोजनादिकको ही ग्रहण करता है वह अन्तिम श्रावक है ।

अब—उसके भेद बतलाते हैं—

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीनसंव्यानः कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह उद्दिष्टविरत श्रावक (द्वेधा) दो प्रकारका है–(१) क्षुल्लक और (२) ऐलक। इनमेंसे (प्रथमः) पहिला (क्षुल्लक) (सितकौपीनसंव्यानः) केवल एक सफेद रङ्गकी लंगोटी और एक ओढ़नेको वस्त्र धारक होता हुआ (श्मश्रुमूर्धजान्) अपने दाढ़ी मूछ व सिरके बालोंको (कर्त्तर्या वा) कैंचीसे अथवा (क्षुरेण वा) छुरासे (अपनाययेत्) अलग करे ।

भावार्थ—ग्रन्थकारने ग्यारहवीं प्रतिमाके प्रथम और द्वितीय ऐसे दो भेद किये हैं । क्षुल्लक और ऐलक इन नामोंसे नहीं किये हैं परन्तु ग्रंथकारका अभिप्राय क्षुल्लक और ऐलककी वृत्तिके प्रतिपादनका ही है । उनमेंसे प्रथम अर्थात् क्षुल्लक सफेद लंगोटी और चद्दर रखे । यथासंभव कैंची वा छुरेसे अपनी मूछ, डाढ़ी और सिरके बालोंको बनवाये। छुरेकी अपेक्षा कैंचीसे बालोंको कटवाना श्रेयस्कर है । क्योंकि उसके बालोंकी शोभाकी इच्छा नहीं होती । इसके कांख आदिके बालोंके कटवानेका विधान नहीं है।

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (मृदूपकरणेन) कोमल प्राणियोंको बाधा नहीं पहुंचानेवाले उपकरण–कोमल वस्त्र आदिसे (स्थानादिषु) स्थान आदिकको (प्रतिलिखेत्) शुद्ध करे, और (चतुष्पर्व्यां) प्रत्येक मासकी दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी इसप्रकार चारों पर्व–दिनोंमें (चतुर्विधम्) चार प्रकारके खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय पदार्थके त्यागरूप (उपवासम्) उपवासको (कुर्यात्) करे।

भावार्थ—जैसे मुनि पिछी रखते हैं उससे जीवोंकी विराधनाका बचाव होता है उसीप्रकार क्षुल्लक बैठते समय सोते समय या पुस्तकादिके उठाते धरते समय मृदु वस्त्रसे जीवोंकी विराधनाको बचावे अर्थात् जमीन वगैरहकी मृदु वस्त्र आदिसे शुद्धि करके आसनादिका उपयोग करे। और चार पर्व सम्बन्धी उपवासोंको जरूर करे। वह अतिथि (मुनि) की तरह पर्वोपवाससे सम्बन्ध नहीं छोड़ सकता है।

अब—क्षुल्लक एक भिक्षा नियम और अनेक भिक्षा नियम ऐसे दो प्रकारके होते हैं, उनमेंसे अनेक भिक्षा नियमवालेके कर्तव्य बताते हैं—

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥ ४० ॥

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा।
मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥ ४१ ॥

निर्गत्याऽन्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥ ४२ ॥

प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम्।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥ ४३ ॥ (कलापकं)

अन्वयार्थ—(सः) वह क्षुल्लक (समुपविष्टः) निश्चल बैठकर (पाणिपात्रे) अपने हाथरूपी पात्रमें (अथ) अथवा (भाजने) बर्तनमें (स्वयं) अपने आप (अद्यात्) भोजन करे। किस विधिसे? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर उत्तर देते हैं कि–(पात्रपाणिः) भोजनका एक पात्र अपने हाथमें लेकर (श्रावकगृहं) श्रावकके घर (गत्वा) जाकर (तदङ्गणे) उसके आंगनमें अर्थात् मकानके सामने जहांतक हरएक जा सकता है वहां (स्थित्वा) खड़े होकर (धर्मलाभं) धर्मलाभ हो, ऐसा वचन (भणित्वा) बोलकर (वा) अथवा (मौनेन) मौनपूर्वक (अङ्गं दर्शयित्वा) अपना शरीर मात्र

दिखाकर (भिक्षां) भिक्षाकी (प्रार्थयेत) प्रार्थना करे। (लाभालाभे समः) भिक्षा वहां मिले या न मिले दोनों दशाओंमें अपना समभाव रखकर (अचिरात्) शीघ्र ही अर्थात् वहां बहुत समय खड़ा न रहकर (निर्गत्य) निकलकर (अन्यत् गृहं) दूसरे किसी श्रावकके घर (गच्छेत्) जावे। (भिक्षोद्युक्तः) भिक्षा लेनेके लिए उद्यत वह क्षुल्लक (तु) यदि (केनचित्) किसी श्रावकके द्वारा (भोजनाय) भोजन करनेके लिए (आर्थितः) प्रार्थित किया जावे, तो (यत्) जो भोजन (मनाक्) थोड़ासा (भिक्षितं) पहिले किसी श्रावकके घरसे अपने वर्तनमें प्राप्त हुआ था उसे (भुक्त्वा) भोजन करके (अद्यात्) भोजन करे (अन्यथा) यदि किसी श्रावकने भोजन करनेकी प्रार्थना नहीं की हो तो (यावत्) जहांतक (स्वोदरपूरणीम्) अपने उदरपूरणके योग्य भोजन मिले वहांतक ही (भिक्षां) भिक्षान्नकी (प्रार्थयेत्) याचना करे। और (यत्र) जिस श्रावकके घर (प्रासु अम्भः) प्रासुक गर्म जल (लभेत्) मिले (तत्र) वहांपर (ताम्) मिली हुई भिक्षाको (संशोध्य) अच्छी तरह शोधन करके (चरेत्) स्वादकी लालसा न रखता हुआ खावे।

भावार्थ—क्षुल्लक बैठकर पात्रमें भोजन करे अथवा हाथमें श्रावकके द्वारा अर्पित भोजन करे। यह क्षुल्लक अपने हाथमें पात्र लेकर भिक्षाको निकले। श्रावकके घर जावे, धर्मलाभ करे और भिक्षाकी याचना करे। अथवा मौनसे श्रावकके आंगनमें केवल खड़ा होकर भिक्षाकी प्रार्थना करके चला आवे। भोजनके मिलने अथवा न मिलनेपर किसी प्रकारका हर्ष विषाद न करे, रागद्वेष न करे। और दूसरे घर जावे। यदि बीचमें कोई श्रावक भोजनके लिये रोके—प्रार्थना करे तो उसके घरपर भी भोजन करे। परन्तु इतना ध्यान रहे कि पहले जो भिक्षा प्राप्त की है उसे शोधकर खानेके बाद भोजन करे। यदि किसीने बीचमें न रोका हो तो शरीरके लिये जितनी भिक्षा आवश्यक है उसकी पूर्ति जबतक न हो तबतक भिक्षाके लिये श्रावकोंके यहां जावे तथा जहांपर प्रासुक जल मिले वहां संशोधन करके भोजन करे।

आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—वह क्षुल्लक (संयमं) अपने संयमकी रक्षा करनेकी (आकांक्षन्) इच्छा करता हुआ (भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु) अपने भोजनके पात्रको धोने आदिके कार्यमें (अदर्पः) अपने तप विद्या आदिका गर्व न करता हुआ (स्वयं च यतेत) स्वयम् ही यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करे। (परथा) नहीं तो (महान् असंयमः) प्रमादजन्य बड़ा भारी असंयम हो जायगा।

भावार्थ—क्षुल्लक संयमकी रक्षाके लिये भिक्षापात्रका माजना और आसनादिककी स्वच्छता स्वयं करे। शिष्यादिकसे नहीं करावे। यदि वह स्वयं इनमें प्रयत्न न करे तो प्रमादजनित असंयम होगा। क्योंकि प्राणी गणकी रक्षा जैसे स्वयं की जासकती है वैसी शिष्यादिकसे संभव नहीं है।

ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) आहार लेनेके बाद (गुरूपान्तम) गुरुके पास (गत्वा) जाकर (विधिवत्) विधिपूर्वक (चतुर्विधम् प्रत्याख्यानम्) चारों प्रकारके आहारका त्याग (गृह्णीयात्) ग्रहण करे । तथा (गुरोः पुरः) अपने गुरुके सम्मुख (सर्वं) आहारके लिये जानेके समयसे लेकर आने तककी सम्पूर्ण क्रियाओं और तत्सम्बंधी भूलोंकी विधिवत् (आलोचयेत्) आलोचना करे ।

भावार्थ—फिर आहारके अनन्तर गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक दूसरे दिन आहारको निकलने तकके लिये चतुर्विध आहारका त्याग करे । तथा आहार गमनसे लेकर वापिस आनेतक जो कुछ प्रमाद हुआ हो उसकी गुरुके सामने आलोचना करे । और (च) शब्दसे गोचरीसे आकर प्रतिक्रमण करे अर्थात् जैसे ऐलक व मुनि आहारसे वापिस आकर जो प्रतिक्रमण करते हैं वह प्रतिक्रमण भी करे यह च शब्दसे निकलता है ।

इस प्रकार प्रथम भेदके 'अनेक भिक्षा नियमवाले' क्षुल्लकका वर्णन करके अब 'एक भिक्षा नियमवाले' प्रथम श्रावक (क्षुल्लक) के स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

अब—एकभिक्ष लिखते हैं—

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(यस्तु) जो क्षुल्लक (एकभिक्षानियमः) एक ही घरमें भिक्षा लेनेका नियम पालते हों (असौ) वे (अनुमुनि) मुनिराजके भोजनके पश्चात् (गत्वा) श्रावकके घर जाकर (अद्यात्) भोजन करें । तथा (भुक्त्यभावे) यदि भोजनकी प्राप्ति न हो तो (अवश्यकम्) जरूर ही (उपवासम्) उपवास (कुर्यात्) करें ।

भावार्थ—जिनके एक घरके भोजनका नियम है, पूर्वोक्त अनेक घरोंकी भिक्षावृत्तिका धारण नहीं है वे मुनियोंकी चर्या होजाने पर आहारको निकलें । यदि भिक्षा न मिले तो उपवास करें । अर्थात् चर्या जहां पटती है वहां ही आहार लेनेका जिनका नियम है वे एक घरकी भिक्षा नियमवाले क्षुल्लक कहलाते हैं । ऐसे नियमवाले क्षुल्लकको यदि अंतराय आजाय अथवा कोई पड़गावे नहीं तो उपवास करें । वे अनेक घरकी भिक्षाके नियमवाले क्षुल्लकके समान अनेक घर जाकर भिक्षा मांगकर भोजन नहीं कर सकते हैं ।

अब—और भी विशेष नियम—

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्त्यं विशेषतः ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(नित्यम्) सदा (मुनिवने) मुनियोंके साथ उनके निवासभूत वनमें (वसेत्) निवास करे। तथा (गुरून्) गुरुओंकी (शुश्रूषेत) सेवा करे (द्विधा अपि तपः) अन्तरङ्ग वहिरङ्ग दोनों प्रकारका तप (चरेत्) आचरण करे (विशेषतः) खासकर (दशधा) दश प्रकारकी (वैयावृत्यम्) वैयावृत्यका अवश्य आचरण करे।

भावार्थ—क्षुल्लक मुनिवनमें ही रहे, गुरुकी शुश्रूषा करे, अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग तप तपे तथा वैयावृत्य विशेषतासे करे। ग्यारहवीं प्रतिमामें प्रथम और द्वितीय ऐसे दो भेद हैं। उनमेंसे प्रथमके 'अनेकभिक्षा नियम', और 'एकभिक्षा नियम' ऐसे दो भेद बताए हैं। उन दोनोंका वर्णन करके अब आगे द्वितीय (ऐलक) का वर्णन करते हैं—

अब—द्वितीय-(ऐलक) का स्वरूप—

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसञ्ज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(तद्वत्) क्षुल्लकके समान ही (द्वितीयः) दूसरा भेद ऐलकका है (किंतु) परन्तु विशेषता यह है कि (असौ) यह (कचान्) अपने सिर व डाढ़ी मूछोंके वालोंको (लुञ्चति) लोंच करता है (कौपीनमात्रयुक्) एक लंगोटी मात्र परिधान युक्त है (यतिवत्) मुनियोंके समान (प्रतिलेखनम्) मोरकी पिच्छी आदि संयमोपकरण (धत्ते) रखता है और (आर्यसंज्ञः) इसकी आर्यसंज्ञा है।

भावार्थ—द्वितीय अर्थात् ऐलककी सब क्रियायें पूर्वोक्त क्षुल्लकके ही समान हैं। केवल इतनी विशेषता है कि इसको 'आर्य' (ऐलक) कहते हैं। यह केशलोंच करता है। केवल लंगोटी ही धारण करता है—खण्डवस्त्र नहीं, और मुनियोंके समान पिच्छी, कमंडलु आदि संयमके उपकरण रखता है।

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम्।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(स्वपाणिपात्रे एव) यह ऐलक अपने हाथरूपी पात्रमें ही (अन्येन) किसी श्रावकके द्वारा-(योजितम्) दिया हुआ भोजन ही (संशोध्य) सम्यक् प्रकारसे शोधन करके (अत्ति) खाता है। और (सर्वे) वे एकादश प्रतिमाके धारक सब श्रावक (मिथः) परस्परमें (इच्छाकारं) इच्छामि अर्थात् मैं मोक्षाभिलाषी हूं ऐसे शब्दोच्चार द्वारा (समाचारं) व्यवहार विनय (कुर्वते) करते हैं।

भावार्थ—ऐलक, मुनियोंके समान तथा हाथरूपी पात्रमें श्रावकोंके द्वारा अर्पित भोजनको संशोधन करके ग्रहण करते हैं। प्रथम (क्षुल्लक) की अपेक्षा इनमें यही विशेषता है। तथा सामान्य रीतिसे सब प्रतिमाधारी श्रावक आपसमें एक दूसरेसे मिलनेपर 'इच्छाकार' (इच्छामि) यह बोलते हैं।

अब—आगेके दश श्लोकोंद्वारा श्रावकोंके सम्बंधमें शेष विशेषताका वर्णन करते हैं—

श्रावको वीरचर्य्याहः प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(श्रावकः) श्रावक (वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु) वीरचर्या अर्थात् स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, दिनमें प्रतिमायोग धारण करना और आतापन आदिक योग धारण करना आदि मुनियोंके करनेयोग्य कार्योंमें (अपि च) तथा (सिद्धान्तरहस्याध्ययने) सिद्धांतशास्त्र और प्रायश्चित शास्त्रोंके अध्ययनका (अधिकारी न स्यात) अधिकारी नहीं है ।

अब—साधारणतया गृहस्थके ४ कर्तव्य—

दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो भवोच्छित्त्यै यथायथम् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(भवोच्छित्त्यै) संसार-परिभ्रमणका विनाश करनेके लिए (दानशीलोपवासार्चाभेदात्) दान देना, शील पालना, उपवासादि करना, तथा नित्य जिनपूजा करना इसप्रकारसे (चतुर्विधः) चार तरहका (स्वधर्मः) अपना धर्म (यथायथम्) यथायोग्य अर्थात् अपनी अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरणके अनुसार (श्रावकैः) श्रावकोंके द्वारा (कृत्यः) किया जाना चाहिये ।

भावार्थ—दान देना, शीलवान होना, चतुर्पर्वमें उपवास करना और जिनेन्द्रदेवादिकी पूजा करना, यह चार प्रकारका भी श्रावकधर्म है। वह भी ग्यारह प्रतिमाओंमें किसी प्रकारसे विरोध न लाते हुवे, श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार संसारके उच्छेदके लिये पालना चाहिये ।

अब—अपने व्रतकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये । यह बताते हैं—

प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं गुरुसाक्षिश्रितं व्रतम् ।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं व्रतभङ्गो भवे भवे ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(गुरुसाक्षिश्रितम्) गुरु अर्थात् पञ्च परमेष्ठी गुरु या परम्परागत दीक्षा-गुरुकी साक्षीसे किया हुआ (व्रतम्) कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा (प्राणान्तेऽपि) अपने प्राण भी नष्ट हो जावें तोभी (न भंक्तव्यं) नहीं तोड़ना चाहिये । क्योंकि (प्राणान्तः) प्राणनाश (तत् क्षणे) केवल मरणके समयमें ही (दुःखम्) दुःखकर है परन्तु (व्रतभंगो) व्रतका नाश (भवे भवे) भवभवमें (दुःखं) दुःखकर है ।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक व्रतोंका भंग करनेसे सम्यक्त्वकी भी विराधना होती है, यह आगमोक्त सिद्धांत है । इसलिये प्राणघातक परिस्थितिके उपस्थित होनेपर भी गुरु, देवता, स्थान, वास्तु और पंचोंकी साक्षीसे लिये हुए व्रतको भंग नहीं करना चाहिये । क्योंकि मरण तात्कालिक दुःख है और व्रतभंग भवभवमें दुःखदायक होता है ।

शीलवान् महतां मान्यो जगतामेकमण्डनम्।
स सिद्धः सर्वशीलेषु यः सन्तोषमधिष्ठितः ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(शीलवान्) शीलवान् पुरुष (जगताम्) इस संसारका (एकमण्डनम्) एक भूषणस्वरूप है अर्थात् ऐसे ही महापुरुषोंसे इस जगत्की शोभा है, वह (महतां) इन्द्रादिक बड़े २ पदधारियों द्वारा भी (मान्यः) सत्कारको प्राप्त होता है। (यः) जो व्यक्ति (संतोषम्) विषयलालसाका त्याग व धैर्य और क्षमादि द्वारा संतोषवृत्तिको (अधिष्ठितः) प्राप्त हुआ है (सः) वह (सर्वशीलेषु) सब प्रकारके शीलोंमें (सिद्धः) सिद्ध होचुका ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—जो सब प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त न होकर विषयभोगोंमें संतोष धारण करके शीलवान् होता है वह सकल सदाचारोंमें सिद्ध पुरुष माना जाता है। वह इन्द्रादिकके द्वारा वंदनीय समझा जाता है और वह संसारका अनुपम भूषण है।

तत्र न्यञ्चति नो विवेकतपनो नाञ्चत्यविद्यातमी
नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वरः।
विश्लिष्यन्ति न सम्पदो न दृशमप्यामन्त्रयन्त्यापदः
सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः सन्तोषमंहोमुषम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (साधुमनस्विनाम् सेव्यम्) सज्जन और स्वाभिमानी यतियोंके द्वारा अङ्गीकार किये जानेवाले (अंहोमुषम्) पापनाशक (सन्तोषम्) सन्तोष भावको (भजति) सेवन करता है (तत्र) ऐसे उत्तम पुरुषमें (विवेकतपनः) विवेकरूपी सूर्य (नो न्यञ्चति) नहीं डूबता है (अविद्यातमी) अज्ञानान्धकार मयी रात्रि (न अञ्चति) नहीं फैलती है (कृपामृतसरित) दयारूपी अमृतकी नदी (स्खलितम्) रुकावटको (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होती है (दैन्यज्वरः) दीनतारूपी ज्वर (न) नहीं (उदेति) उत्पन्न होता है, (सम्पदः) धन संपदाएं (न विश्लिष्यन्ति) विरक्तताको प्राप्त नहीं होती अर्थात् अलग नहीं होती हैं और (आपदः) आपत्तियां (दृशम् अपि) अपनी दृष्टि भी (न) नहीं (आमन्त्रयन्ति) रखती हैं अर्थात् उसे देखती भी नहीं हैं।

भावार्थ—मनमें सन्तोषके न रहनेसे मनुष्य विवेकसे भ्रष्ट होता है। उसके अन्तःकरणमें सदैव अविद्यारूपी अन्धकार रात्रि विद्यमान रहती है। वह निर्दयी बनता है, दीन बनता है और ऐसे मनुष्यसे संपत्तियां दूर रहती हैं तथा आपत्तियां कभी भी सन्निकर्ष नहीं छोड़ना चाहती हैं, परन्तु जो मनुष्य पापभंजक साधु और विचारवान मनस्वीजनोंके द्वारा आदरणीय सन्तोषको धारण करता है उसके हृदयमें सदैव विवेकरूपी सूर्यका उदय रहता है। अविद्यारूपी रात्रि पास नहीं फटकती है। उसे दीनतारूपी ज्वरका अथवा विषादरूपी ज्वरका सामना नहीं करना पड़ता है,

संपत्तियां सदैव आलिंगन करती हैं और विपत्तियां सदैव उससे दूर रहती हैं—कभी पास नहीं फटकती हैं।

अब—श्रावकोंको क्या करना चाहिये—

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत्।
यस्तु मन्दायते तत्र स्वकार्ये स प्रमाद्यति ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तमं) उत्तम=आत्महितकारक शास्त्रोंका अथवा उत्तम रीतिसे (स्वाध्यायम्) स्वाध्याय (कुर्यात्) करे, (अनुप्रेक्षाः) बारह भावनाएं (च) और सोलहकारण आदि भावनाओंको भी (भावयेत्) भावै, (तु) परन्तु (यः) जो श्रावक (तत्र) इन कार्योंमें (मन्दायते) आलस्य करता है (सः) वह (स्वकार्ये) अपने आत्महितकारक कार्योंमें (प्रमाद्यति) प्रमाद करता है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—अध्यात्मशास्त्रादिकका अपनी शक्ति न छिपाकर उत्तम रीतिसे स्वाध्याय करना चाहिये तथा बारहभावना और सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन हमेशा करते रहना चाहिये, क्योंकि स्वाध्याय और भावनाओंके निमित्तसे आत्मकर्तव्यमें उत्कर्षकी प्राप्ति होती है। जो स्वाध्याय और भावनाओंमें आलस्य करते हैं उनका अपने कर्तव्यमें उत्साह नहीं रह सकता है।

धर्मान्नान्यः सुहृत्पापान्नान्यः शत्रुः शरीरिणाम्।
इति नित्यं स्मरन्न स्यान्नरः संक्लेशगोचरः ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(शरीरिणां) शरीरधारी प्राणियोंका (धर्मात्) धर्मको छोड़कर (अन्यः) दूसरा कोई (सुहृत् न) मित्र नहीं है, और (पापात् अन्यः) पापको छोड़कर दूसरा कोई (शत्रुः न) शत्रु नहीं है (इति नित्यं स्मरन्) इसप्रकार हमेशा स्मरण करनेवाला (नरः) मनुष्य (संक्लेश-गोचरः) दुःखोंका पात्र (न स्यात्) नहीं होता है अर्थात् रागद्वेषमोहमें नहीं फसता।

भावार्थ—वास्तवमें प्राणियोंके लिये धर्म ही उपकारी है और अधर्म अपकारी है। इस तत्वको जो नित्य स्मरण करता है, वह पुरुष संक्लेशके कारणभूत, मोह और रागद्वेषके जालसे सदैव बचता है।

सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (विधिना) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक (मारणान्तिकीम्) मरणके समय होनेवाली (सल्लेखनाम्) सल्लेखनाको अर्थात् सम्यक् प्रकारसे काय और कषायोंके क्षीण करनेके कार्यको (अवश्यम्) अवश्य ही (करिष्ये) करूंगा (इति अदः शीलम्) इसप्रकार इस सल्लेखना व्रतको भी (सदा) हमेशा (हृदि) अपने हृदयमें (सन्निदध्यात्) धारण करे।

भावार्थ—सल्लेखनाको भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके समान शील माना है। इसलिये 'मैं विधिपूर्वक सल्लेखना करूंगा' यह भाव सदैव हृदयमें रखें। सम्यक् रीतिसे काय और कषायके कृप करनेको सल्लेखना कहते हैं। मरणके अन्तमें अर्थात् तद्भव मरणके अन्तमें होनेवाले सल्लेखनाको मरणांतिकी सल्लेखना कहते हैं। मरण दो प्रकारका है—प्रतिक्षण मरण और तद्भव मरण। सल्लेखनामें तद्भव मरणका ही ग्रहण किया है।

सहगामीकृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस मनुष्यने (भवविध्वंसि) भव भ्रमणका नाश करनेवाले (समाधिमरणम्) समाधिमरणको (साधितम्) साध लिया है (तेन) उसने (धर्मसर्वस्वम्) धर्मके सर्वस्व रत्नत्रय मार्गको (सहगामीकृतम्) दूसरे भवमें जानेके—लिये साथमें ले लिया है।

भावार्थ—आगममें समाधिमरणका बड़ा माहात्म्य है। मरते समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर जिनकी आत्मा रहती है उनके द्वारा ही समाधिमरण सधता है। इसका विशेष वर्णन आगेके अध्यायमें है। जिन्होंने यह समाधिमरण साध लिया उन्होंने अपना संपूर्ण धर्म अपने साथ कर लिया।

यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां वृत्तं तदपि सेव्यताम्।
सम्यङ् निरूप्य पदवीं शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (मुनीन्द्राणाम्) मुनिराजोंके (वृत्तम्) चारित्रका वर्णन (प्रागुक्तम्) पहिले अनगारधर्मामृतमें किया है (तदपि) वह भी (स्वां शक्तिम्) अपनी शक्ति (पदवीं च) तथा अपने पदस्थका (सम्यक्) भलीभांति (निरूप्य) समझकर (उपासकैः) श्रावकोंके द्वारा (सेव्यताम्) सेवन किया जाय।

भावार्थ—जो इसी ग्रन्थके अनगारधर्मामृतमें चौथे अध्यायसे लेकर नौवें अध्यायतक महामुनियोंकी चर्याका वर्णन किया है उसका भी अनुष्ठान श्रावकोंको अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार करना चाहिये। यहांपर पदवीका अर्थ संयमकी भूमिका है और शक्तिका अर्थ वीर्य अर्थात् परीषह और उपसर्गोंको सहते हुए अपने मार्गसे विचलित न होना है।

इत्यापवादिकीं चित्रां स्वभ्यस्यन्विरतिं सुधीः।
कालादिलब्धौ क्रमतां नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (चित्राम्) अनेक भेदवाली (आपवादिकीम्) अपवादमार्गस्वरूप (विरतिम्) श्रावक सम्बन्धी विरति अर्थात् संयमको (स्वभ्यस्यन्) अभ्यास करनेवाला (सुधीः) बुद्धिमान् गृहस्थ (कालादिलब्धौ) योग्य समय साधनादि सामग्रीके प्राप्त होने पर (नवधा)

मन वचन कायसे कृत कारित अनुमोदना करके नव प्रकारसे (औत्सर्गिकीं प्रति) औत्सर्गिक संयम अर्थात् महाव्रत रूप संयमके प्रति (क्रमताम्) अपना उत्साह बढ़ावे।

भावार्थ—उत्सर्ग मार्ग मुनिधर्म है इसीलिये मुमुक्षुके लिये आचार्य पहले मुनिधर्मका उपदेश देते हैं[1]। जो मुनिधर्मके पालनेमें असमर्थ हैं उन्हें मुनिधर्म पालनेकी योग्यताके लिये गृहस्थधर्मका उपदेश दिया जाता है। इसलिये गृहस्थ धर्मको अपवाद मार्ग कहते हैं। उत्सर्गका अर्थ उत्कृष्ट रीतिसे सर्ग अर्थात् सर्व परिग्रहका त्याग है। इसमें जो विधि होती है उसे औत्सर्गिकी विधि अर्थात् मुनिधर्म कहते हैं। तथा मुनियोंके लिये परिग्रह अपवादका हेतु होनेसे परिग्रह ही अपवाद है। इससहित जो विधी होती है उसे अपवादकी विधि अर्थात् गृहस्थधर्म कहते हैं। इसप्रकार नानाप्रकारके प्रतिमारूप व्रतोंका अभ्यास करके देश, काल, बल और वीर्य आदि सहायक साधन सामग्रीके मिलनेपर गृहस्थको मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे मुनिधर्म धारण करनेके लिये अपना उत्साह बढ़ाना चाहिये।

अब—साधकत्वका व्याख्यान करनेके लिये उसके स्वामीका निर्देश करते हैं—

इत्येकादशधाऽऽम्नातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना।
सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(नैष्ठिकः श्रावकः) नैष्ठिक श्रावक (इति) ऊपर लिखे हुए व्याख्यानके अनुसार (एकादशधा) ग्यारह प्रतिमावाला (आम्नातः) आचार्य परम्परासे बतलाया गया है (अधुना) अब (सूत्रानुसारतः) जैनागमके अनुसार ही (अन्त्यस्य) एकादशम प्रतिमाके (साधकत्वम्) साधकपने रूप तृतीय पदको (प्रवक्ष्यते) वर्णन करेंगे।

भावार्थ—इसप्रकार आगमपरम्पराके अनुसार ग्यारह प्रतिमारूप नैष्ठिक श्रावकका वर्णन करके अब ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके साधकत्व नामका पद होता है यह आठवें अध्यायमें बतलाते हैं।

इसप्रकार पण्डितप्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृत सागार धर्मको प्रकाश करनेवाली भव्य कुमुदचन्द्रिका नामकी टीकामें प्रारंभसे १६ वां और सागारधर्मामृतकी अपेक्षा सातवां अध्याय पूर्ण हुआ।

१-यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः। तस्य भगवत्प्रवचने प्रोक्तं निग्रहस्थानम् ॥

भावार्थ—जो आचार्य मुनिधर्मका उपदेश न देकर पहले गृहस्थधर्मका उपदेश देते हैं उनका आगममें निग्रहस्थान बतलाया है।

तथा इसी ग्रन्थके दूसरे अध्यायका 'त्याज्यानजस्रम्' इत्यादि श्लोक देखो।

आठवाँ अध्याय ।

अब—सल्लेखनाविधिका वर्णन करते हैं, उसमें भी पहले सल्लेखना करनेवालेका (साधकका) लक्षण कहते हैं—

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्ध्याऽत्मशोधनम् ।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येष साधकः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जीवितान्ते) जीवनके अन्तमें (यः) जो (सम्प्रीतः सन्) ध्यानसे उत्पन्न सर्वांगीण आनन्दसे युक्त होकर (देहाहारेहितत्यागात्) देह, आहार और मन, वचन तथा कायके व्यापारके त्यागसे उत्पन्न (ध्यानशुद्ध्या) ध्यानशुद्धि अर्थात् निर्विकल्प समाधिके द्वारा (आत्मशोधनम्) आत्मशुद्धिकी (साधयति) साधना करता है (एषः) वह (साधकः भवति) साधक है ।

भावार्थ—मरते समय जो उद्दिष्टविरत श्रावक आत्मीक ध्यानजनित आनन्दमय होकर देहसे ममताका त्याग, चतुर्विध आहारका त्याग तथा सब प्रकारकी मन, वचन और कायकी चेष्टाओंका त्याग करके निर्विकल्प समाधि द्वारा अपनी आत्माकी शुद्धिकी अर्थात् मोह, राग और द्वेषके त्यागरूप रत्नत्रय परिणतिकी साधना करता है वह साधक है ।

अब—श्रावक रहकर ही मोक्षमार्गका साधन किसको करना चाहिये और मुनि होकर किसको करना चाहिये, आगे इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

सामग्रीविधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते ।
विधिः सत्यां तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(सामग्रीविधुरस्यैव) सामग्रीसे विकल अर्थात् जिनलिंग ग्रहण करनेके अयोग्य ही (श्रावकस्य) श्रावकके लिये (अयं विधिः इष्यते) यह आगे कही जानेवाली सल्लेखना विधि कही जाती है (तु) किन्तु (सामग्र्यां सत्याम्) जिनलिंगके धारण करनेके योग्य सामग्रीके रहनेपर (जिनरूपता) मुनिदीक्षा लेना ही (श्रेयसी) श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—जो श्रावक दोनों अण्डकोष और लिंग इसप्रकार तीनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले दोषोंसे युक्त है वह जिनदीक्षा लेनेका अधिकारी नहीं है। अतएव ऐसे श्रावकके लिये ही आगेकी सल्लेखना विधिका वर्णन है। तथा जिनमें जिनरूपको ग्रहण करनेकी योग्यता है उन्हें तो जिनरूप ही धारण करना चाहिये ।

अब—जिन लिंगके स्वीकार करनेके कारणका वर्णन करते हैं—

किञ्चित्कारणमासाद्य विरक्ताः कामभोगतः ।
त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(धीराः) परीषह और उपसर्गके सहन करनेमें बद्धकक्ष श्रावक (किंचित् कारणं) तत्वज्ञानमें आसक्ति अथवा शत्रुपराजय आदि किसी एक कारणको (आसाद्य) प्राप्त करके (कामभोगतः) काम और भोगसे विरक्त होकर (सर्वोपधिं) अंतरङ्ग और बहिरङ्ग सर्व प्रकारके परिग्रहको (त्यक्त्वा) छोड़कर (जिनरूपतां) जिनलिंगको (श्रयंति) धारण करते हैं।

भावार्थ—स्पर्शन और रसना इन्द्रियके विषयानुभवको भोग और शेष तीन इन्द्रियोंके विषयानुभवको काम कहते हैं। वैराग्यके तत्वज्ञानानुरागादि अंतरङ्ग कारण और शत्रुपराजय आदि बहिरंग कारण हैं। उनमेंसे किसी एक कारणके अवलंबनसे धीर वीर श्रावक काम और भोगसे विरक्त होकर अंतरङ्ग और बहिरंग सभी परिग्रहोंका त्याग करके जिनरूपताका आश्रय करते हैं अर्थात् मुनिदीक्षा लेते हैं।

अब—जिनलिंगके स्वीकार करनेके माहात्म्यको कहते हैं—

अनादिमिथ्यादृगपि श्रित्वार्हद्रूपतां पुमान्।
साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन् मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्ततः॥ ४॥

अन्वयार्थ—(अनादिमिथ्यादृगपि) अनादि मिथ्यादृष्टि भी (पुमान्) पुरुष (अर्हद्रूपतां) जिनलिंगको (श्रित्वा) धारण करके (साम्यं) मध्यस्थ भावको (प्रपन्नः) प्राप्त होकर (स्वं) अपनी आत्माका (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (अन्तर्मुहूर्ततः) अन्तर्मुहूर्तके भीतर (मुच्यते) द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दोनों कर्मोंसे मुक्त होजाता है।

भावार्थ—द्रव्यसे पुरुष ही मुनिदीक्षाका अधिकारी है। इसलिये श्लोकमें पुमान् शब्द रक्खा है। जिसको पहले कभी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है ऐसा अनादि मिथ्यादृष्टि भी मुनिदीक्षा लेकर समताकी प्राप्ति करके अर्थात् एक साथ सम्यक्त्व और चारित्रकी प्राप्ति करके आत्माका ध्यान करता हुआ अन्तर्मुहूर्तमें मुक्तिको प्राप्त होता है। कहा भी है—

आराध्य चरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत्क्षणतः।
दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम्॥

जिस कारणसे इस संसारमें अनादि मिथ्यादृष्टि भी अनुपम चारित्रको पाकर क्षणमात्रमें मोक्षके अधिकारी देखे जाते हैं, इसलिये भी चारित्र इष्ट है।

अब—स्थायी शरीरका नाश करना और नाशोन्मुख शरीरका शोच करना ठीक नहीं है इस बातको बतलाते हैं—

न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नश्यं वपुर्बुधैः।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्॥ ५॥

अन्वयार्थ—(स्थास्नु) रत्नत्रयके अनुष्ठानका साधक होनेसे कुछ कालतक टिकनेवाला शरीर

(धर्मसाधनं) धर्म अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धिका उपाय है (इति) इसलिये (बुधैः) तत्वज्ञ पुरुषोंको (न नाश्यं) उस स्थायी शरीरका नाश नहीं करना चाहिये (च) और (विनश्वरं) तद्भवमरणको प्राप्त होनेवाले शरीरका (केनापि) योगीन्द्र आदि किसीके द्वारा भी (नो रक्ष्यं) रक्षण नहीं किया जा सकता है (इति) इसलिये (न शोच्यम्) शोच भी नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—शरीर रत्नत्रयकी सिद्धिका उपाय है अतएव धर्मका साधन है इसलिये यदि वह स्थास्नु हो तो उसका ज्ञानीजनोंको प्रयत्नपूर्वक नाश नहीं करना चाहिये । तथा यदि वह पातोन्मुख होरहा हो तो उसे योगीन्द्र, देवेन्द्र, दानवेन्द्र आदि कोई बचा नहीं सकते हैं, इसलिये उसका शोच भी नहीं करना चाहिये । कहा भी है—

> गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किंतु गहनमिह वृत्तम ।
> तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमित्याहुः॥

इस संसारमें शरीरका त्याग करना कठिन नहीं है किन्तु चारित्रका धारण करना कठिन है । इसलिये शरीर यदि टिक रहा हो तो उसका नाश नहीं करना चाहिये और नश्वर हो तो उसके लिये शोच भी नहीं करना चाहिये, यह प्राचीन ऋषिजनोंका कहना है ।

अब—कायका पोषण कब करना चाहिये, उपचार कब करना चाहिये, और त्याग कब करना चाहिये, आगे इसी विषयकी योग्यताके उपदेशके लिये कहते हैं—

> कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
> उपकारं विपर्यस्यं-स्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(सद्भिः) साधु पुरुषोंद्वारा (स्वस्थः कायः) स्वस्थ शरीर (अनुवर्त्यः) पथ्य, आहार और विहार द्वारा अनुवर्त्य अर्थात् पोषण करनेयोग्य है (रोगितः) रोगी शरीर (प्रतीकार्यः) योग्य औषधादिके उपचारके योग्य है (च) और (उपकारं विपर्यस्यन्) जो शरीर पथ्य आहारादिके प्रयोग तथा योग्य औषधियोंके प्रयोगका विपर्यास करने लगे वह शरीर (खलो यथा) दुष्ट पुरुषके समान (त्याज्यः) त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—निरोग शरीरकी रक्षाके लिये योग्य आहार और विहार नियमित रूपसे करते रहना चाहिये । यदि कदाचित् रोगकी उत्पत्ति होजाय तो उसके परिहारके लिये योग्य औषधोपचार भी करना चाहिये । परन्तु यदा कदाचित् योग्य आहार विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका किसी प्रकारका भी असर न हो प्रत्युत व्याधि ही बढ़े तो ऐसी परिस्थितिमें दुष्टके समान उसका त्याग करना ही योग्य है ।

अब—शरीरके लिये धर्मका घात करना अत्यन्त निषिद्ध है यह बताते हैं—

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः॥ ७॥

अन्वयार्थ—(अवश्यं नाशिने) निश्चयसे नाशको प्राप्त होजानेवाले (देहाय) शरीरके लिये (कामदः) इच्छित अर्थका प्रदान करनेवाला (धर्मः) धर्म (न हिंस्यः) सज्जनोंके द्वारा नाश करने-योग्य नहीं है क्योंकि (नष्टो देहः) नष्ट हुआ शरीर (पुनः लभ्यः) फिर मिल सकता है (तु) किन्तु (धर्मः) धर्म (अत्यन्तदुर्लभः) अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—प्रकरणवश धर्म शब्दका अर्थ यहां समाधि है। निश्चयसे नष्ट होनेवाले शरीरके लिये सब प्रकारके मनोरथको पूर्ण करनेवाले समाधिमरणरूपी धर्मका घात नहीं करना चाहिये। कारण कि शरीर तो पुनः पुनः मिल सकता है किन्तु समाधिमरणकी प्राप्ति होना सरल नहीं है।

अब—समाधिमरणमें आत्मघातकी आशंकाका खण्डन करते हैं—

न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः।
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि॥ ८॥

अन्वयार्थ—(वृषक्षतौ) स्वीकार किये हुए व्रतके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर (वपुः) शरीरकी (उपेक्षितुः) उपेक्षा करनेवालेको (आत्मघातः) आत्मघातका (न चास्ति) प्रसंग नहीं आता है (हि) क्योंकि (कषायावेशतः) क्रोधादि कषायोंके वेगसे (विषाद्यैः) विष आदिके द्वारा (प्राणान्) प्राणोंका (हिंसतः) घात करनेवालेके (सः अस्ति) आत्मघात होता है।

भावार्थ—धारण किये हुए व्रतके नाशके कारण उपस्थित होनेपर यथाविधि भोजन त्याग आदिके द्वारा जो समाधिमरण किया जाता है उसे आत्मघात नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कषायके वेगसे जो विषभक्षण, शस्त्राघात, श्वासनिरोध, जलप्रवेश और अग्निप्रवेश द्वारा प्राणोंका नाश किया जाता है उसे ही आत्मघात कहते हैं।

अब—इसप्रकार संयमविनाशके कारण उपस्थित होनेपर कायके त्यागकी सामर्थ्य बताकर अब आगे यथाकाल मरण अथवा उपसर्ग मरणके निर्णयपूर्वक प्रायोपवेश (उपवास) के द्वारा जो समाधि-मरण किया जाता है उसमें धारण किये गये दर्शनादिक सभी व्रतोंकी सफलता है यह बताते हैं—

कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम्।
कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत् क्रियाः॥ ९॥

अन्वयार्थ—(कालेन) आयु पूर्ण होनेके कालसे (वा) अथवा (उपसर्गेण) उपसर्गसे (आयुः क्षयोन्मुखं निश्चित्य) आयु क्षयके सन्मुख है इस बातका निश्चय करके अर्थात् काल व उपसर्ग द्वारा मरणका निश्चय होनेपर (यथाविधि) विधिपूर्वक (प्रायं) सन्यासयुक्त उपवास करके (ताः ताः

क्रियाः) नैष्ठिक अवस्थामें धारण की हुई दार्शनिक आदि प्रतिमा सम्बन्धी सम्पूर्ण नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंको (सफलयेत्) सफल करे ।

भावार्थ-निसर्ग मरण द्वारा अथवा दुर्निवार रोग, शत्रुका आघात आदि उपसर्ग द्वारा आयुः क्षय अवश्यंभावी है ऐसा निश्चय होजाय तो आगमविधिके अनुसार संन्यासयुक्त उपवासको धारण करके पूर्वाश्रममें पाले हुए सम्पूर्ण व्रतोंको सफल करे ।

अब-आत्माराधनाकी परिणतिपूर्वक काय त्याग करनेपर मोक्ष करस्थित ही है यह उपदेश देते हैं-

देहादिवैकृतैः सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ-(देहादिवैकृतैः) शीघ्र मरणसूचक देहादिक विकारोंद्वारा (तु) और (सम्यङ्-निमित्तैः) भावी शुभाशुभके उपायभूत ज्योतिर्विद्या और शकुन आदि निमित्तोंद्वारा (मृत्यौ सुनिश्चिते) मृत्युका भलेप्रकार निश्चय होनेपर (आराधनामग्नमतेः) निश्चय आराधनामें परिणत है मन जिसका ऐसे समाधिमरण करनेवालेको (तत्पदं) वह अर्थात सिद्धपद (दूरे न) दूर नहीं है ।

भावार्थ-ज्योतिष शास्त्र, कर्णपिशाचिनी विद्या, शकुन इत्यादि भावी शुभाशुभ सूचक निमित्तोंसे और शीघ्र मरणसूचक देहविकार, वाणीविकार आदि कारणोंसे मरणका निश्चय होनेपर जो अपनी सल्लेखनाकी आराधनामें मग्न होजाते हैं उनके लिये निर्वाण दूर नहीं है ।

अब-उपसर्गसे मरणके उपस्थित होनेपर उपवासपूर्वक सन्यासविधिका उपदेश देते हैं-

भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत्सकृत् ।
विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ-मुमुक्षु (भृशापवर्तकवशात) भय अपमृत्युके कारणवश (कदलीघातवत्) कदली-घातके समान (सकृत्) इकदम (आयुषि विरमति) आयुके नाशकी स्थिति उपस्थित होनेपर (अविचारं) समाधिके लिये योग्य स्थान आदिकी दौड़धूप न करते हुए (प्रायं) भक्त प्रत्याख्यान-सार्वकालिक संन्यासको धारण करे ।

भावार्थ-जैसे केलका झाड़ इकदम शस्त्रद्वारा काटकर गिरा दिया जाता है उसी प्रकार आगाढ़ अपमृत्युके कारणवश आयुनाशकी संभावना होनेपर समाधिके योग्य जो स्थान आदि सामग्रीका शास्त्रोंमें वर्णन है उसके लिये दौड़धूप न करके इकदम भक्तप्रत्याख्यान करे अर्थात सार्वकालिक सन्यास धारण करे और शुद्ध स्वात्मध्यानमें तत्पर होवे ।

अब-अपने आप आयुके पूर्ण होनेसे देहका नाश होते समय सल्लेखना धारण करना चाहिये, यह बतलाते हैं-

क्रमेण पक्त्वा फलवत् स्वयमेव पतिष्यति ।
देहे प्रीत्या महासत्त्वः कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(क्रमेण पक्त्वा) क्रमसे पककर (फलवत्) फलके समान (स्वयमेव) अपने आप ही (देहे पतिष्यति) देहके पतन होनेपर (प्रीत्या) प्रमोदपूर्वक (महासत्त्वः) अनिवार्य धैर्यधारक श्रावक (सल्लेखनाविधिं) सल्लेखना विधिको (कुर्यात्) करे ।

भावार्थ—जैसे फल क्रमसे पककर स्वयं गिरता रहे उसीप्रकार क्रम क्रमसे आयुके निषेक घटनेसे देहके मरणोन्मुख होनेपर श्रावकको बड़े धैर्यके साथ प्रमोदपूर्वक सल्लेखना विधि करनी चाहिये ।

कहा भी है—

प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥

जिसका प्रतिदिन बल घट रहा है, भोजन छुट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नष्ट होगई हो ऐसा मनुष्योंका शरीर ही अन्तमें होनेवाले समाधिमरणके समयका प्रतिपादन करता है अर्थात् ऐसे समयमें समाधिमरण करना चाहिये ।

अब—शरीरमें निर्ममत्वकी भावना करना चाहिये, इसकी विधिको कहते हैं—

जन्ममृत्युजरातङ्काः कायस्यैव न जातु मे ।
न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जन्ममृत्युजरातङ्काः) जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग ये सब (कायस्य एव) शरीरके ही होते हैं (जातु) कदाचित् भी (मे न) मेरे अर्थात् आत्माके नहीं होते हैं (च) और (एषः) यह शरीर (कोऽपि न) मेरा कोई भी नहीं है (इति) इसप्रकार (अंगे) शरीरमें (निर्ममः) यह मेरा है इसप्रकार संकल्परहित (अस्तु) होवे ।

भावार्थ—जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग ये सब पुद्गलकी पर्याय होनेसे कायके ही हैं। शुद्ध चिद्रूप मेरी आत्माका यह शरीर न कोई नहीं है । चिदानन्दमय आत्माका न यह उपकारक है और न अपकारक ही है । इसप्रकारकी भावना भाकर समाधिमरणार्थीको शरीरमें निर्ममता रखनी चाहिये ।

अब—आहारके त्याग करानेका समय बतलाते हैं—

पिण्डे जात्याऽपि नाम्नाऽपि समो युक्त्याऽपि योजितः ।
पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं हापयेत्तदा १४ ॥

अन्वयार्थ—(अपि) आश्चर्य है कि (जात्या) जातिसे और (नाम्नापि) नामसे भी समान तथा (युक्त्या) शास्त्रोक्त विधिसे (पिण्डे) शरीरमें (योजितः अपि) प्रयुक्त किया गया भी (पिण्डः) आहार (यदा) जिस समय (स्वार्थनाशार्थः) स्वार्थ नाशके लिये कारण (अस्ति) होता है (तदा) उस समय (तम्) उस आहारका (हापयेत्) त्याग करा देना चाहिये ।

भावार्थ—पिण्ड शब्दका अर्थ आहार और शरीर दोनों होते हैं और दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं। देहमें युक्तिपूर्वक प्रयोग किया गया आहारादिक पिण्ड अर्थात् शरीरका बल और ओज बढ़ानेवाला है। बलवान् और ओजस्वी शरीर धर्मसिद्धिके लिये उपयोगी पड़ता है। परन्तु जिस समय आश्चर्य है कि जातिसे और नामसे समान युक्तिसे योजित भी आहारपिण्ड शरीररूपी पिण्डमें उपयोगी नहीं पड़ता, निष्प्रयोजन ठहरता है उस समय परिचारक आदिके द्वारा भोजनका त्याग करा देना चाहिये।

अब—सल्लेखना विधिपूर्वक समाधिमरणके उद्योग करनेकी विधिको बतलाते हैं—

उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः।
संलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(उपवासादिभिः) साधक उपवास आदि बाह्य तपोंके द्वारा (कायं) शरीरको (च) और (श्रुतामृतैः) शास्त्रोपदेशरूपी अमृतके द्वारा (कषायं) कषायको (संलिख्य) कृश करके (गणमध्ये) चतुर्विध संघके समक्ष (समाधिमरणोद्यमी) समाधिमरणके लिये उद्यमी (स्यात्) होवे।

भावार्थ—साधक उपवासादि बाह्य तपोंके द्वारा कायको और शास्त्रोपदेशरूपी अमृतके द्वारा कषायको घटाकर चतुर्विध संघके सामने समाधिमरण ग्रहण करनेके लिये तैयार होवे।

अब—मृत्युके समयमें धर्मकी विराधना और आराधनाके फलको बताते हैं—

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा।
स त्वाराद्धस्तत्क्षणेंऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम ॥

अन्वयार्थ—(चिरं) चिरकाल तक (आराद्धोऽपि) आराधित किया हुआ भी (धर्मः) धर्म यदि (मरणे विराद्धः) मरण समयमें स्खलित होजावे तो (मुधा) वह सब चिरकालकी उसकी की हुई धर्मकी आराधना व्यर्थ है। (तु) किंतु (तत्क्षणे आराद्धः सः) मरण समयमें आराधित वह धर्म (चिरार्जितं अपि) चिरकालसे उपार्जित भी (अंहः) पापोंका (क्षिपति) नाश करता है।

भावार्थ—धर्मकी दीर्घकाल तक आराधना की गई हो और मरण समय पर यदि उसकी विराधना हो जाय तो वह सब आराधना निष्फल होजाती है। और यदि मरण समय धर्मकी आराधना सधजाय तो वह जीवके असंख्यात कोटि भवोंमें उपार्जित पापोंका भी क्षालन करती है।

अब—चिरकालतक धर्माराधनाके अभ्यास करनेवाले सच्चे यतिके भी यदि मरण समयमें वह आराधना न सधे अर्थात् सल्लेखना न बने तो उसके भी अकीर्तिपूर्वक आत्मकल्याणका घात होता है, यह बताते हैं—

नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत्।
युधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशःकटुः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(अस्त्रवत्) शस्त्रास्त्रके विषयमें (चिरं अभ्यस्तिनः) चिरकालतक अभ्यास

करनेवाले परन्तु (युधि इव) युद्धके समयपर जैसे (स्खलतः) चूकनेवाले (नृपस्य इव) राजाका जैसें अजसपूर्वक इष्ट घात होता है वैसे ही (धर्मे) धर्मके विषयमें ("चिरं अभ्यस्तिनः") चिरकाल-तक अभ्यास करनेवाले परंतु (मृत्यौ) मरणके समय ("स्खलतः") धर्मसे च्युत होनेवाले (यतेः) यतिका (अयशःकटुः) अकीर्तिसे कटुक परिणामवाला (स्वार्थभ्रंशः 'भवति') अपने इष्ट अर्थका घात होता है।

भावार्थ—जिसप्रकार चिरकालतक शस्त्रोंके अभ्यासकी तैयारी करनेवाला राजा युद्धके समयपर सावधानी न रखनेके कारण चूक जावे तो उसका बदनामीपूर्वक पराजय होता है और उसके राज्यका नाश भी होजाता है और वह अपने इष्टकी सिद्धि नहीं कर सकता है, उसीप्रकार यति भी चिरकालतक धर्मका अभ्यास करके यदि मरण समयमें धर्मकी आराधनामें सावधान न रहकर उसकी विराधना करे तो उसको भी अकीर्ति प्राप्त होती है और उसके आत्मकल्याणका घात होजाता है। अर्थात् उसकी धर्मकी जीवनभरकी आराधना व्यर्थ जाती है।

अब—यहांपर यदि कोई शंका करे कि किसीको जीवनभर धर्मकी आराधनाकी भावना रखने-पर भी अन्तसमयमें समाधिमरण नहीं देखा जाता है और किसीको विना अभ्यासके भी अन्तसमयमें समाधिमरण देखा जाता है, इसलिये धर्माचरणके अभ्याससे अन्तमें समाधिमरण बनता ही है यह कथन सिद्ध नहीं होता, इसका समाधान दो पद्योंसे करते हैं—

सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि।
प्रतिरोधि सुदुर्वारं किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि समाधिके समयपर (प्रतिरोधि) समाधिमरणमें बाधक (सुदुर्वारं) और हजारों प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुकनेवाला (किंचित्) जिसका नामनिर्देश नहीं किया जासक्ता ऐसा कोई (दुष्कर्म) पुराकृत दुष्कर्म (न उदेति) उदयको प्राप्त न हो तो (सम्यग्भावितमार्गः) जिसने अपने जीवनमें रत्नत्रयकी आराधना भले प्रकार की है वह व्यक्ति (अन्ते) मरण समयमें (आराधकः स्यात् एव) सल्लेखना साधनेवाला होता ही है।

भावार्थ—रत्नत्रयकी आराधनाका भलेप्रकार अभ्यास करके भी अन्तमें जिनकी सल्लेखना नहीं बनती है उसमें उनके अनेक प्रयत्नोंके द्वारा भी जिसका निवारण नहीं किया जासक्ता है ऐसे किसी पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मका उदय ही कारण है।

उक्तं च—मृतिकाले नरा हन्त सन्तोपि चिरभाविताः।
पतन्ति दर्शनादिभ्यः प्राक्कृताशुभगौरवात् ॥

कहा भी है—खेद है कि चिरकाल रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले सज्जन–साधुजन भी पूर्वोपार्जित तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे मरण समयमें सम्यग्दर्शनादिसे च्युत हो जाते हैं। तथा जिनकी

विना अभ्यासके सल्लेखनाकी सिद्धि होती है वह उनके लिये केवल अंधनिधि लाभ है।

उक्तं च—या त्वभावितमार्गस्य कस्याप्याराधना मृतौ।

विना रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले भी किसी व्यक्तिको जो अंतमें समाधिमरणकी प्राप्ति होजाती है वह अनिर्वचनीय आराधनामें तत्पर उन समाधिमरण करनेवालोंका 'अंध-निधि' लाभ है। अर्थात् जैसे अन्धेको कभी २ योगायोगसे विना प्रयत्नके भी निधिका लाभ होजाता है उसी प्रकार यह उनकी समाधिमरणकी प्राप्ति समझनी चाहिये।

यह कार्यकारणयुक्त राजमार्ग नहीं कहा जासक्ता है। जैसे प्रयत्नोंके द्वारा ही निधि प्राप्त करना राजमार्ग कहलाता है, उसी प्रकार पहिलेसे ही प्रयत्नपूर्वक रत्नत्रयकी आराधना ही समाधिमरणका राजमार्ग साधन कहा जाता है।

तीव्र कर्मके उदयसे समाधिसे च्युत होनेवालोंको देखकर और योगायोगसे विना प्रयत्नके भी समाधिमरण प्राप्त करनेवालोंको देखकर आश्चर्यमें नहीं पड़ना चाहिये और केवल दैवाधीन धर्माराधनाकी सिद्धिका आग्रह भी नहीं करना चाहिये। और न किसी प्रकारका दुराग्रह ही करना चाहिये किन्तु जिनवचनको प्रमाण मानकर अंतमें समाधिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। क्योंकि दैवयोगसे प्राप्त अचल सिद्ध समाधि आदर्श नहीं मानी जासकती है।

उक्तंच—पूर्वमभावितयोगो यद्यप्याराधयन्मृतौ कश्चित्।
स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र॥

अर्थ—जिसने पहले आराधनाका अभ्यास नहीं किया है लेकिन अन्तसमयमें जिसको समाधिमरणकी प्राप्ति हुई है वह उसका स्थाणुमें अर्थात् वृक्षके सूखे ठूंठमें निधिका लाभ समझना चाहिये, दूसरोंके लिये वह उदाहरण नहीं होसकता है।

अतः यह सिद्ध होता है कि यदि अन्तसमयमें किसी तीव्र कर्मका उदय न आवे तो आराधनाका अभ्यास करनेवालोंको आराधनाकी सिद्धि अन्तसमयमें अवश्य होती है। यही कार्यकारणयुक्त राजमार्ग है।

अब—यहां कोई कहे कि—दूर भव्यके व्रत आचरण करनेपर भी अकालमें मुक्ति नहीं हो सक्ती है, इसलिये दूर भव्यको मुक्तिके लिये व्रताचरण करनेकी क्या आवश्यकता है उसका समाधान करते हैं—

कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्नः सदा व्रते।
वरं स्वः समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात्॥ १९॥

अन्वयार्थ—(मुक्तौ दवीयस्यां अपि) मुक्तिके अत्यंत दूर रहनेपर भी (व्रते) व्रताचरणके लिये (सदा यत्नः कार्यः) सदैव यत्न करना चाहिये। क्योंकि (व्रतात्) व्रताचरणके निमित्तसे

(स्वः) स्वर्गमें (समयाकारः वरं) मुक्ति प्राप्तिके पहिलेका लम्बा काल व्यतीत करना अच्छा है। किंतु (अव्रतात्) व्रताचरणके अभावमें (नरके) नरकगतिमें मुक्तिके पहिलेका काल व्यतीत करना (न 'वरं') अच्छा नहीं है।

भावार्थ—दूर भव्यपनेकी परिस्थितिमें मुक्ति कदाचित् दूर भी हो तो भी उसके पहिले संसारमें रहनेका जो लम्बा काल है वह हिंसादिकसे उपार्जित पापोंके निमित्तसे नरकमें रहकर व्यतीत करनेकी अपेक्षा अहिंसादिक व्रतोंके आचरणसे उपार्जित पुण्यके योगसे स्वर्गोंमें व्यतीत करना बहुत अच्छा है। इसलिये मुक्तिके दूर रहनेपर भी जिन भक्तोंको व्रतोंके आचरणमें सदैव यत्न करते रहना चाहिये।

अब—आगे क्षपकके लिये भोजनत्यागका (अनशन धारणका) योग्यकाल कब समझना चाहिये यह बताते हैं—

धर्माय व्याधिदुर्भिक्षजरादौ निष्प्रतिक्रिये।
त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तच्च्युतौ चाऽशनं त्यजेत् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(निष्प्रतिक्रिये) 'समाधिमरणार्थी' श्रावक वा मुनि दुर्निवारर धर्मध्वंसके लिये कारणभूत (व्याधिदुर्भिक्षजरादौ) शारीरिक रोग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा आदिके उपस्थित होनेपर (धर्माय) धर्मरक्षाके लिये अर्थात् भवान्तरमें धर्म साथ ले जानेके लिये (वपुः त्यक्तुं) शरीर छोड़नेके निमित्त (अशनं) भोजनका (त्यजेत्) त्याग करे। अर्थात् भक्त प्रत्याख्यान धारण करे। अथवा (स्वपाकेन) स्वयं कालक्रमसे-परिणामी आयुका नाश होनेपर (तच्च्युतौ) शरीरके नाशका समय आनेपर 'अशनं त्यजेत्' भक्त प्रत्याख्यान करें और (वा) शब्दसे घोर उपसर्गके कारण उपस्थित होनेपर भोजनका त्याग करें।

भावार्थ—धर्मभ्रंशकी संभावनाके लिए कारणभूत और जिनका प्रतीकार नहीं किया जा सकता है ऐसे शारीरिक व्याधि, देशव्यास दुर्भिक्ष और असाध्य ज्वरादिक उपसर्गोंके उपस्थित होनेपर धर्मकी रक्षाके प्रयोजनसे शरीर छोड़नेके लिये समाधिमरणार्थी श्रावक वा मुनि भक्त प्रत्याख्यान करें। तथा अपने परिपाकसे आयुका स्वयं क्षय होनेके कारण शरीरके छूटनेके समयपर भी भक्तप्रत्याख्यान अनशन धारण करें। तथा (वा) शब्दसे घोरोपसर्ग उपस्थित होनेपर भी अनशन करें। इसप्रकारसे जो शास्त्रोक्त शरीर त्यजन, शरीर च्यवन और शरीर च्यावनके भेदसे तीन प्रकारका भक्त प्रत्याख्यान होता है यह समझना चाहिए।

अब—समाधिमरणके लिये शरीरके उपचारकी (संस्कारविशेषकी) विधिको कहते हैं—

अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो देहो नान्ते समाधये।
तत्कर्श्यो विधिना साधोः शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(अन्नैः पुष्टः) अन्नसे पुष्ट, (मलैः दुष्टः) विकृत वात, पित्त, कफसे दुष्ट

हुआ शरीर (अन्ते) मरण समयमें (समाधेः) समाधिके लिये (न 'भवति') योग्य नहीं होता है। (तत्) इसलिये (तदीप्सया) समाधिकी इच्छासे (साधुः) साधुको (विधिना) सल्लेखना विधानसे (अयं) यह शरीर (कर्श्यः) कृश–हलका करना चाहिये (च) और (शोध्यः) योग्य विरेचन–वस्तिकर्मके द्वारा शुद्ध करना चाहिये अर्थात् अपना जठरगत मल निकालना चाहिये।

भावार्थ—अन्नसे पुष्ट और वात, पित्त, कफ इनमेंसे किसी एक या अनेक दोषोंसे दुष्ट शरीर समाधिमरणके समय उपयोगी नहीं होता है। इसलिये समाधिमरणकी इच्छा रखनेवालोंको पहलेसे ही क्रमक्रमसे भलेप्रकार काय और कषायको कृश करनेकी विधिसे शरीरको कृश करना चाहिये। तथा व्याधिके कारणभूत–जठराशयके मलको योग्य विरेचन आदि द्वारा शुद्ध करना चाहिये।

अब—आगे इस बातका समर्थन करते हैं कि कषायके कृश करनेके विना कायका कृश करना व्यर्थ है—

सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनोः।
कायोऽजडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्ड्यते ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कषायान् असंलिखतः) क्रोधादि कषायोंको न घटानेवालेका (तनोः सल्लेखना) शरीरका कृश करना (निष्फला) निष्फल है। क्योंकि (अजडैः) ज्ञानिजनोंके द्वारा (कषायान् एव दण्डयितुं) कषायोंके निग्रह करनेके लिये ही (कायः दण्ड्यते) शरीरका निग्रह किया जाता है।

भावार्थ—काम क्रोधादि कषायोंको कम न करनेवालोंका उपवासादि द्वारा अपने शरीरका कृश करना व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञानीजन कषाय कम करनेके प्रयोजनसे ही शरीरको उपवासादिकसे कृश करते हैं।

अब—हमेशा भोजन करनेके कारण जिनका मन अपने काबूमें नहीं है उनके द्वारा कषाय दुर्जय होते हैं यह स्पष्ट रीतिसे बताकर शरीर और आत्माका भेद विज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है उनके जयशीलपनेको प्रगट करते हैं—

अन्धोमदान्धैः प्रायेण कषायाः सन्ति दुर्जयाः।
ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञानात्तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(प्रायेण) बहुधा (अन्धोमदान्धैः) आहारसे उत्पन्न जो मद अर्थात् मानसिक दर्प होता है उसमें अंध अर्थात् स्वपर भेदज्ञान रहित जो व्यक्ति होते हैं उनके द्वारा (कषायाः दुर्जयाः 'सन्ति') कषाय जीते नहीं जा सकते हैं। (ये तु) और जो पुरुष (स्वाङ्गान्तरज्ञानात्) आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे (तान् जयन्ति) उन कषायोंको जीतते हैं (ते जयन्ति) वे जगत्में सर्वोत्कृष्ट रूपसे शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—प्रायः अन्नके मदके वशसे विचारशून्य व्यक्तियोंके द्वारा कषाय जीते नहीं जा सकते

हैं। जो आत्मा लोक और शरीरके भेदविज्ञान द्वारा उन कषायोंको जीतते हैं, वे जयवन्ते होओ। कोई २ अविरत सम्यग्दृष्टी संयम धारण किये विना ही अपने भेदविज्ञानसे कषायोंको जीतते हैं इसको दर्शानेके लिये यहांपर प्रायः शब्द दिया है।

अब—इस प्रकार क्षपकके लिये देह और आहारके त्यागकी विधि वताकर ईहित अर्थात् अपनेको इष्ट मालूम पड़नेवाले पदार्थोंके त्यागकी भी प्रेरणा करते हैं—

गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः।
योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य तदात्माऽऽत्मनि युज्यताम् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(पुंसः) पुरुषको (तनोः) शरीरका (हानं) त्याग करना (गहनं न) दुष्कर नहीं है (किन्तु अत्र संयमः) किन्तु शरीरके त्यागके समय संयम धारण करना ('गहनः') कठिन है (तत्) इसलिये क्षपकको (आत्मा योगानुवृत्तेः व्यावर्त्य) अपनी आत्माको अपने मन, वचन, कायके व्यापारसे व्यावृत्त करके (आत्मनि) अपनी आत्मामें (युज्यताम्) लीन करनी चाहिये।

भावार्थ—कोई कोई स्त्रियां भी अपने पतिके वियोगमें शरीरका त्याग कर देती हैं इसलिये पुरुषको शरीरका त्याग करना कठिन नहीं है। किन्तु शरीरके त्याग करते समय संयमका रहना कठिन है। इसलिये क्षपकको इन्द्रियोंके व्यापारके तरफ अनुसरणरूप अपनी मन, वचन, कायकी वृत्तिको हटाकर अपनी आत्माको अपनी आत्मामें लीन करना चाहिये।

अब—श्रावक वा मुनि दोनोंको ही समाधिमरणसे एक प्रकारका विशेष फल प्राप्त होता है, यह बताते हैं—

श्रावकः श्रमणो वाऽन्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशयः।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदितः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(श्रावकः वा श्रमणः) श्रावक वा मुनि ये दोनों ही (अन्ते) मरणसमयमें (योग्यां कृत्वा) "प्रायार्थी" इ० इसी अध्यायके २०, वें श्लोकके द्वारा वर्णित=परिकर्मको करके (स्थिराशयः) निश्चलचित्त होकर (शुद्धः स्वात्मरतः) निर्मल निज चिद्रूपमें लीन होकर (प्राणान् मुक्त्वा) प्राणोंको छोड़कर (उदितोदितः स्यात्) नानाप्रकारके उत्तरोत्तर वर्द्धमान अभ्युदयोंको प्राप्त करके अन्तमें मोक्षका अधिकारी होता है ?

भावार्थ—जो श्रावक वा मुनि आगेके "प्रायार्थी" इत्यादि श्लोकोंके द्वारा वर्णित परिकर्म करके स्थिरचित्त होता हुआ शुद्ध स्वात्मामें लीन होकर प्राणोंको छोड़ता है वह देवादि पर्याय सम्बंधी नाना-प्रकारके देवेन्द्रादि पदवीके अभ्युदयोंको भोगकर अन्तमें मनुष्य भव धारणकर मोक्षपदको प्राप्त करता है।

अब—निर्यापकके बलसे अपनी आत्मामें जिसने वास्तवमें रत्नत्रय भावना भाई है उसके लिये समाधिमरणके समयपर किसी प्रकार विघ्न अंतराय नहीं आसकता यह बताते हैं—

समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न।
दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(गणेशे च गणे) निर्यापक आचार्य तथा संघके (समाधिसाधनचणे 'सति') समाधिसाधनमें तत्पर रहते हुए (भवितात्मनः) अपनी आत्माकी भावना करनेवाले समाधिमरणार्थीके लिये दूसरेकी तो बात ही क्या (दुर्दैवेन अपि) दुर्दैवके द्वारा भी (प्रत्यूहः) विघ्न करना (सुकरः न) सरल नहीं है।

भावार्थ—जिस आत्मलीन समाधिमरणार्थीके सल्लेखनाके सम्पादनमें निर्यापक आचार्य तथा संघ सहयोग देरहा है और जो निज आत्मामें लीन है उसके सल्लेखना करते समय दूसरोंकी तो बात ही क्या-स्वतःका पूर्वोपार्जित दुर्दैव भी उसकी समाधिकी सिद्धिमें विघ्न नहीं डाल सकता।

सारांश यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये अंतरंग कारण आत्मलीनता है, और बहिरंग कारण निर्यापकाचार्य तथा संघकी सहयोगिता है। इन दोनों ही कारणोंके रहनेपर समाधिमें विघ्न भला कैसे आसकता है? अर्थात् नहीं आसकता है।

अब—आगेके दो श्लोकोंसे समाधिमरणका माहात्म्य वर्णन करते हैं—

प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(अमुना जन्तुना) इस प्राणीने (प्राग्) इस भवके पहले (अनन्ताः तद्भव-मृत्यवः प्राप्ताः) अनन्त तद्भव मरण पाये (परं) परन्तु (समाधिपुण्यः) समाधिसे पवित्र (परमः) इतर सर्व क्षणोंसे उत्कृष्ट (चरमक्षणः) अन्तिम क्षण (न 'प्राप्तः') नहीं पाया।

भावार्थ—मरण दो प्रकारके होते हैं। १—प्रतिसमय मरण, (आवीचिमरण) और २—तद्भव मरण। इस जीवने इस भवके पहले अनंत तद्भवमरण प्राप्त किये परन्तु रत्नत्रयकी एकाग्रतासे पवित्र अन्तिम समयवाला तद्भवमरण नहीं पाया है अर्थात् पहले कभी भी समाधि सहित मरण नहीं पाया है।

परं शंसन्ति महात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वज्ञाः) सर्वज्ञ (चरमसमये) मरणके उस अंतिम समयमें (परं माहात्म्यं शंसन्ति) उत्कृष्ट माहात्म्यको बताते हैं (यस्मिन्) जिसमें (समाहिताः भव्याः) रत्नत्रयकी आराधनामें सावधान रहनेवाले भव्य (भवपञ्जरं भञ्जन्ति) संसाररूपी पिंजरेको तोड़ते हैं।

भावार्थ—जिस मरणके अन्त समयमें भव्यजीव रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होकर संसाररूपी पिंजरेका भंजन करते हैं इसलिये मरणके उस अन्त समयका सर्वज्ञ उत्कृष्ट माहात्म्य वर्णन करते हैं—

अब—सन्यास धारणके लिये क्षेत्रविशेषकी स्वीकारताका वर्णन करते हैं—

प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थानं परमपावनम् ।
आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(प्रायार्थी) सन्यास मरणका इच्छुक क्षपक (परमपावनं) परम पवित्र (जिन-जन्मादिस्थानं) जिनेन्द्र भगवानके जन्मकल्याणक आदिके स्थानका-क्षेत्रका (आश्रयेत्) आश्रय करे (तदलाभे तु) और यदि उसका लाभ न होसके तो (योग्यं) योग्य (अर्हद्गृहादिकं) जिन मन्दिर आदिकका (आश्रयेत्) आश्रय करे।

भावार्थ—सन्यासमरणकी इच्छा करनेवाला जिनेन्द्रके जन्मस्थान-दीक्षास्थान आदि पवित्र तीर्थक्षेत्रोंका आश्रय करे। और यदि वहांतक पहुंचनेकी योग्यता न हो अर्थात् वहांतक न पहुंच सकता हो तो समाधि योग्य जिन मंदिर, मठ आदिकका आश्रय करे।

अब—तीर्थस्थानके लिये प्रस्थान करते हुये यदि बीचमें मरण होजाय तो समाधिमरणार्थीका आराधकत्व कायम रहता है, यह बताते हैं—

प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे तदा ।
अस्त्येवाराधको यस्माद्भावना भवनाशिनी ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (तीर्थाय) समाधिमरणके हेतुसे तीर्थस्थानके लिये (प्रस्थितः) प्रस्थान करनेवाला (अवान्तरे म्रियते) बीचमें मरणको प्राप्त होजाय (तदा) तो (आराधकः अस्ति एव) वह आराधक है ही (यस्मात्) क्योंकि (भावना भवनाशिनी) भावना भवनाशिनी होती है।

भावार्थ—समाधिमरणकी सदिच्छासे निर्यापकाचार्यकी प्राप्तिके लिये अथवा तीर्थस्थानके लिये प्रयाण करनेवाला यदि बीचमें मरणको प्राप्त होजाय तो भी वह आराधक ही रहता है। क्योंकि समाधि साधनकी भावना उसको होचुकी है और वह भावना ही उसके भवोंके नाशका कारण है।

अब—तीर्थस्थानको प्रस्थान करते समय दूसरेके अपराधोंको क्षपक स्वयं क्षमा करे और दूसरेसे भी क्षमा मांगे यह उपदेश देते हैं—

रागाद् द्वेषान्ममत्वाद्वा यो विराद्धो विराधकः ।
यश्च तं क्षमयेत्तस्मै क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(सः) तीर्थके लिये प्रस्थान करनेवाला समाधिमरणार्थी (रागात्) स्नेहसे (द्वेषात्) क्रोधसे (वा) अथवा (ममत्वात्) मोहसे (यः) जो (विराद्धः) अपने द्वारा दुःखमें डाला गया है (तं) उससे (त्रिविधेन क्षमयेत्) मन, वचन, कायसे क्षमा मांगे (च) और (यः) जो (विराधकः) अपने प्रति वैमनस्यका करनेवाला है (तं) उसको ("त्रिविधेन") मन, वचन, कायसे (क्षाम्येत् च) क्षमा करे।

भावार्थ—वह समाधिमरणके लिये तीर्थको प्रस्थान करनेवाला क्षपक रागद्वेष और मोहवश

होकर जिसको हमने दुःख दिया है उससे मन, वचन, कायपूर्वक क्षमा मांगे और जिसने अपनेको दुःख दिया है उसके लिये मन, वचन, कायसे स्वयं क्षमा करे।

अब—उक्त प्रकारसे क्षमा करने और करानेके फलको बताते हैं—

तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च।
क्षाम्यन्ति न क्षमयतां ये ते दीर्घाजवञ्जवा ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(ये क्षाम्यन्ति च क्षमयन्ति) जो अपराधीके प्रति क्षमा करते हैं और जिसका अपने द्वारा अपराध हुआ है उससे क्षमा मांगते हैं (तैः) उनसे (भवार्णवः तीर्णः) संसाररूपी समुद्र तिरलिया गया है। किन्तु (ये) जो (क्षमयतां) क्षमा मांगनेवालोंको (न क्षाम्यन्ति) क्षमा प्रदान नहीं करते हैं (ते) वे (दीर्घाजवञ्जवाः) दीर्घ संसारी हैं।

भावार्थ—जो पुरुष दूसरोंके अपराधोंकी क्षमा करते हैं और अपने अपराधोंकी दूसरोंसे क्षमा मांगते हैं, वे भवरूपी समुद्रसे जल्दी पार होते हैं। और जो क्षमा मांगनेपर भी दूसरोंपर क्षमा नहीं करते हैं, वे पुरुष दीर्घसंसारी होते हैं।

अब—आगे क्षपककी आलोचनाकी विधिको बताते हैं—

योग्यायां वसतौ काले स्वागः सर्वं स सूरये।
निवेद्य शोधितस्तेन निःशल्यो विहरेत्पथि ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(सः) क्षपक (योग्यायां वसतौ) आलोचनाकी विधिके योग्य स्थान और (काले) कालमें (सूरये) निर्यापकाचार्यके पास (सर्वं स्वागः) अपने संपूर्ण अपराधोंको—अतीचारोंको (निवेद्य) निवेदन करके (तेन) निर्यापकाचार्यके द्वारा बताई हुई (शोधितः) प्रायश्चित्त विधिके अनुसार शुद्ध होकर (निःशल्यः) तीनों प्रकारके शल्योंसे रहित होता हुआ (पथि) अपने रत्नत्रयके मार्गमें (विहरेत्) संचार करे।

भावार्थ—वह क्षपक तीर्थस्थानमें जाकर निर्यापकाचार्यके सामने अपने व्रतोंमें लगे हुए अतीचारोंके सम्बन्धमें योग्य स्थान और योग्य कालमें आलोचना करे तथा गुरुके द्वारा बताये हुये प्रतिक्रमणके द्वारा अपने व्रतोंकी शुद्धि करे। और इस प्रकारसे अपने व्रतोंकी शुद्धि करके निःशल्य होकर अपनी रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होवे।

अब—आगे समाधिमरणके लिये संस्तर (चटाई या पटाके) के ऊपर आरोहणकी विधिको बताते हैं—

विशुद्धिसुधया सिक्तः स यथोक्तं समाधये।
प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(सः) क्षपक (विशुद्धिसुधया) शारीरिक पवित्रता अथवा प्रायश्चित्त विधान

सम्बंधी विशुद्धिरूपी अमृतसे (सिक्तः) सिंचित होता हुआ (यथोक्तं) आगमके अनुसार (समाधये) समाधिके लिये (प्राक् वा उदक्) पूर्व वा उत्तरके तरफ (शिरः कृत्वा) शिर करके (स्वस्थः) अनाकुल होकर (संस्तरं आश्रयेत्) संस्तरका आश्रय करे।

भावार्थ—क्षपक शारीरिक पवित्रतारूपी अमृतसे अथवा प्रायश्चित्त विधानसे स्वीकार किए हुए विशुद्धिरूपी अमृतसे सिंचित होकर समाधिके लिये आगमके अनुसार पूर्व अथवा उत्तरकी तरफ शिर करके स्वस्थ होता हुआ समाधिके योग्य संस्तरके ऊपर आरोहण करे।

अब—संस्तरके ऊपर आरोहण करते समय महाव्रतकी याचना करनेवाले समाधिमरणार्थीके लिये मुनिलिंगके विधानका उपदेश करते हैं—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिङ्गिने ।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिङ्गमौत्सर्गिकं तदा ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिस्थानदोषयुक्ताय आपवादिकलिङ्गिने अपि महाव्रतार्थिने) जो लिंग संबंधी तीन दोषोंसे युक्त आपवादिक लिङ्गी हैं अर्थात् सग्रन्थ चिह्नको धारण करनेवाले श्रावक हैं वे यदि उस समय महाव्रतकी याचना करें तो उन्हें (तदा) उस समय निर्यापकाचार्य (औत्सर्गिकं लिङ्गं दद्यात्) मुनिदीक्षा देवें।

भावार्थ—औत्सर्गिक और आपवादिक लिङ्गकी व्याख्या इसी अध्यायमें पहले की जा चुकी है। दो अंडकोश और तीसरे लिङ्ग सम्बन्धी दोषोंको त्रिस्थान दोष कहते हैं। यद्यपि साधारणरूपसे इन लिङ्ग सम्बन्धी दोषवालोंको मुनिदीक्षा निषिद्ध है तथापि संस्तरारोहणके समय समाधिमरणार्थी श्रावक इन दोषोंसे सहित होकर भी यदि निर्यापकाचार्यसे मुनिदीक्षाकी याचना करे तो उस समय निर्यापकाचार्य उसको मुनिदीक्षा देवे।

अब—उत्कृष्ट श्रावक भी लंगोटी सहित होनेके कारण उपचरित महाव्रतके लिये भी अयोग्य समझा जाता है। परन्तु आर्यिका उपचरित अपरिग्रहके कारण महाव्रतके योग्य हैं, यह बताते हैं—

कौपीनेऽपि समूर्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ।
अपि भाक्तममूर्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(अपि) अहो! आश्चर्य है कि (आर्यः) ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक (कौपीने) लंगोटी मात्र रहते हुए (समूर्च्छत्वात्) परिग्रह सहित होनेके कारण (भाक्तं अपि महाव्रतं) उपचरित भी महाव्रतके (न अर्हति) योग्य नहीं है। किन्तु (आर्यिका साटके अपि) आर्यिका एक साड़ीके धारण करनेपर भी ('भक्तं एव महाव्रतं') केवल उपचरित महाव्रतके देनेके लिये (अमूर्च्छत्वात्) भावोंसे परिग्रहसे रहित होनेके कारण (अर्हति) योग्य समझी जाती है।

भावार्थ—इस पद्यमें एक "अपि" शब्द विस्मय वाचक है। इसलिये अपिका यह अर्थ है कि

अहो ! आश्चर्य है कि श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी होकर भी केवल लंगोटी होनेके कारण उपचरित महाव्रतका भी अधिकारी नहीं है। क्योंकि वह अपने लंगोटी मात्र परिग्रहका भी त्याग कर सकता है परन्तु उसने उसका त्याग नहीं किया है तथा आर्यिका संहननादि दोषवश निर्ग्रंथ दीक्षा नहीं ले सकती है, इसलिये वह अपने साड़ी मात्र परिग्रह रहते हुए भी वह केवल उपचरित महाव्रतकी अधिकारिणी मानी गई है। यह विशेष कथन यहां केवल प्रसंगवश किया गया है।

अब—प्रशस्त लिंगवाला होकर भी कौनसा गृहस्थ किस समय जिन दीक्षाका अधिकारी नहीं होसकता है, यह बताते हैं—

ह्रीमान्महर्द्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबान्धवः।
सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (शस्तलिंगः अपि) उपर्युक्त अण्डकोश और लिंग सम्बन्धी दोषोंसे रहित होकर भी (ह्रीमान्) लज्जावाला है (महर्धिकः) बड़ी संपत्तिवाला है (वा) तथा (मिथ्यात्व-प्रायबान्धवः) जिसके नातेदार बहुभाग मिथ्यादृष्टि हैं (सः) वह (अविविक्ते पदे) बहुजनोंसे व्याप्त स्थानमें—अर्थात् सर्वसाधारणके सामने (नाग्न्यं) नग्नत्वकी दीक्षाके लिये (न अर्हति) योग्य नहीं है।

भावार्थ—प्रशस्त लिंग होकर भी जिसको नग्नता धारण करनेमें लाज मालूम पड़ती है, विपुल संपत्तिका धारक होनेके कारण नग्न अवस्था ग्रहण करनेके बाद "देखो यह कितना बड़ा श्रीमान् था और अब नग्न होकर घूमता फिरता है" इस प्रकारके लोकापवादसे जिसे डरनेकी आशंका है; अथवा बहुभाग जिसके बन्धु-बांधव मिथ्यादृष्टि होनेसे उनके द्वारा की गई निन्दाका जिसे लज्जा-शीलताके कारण डर है, वह सर्वसाधारण लोगोंके सामने नग्नत्वके लिये अधिकारी नहीं है। वह केवल एकांत स्थानमें जिन दीक्षाका अधिकारी है।

अब—संस्तरारोहणके समय स्त्रीके लिये लिङ्ग विकल्पमें अतिदेश बताते हैं। अर्थात् उस समय पुरुषके समान स्त्रीको नग्नत्व दीक्षा देना इष्ट है यह बताते हैं—

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जिनैः) जिनेन्द्र भगवानने (यत्) जो कोई (औत्सर्गिकं) औत्सर्गिक (वा अन्यत्) अथवा दूसरे 'पद ग्रहण' वगैरह कहे हैं (तत्) वह सब मुनिलिंग ग्रहण आदि (मृत्युकाले) मरण समयमें (स्वल्पीकृतोपधेः स्त्रियाः) अत्यन्त स्वल्प परिग्रहको धारण करनेवाली स्त्रीके लिये भी अर्थात् आर्यिकाके लिये भी (पुंवत्) पुरुषकी तरह (इष्यते) इष्ट है।

भावार्थ—शास्त्रकारोंने जिनेन्द्रोक्त आगममें जो औत्सर्गिक लिंग—नग्नत्व आदिकका प्रतिपादन

पुरुषके लिये किया है, वह सब कथन, केवल मृत्युकालमें समाधिके समयपर अशक्यानुष्ठानवश अत्यन्त अल्प परिग्रह धारण किया है जिसने ऐसी केवल साडीमात्र परिग्रहको धारण करनेवाली आर्यिकाके लिए भी शास्त्रज्ञोंके द्वारा है। अर्थात् मृत्युके समय पुरुषके समान स्त्रीको नग्नत्वकी दीक्षा दी जा सक्ती है।

अब—मुमुक्षुको नग्नत्व लिंग आदिका भी मोह छोड़कर केवल स्वद्रव्यमें लीन होना चाहिये यह बताते हैं—

देह एव भवो जन्तोर्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम् ।
जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(जन्तोः) प्राणिका (देहः एव भवः) देह ही संसार है। इसलिये (तदाश्रितम् यत् लिङ्गं च 'अस्ति') देहाश्रित जो नग्नत्वादिक लिङ्ग है—पद है (तत्र) उसके विषयमें भी (जातिवत्) ब्राह्मणत्वादि जातिकी तरह (तद्ग्रहं) नग्नत्वादि लिङ्गकी आसक्तिको भी (त्यक्त्वा) छोड़ करके क्षपक (स्वात्मग्रहं) स्व—शुद्ध चिद्रूपकी तत्परताको (विशेत्) धारण करे।

भावार्थ—वास्तवमें जीवके लिये देह ही संसार है, इसलिये ब्राह्मणत्व आदि जातिके अभिनिवेशके समान नग्नत्वादि लिंग सम्बन्धी अभिनिवेशको भी समाधिमरणके समय, क्षपक त्याग करे। और उसका त्याग करके केवल शुद्ध चिदानन्दमय स्वरूपके चिंतवनमें लीन होवे।

अब—परद्रव्यका अभिनिवेश रखना ही बंधका हेतु माना है, इसलिये उसके प्रतिपक्षभूत भावनाको भानेके लिये उपदेश देते हैं—

परद्रव्यग्रहेणैव यद्बद्धोऽनादिचेतनः ।
तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव मोक्ष्यतेऽतस्तमावहेत् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे (चेतनः) यह जीव (परद्रव्यग्रहेण एव) शरीरादिक परद्रव्यकी ममतासे (अनादिबद्धः) अनादिकालसे बद्ध हुआ है (तत्) इसलिये (स्वद्रव्यग्रहेण एव) आत्म—लीनतासे ही (मोक्ष्यते) वह जीव मुक्त होसकता है (अतः) इसलिये मुमुक्षु (तं) उस आत्म—लीनताको (आवहेत्) धारण करे अर्थात् अपना उपयोग शुद्धात्माके अनुभवमें लगावे।

भावार्थ—केवल परद्रव्यकी आसक्तिसे ही आत्मा अनादिसे बन्धको प्राप्त हुआ है। अतः उसके प्रतिपक्षभूत स्वद्रव्यकी आसक्तिसे ही वह अपने अनादि बन्धसे मुक्त होसकता है। इसलिये मुमुक्षुको अपने शुद्ध चिदानंदरूप आत्माकी परिणतिके अनुभवमें ही अपना उपयोग लगाना चाहिये।

अब—शुद्धि और विवेककी प्राप्तिपूर्वक जो समाधिमरण होता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

अलब्धपूर्वं किं तेन न लब्धं येन जीवितम् ।
त्यक्तं समाधिना शुद्धिं विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस क्षपकने (पंचधा) पांच प्रकारकी (शुद्धि) शुद्धिको (च) और (विवेकं अपि) विवेकको भी (आप्य) प्राप्त करके (समाधिना) समाधि सहित (जीवितं त्यक्तं) अपने जीवनको छोड़ा है (तेन) उस महाभव्यने (अलब्धपूर्वं किं) जिसकी प्राप्ति पहले कभी नहीं हुई ऐसा कौनसा महाभ्युदय (न लब्धं) प्राप्त नहीं कर लिया है। अर्थात् सब कुछ प्राप्त करलिया है।

भावार्थ—पांच प्रकारकी शुद्धि और पांच प्रकारका विवेक ग्रंथकार आगे स्वयं वर्णन करनेवाले हैं। जिस महाभव्य क्षपकने इन पांचप्रकारकी शुद्धि और विवेककी प्राप्तिपूर्वक समाधिसहित मरण किया है उसने जिन महाभ्युदयोंकी प्राप्ति पहले कभी नहीं हुई है उन सब महाभ्युदयोंकी प्राप्तिको पालिया है।

अब—बहिरङ्ग विषयक और अन्तरङ्ग विषयक पांच प्रकारकी शुद्धिका वर्णन करते हैं—

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्त्येषु पञ्चधा।
शुद्धिः स्यात् दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु वा॥ ४२॥

अन्वयार्थ—(शुद्धिः) शुद्धि (शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्त्येषु) शय्या, उपधि, आलोचना, अन्न और वैयावृत्यके विषयमें बहिरङ्गरूपसे (पंचधा स्यात्) पांच प्रकारकी होती है (वा) तथा (दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु) दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और सामायिकादि षट् आवश्यकके विषयमें अन्तरङ्गरूपसे ('पञ्चधा स्यात्') पांच प्रकारकी होती है।

भावार्थ—१—यहां प्रसंगानुसार वसतिस्थान और संस्तरको शय्या कहा है, २—संयमके उपकरण जो पिछी—कमंडलु आदि हैं उसको उपधि कहते हैं, ३—गुरुके सामने अपने दोषोंके निवेदनको आलोचना कहते हैं, ४—चतुर्विध आहारको अन्न कहते हैं और ५—परिचारकोंके द्वारा किये जानेवाले पाद-मर्दन आदिको वैयावृत्य समझना चाहिये। इन विषयोंमें प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम सहित जो प्रवृत्ति उसे बहिरङ्ग शुद्धि कहते हैं और वह उपरोक्त विषयोंके भेदसे पांच प्रकारकी है।

तथा १—सम्यग्दर्शन, २—सम्यग्ज्ञान, ३—सम्यक्चारित्र, ४—अन्तरङ्ग विनय और ५—सामायिक वंदना प्रतिक्रमण आदि मुनियोंके जो छह आवश्यक कर्म हैं उनके विषयमें अतिचार रहित जो प्रवृत्ति है उसको अन्तरङ्गशुद्धि कहते हैं। वह भी अपने विषयभेदसे पांच प्रकारकी है।

अब—शुद्धिके समान अन्तरङ्ग और बहिरंग विषयोंके भेदसे विवेक भी पांच प्रकारका है, यह बताते हैं—

विवेकोऽक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु पञ्चधा।
स्याच्छय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा॥ ४३॥

अन्वयार्थ—(विवेकः) विवेक (अक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु) अक्ष, कषाय, अंग, भक्त और उपधि, इनको विषय करनेके कारण अन्तरङ्गरूपसे (पंचधा स्यात्) पांच प्रकारका है (वा) तथा

(शय्यौपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु) शय्या, औषधि, काय, अन्न, और वैयावृत्य इनके विषयमें वहिरंगरूपसे ('पंचधा स्यात्') पांच प्रकारका है ।

भावार्थ—मेरा चिद्रूप सबसे भिन्न हैं, इस प्रकारसे अपने भिन्नरूप सिद्ध करनेयोग्य अध्यवसायको विवेक कहते हैं । यह विवेकका सामान्य लक्षण है । और अपनी १ इन्द्रियोंसे २ कषायोंसे ३ शरीरसे ४ अन्नसे और ५ उपधिसे अपने पृथग्भावका चिंतवन करना यह भावविवेक अर्थात् अन्तरङ्ग विवेक है और वह भावविवेक उपरोक्त विषयभेदसे पांच प्रकारका है । तथा द्रव्यविवेक तीन प्रकारका है और किन्ही आचार्योंने पांच प्रकारका भी माना है । १ शरीर २ आहार और ३ संयमोपकरण (उपधि) से अपना पृथक् चिंतवन करना यह तीन प्रकारका द्रव्य विवेक है । तथा १ शय्या २ औषधि ३ काय ४ अन्न और ५ परिचारक इनसे अपना पृथक् चिंतवन करना यह पांच प्रकारका बहिरंग विवेक है ।

अब—ग्रंथकारने समाधिमरणके विषयमें सामान्यरूपसे वर्णन किया । अर्थात् समाधिकी विधि आदि श्रावक और मुनि दोनोंके लिये बताई है। अब आगेके पद्यसे मुनि और श्रावकोंमें महाव्रतकी भावनामें जो अन्तर होता है, वह बताते हैं—

निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतम् ।
निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(निश्चेलः) मुनि समाधिमरण करते समय (स्वं) अपनेको (निर्यापके) निर्यापकाचार्यको (समर्प्य) समर्पित करके (भक्त्या) भक्तिसे (महाव्रतं आरोप्य) पांच प्रकारके महाव्रत और तीन गुप्ति पांच समिति इस प्रकारसे तेरह प्रकारके चारित्रको अपनी आत्मामें व्यवस्थापित करके (भावयेत्) पुनः पुनः उन व्रतोंकी भावना भावे (अन्यः तु) और श्रावक तो (अनारोपितं एव) न लिये हुवे उन महाव्रतोंकी केवल भावना भावे ।

भावार्थ—महाव्रती मुनि क्षपक अवस्थामें अपनेको निर्यापकाचार्य प्रति समर्पित करके भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए महाव्रतोंकी पुनः पुनः भावना भावे । और अणुव्रती सग्रन्थ—श्रावक क्षपक महाव्रतोंके धारणेकी भावनाको भावे । यही महाव्रतोंकी भावनाके संबंधमें सचेल और अचेल क्षपकोंमें अन्तर है ।

अब—आगे संस्तरपर आरूढ हुये क्षपकको पांच प्रकारके अतिचारके त्यागपूर्वक सल्लेखना विधिसे अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये यह बताते हैं—

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन् ।
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखनाविधिना ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(संस्तरगः) संसारपर आरूढ़ हुआ क्षपक (जीवितमरणाशंसे) १ जीवित-

आशंसा और २ मरण—आशंसाको (सुहृदनुरागं) ३ मित्रानुरागको और (सनिदानं) ५ निदान सहित (सुखानुबन्धं) ४ सुखानुबन्ध नामके अतीचारको भी (अजन्) त्यागता हुआ (सल्लेखना-विधिना) सल्लेखनाकी विधि सहित (चरेत्) अपनी प्रवृत्ति करे।

भावार्थ—(१) जीविताशंसा—यह शरीर अवश्य हेय है, जल बुदबुदके समान अनित्य है, इत्यादिक बातको स्मरण न करते हुये इस शरीरकी स्थिति कैसे कायम रहेगी, इसप्रकारके शरीरके प्रति आदरभावको जीविताशंसा कहते हैं। अथवा पूजाविशेष देखकर, खूब वैयावृत्य देखकर, तथा सर्व लोगोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर मनमें यह मानना कि "चार प्रकारके आहारका त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो बहुत अच्छा है, क्योंकि यह सब उपरोक्त विभूति मेरे जीवनके ही निमित्तसे होरही है।" इसप्रकारके जीवनकी आकांक्षाको जीविताशंसा नामका अतीचार कहते हैं।

(२) मरणाशंसा—रोगोंके उपद्रवकी आकुलतासे प्राप्त जीवनमें संक्लेशवालेके मरणके प्रति उपयोगका लगाना यह मरणाशंसा नामका अतीचार है। अथवा जब क्षपकने चार प्रकारके आहारका परित्याग कर दिया है और कोई उसका पूजापूर्वक आदर नहीं करता है, किसी प्रकारकी उसकी श्लाघा नहीं करता है, उससमय उसके अन्तःकरणमें ऐसे भावोंका होना कि 'मेरा शीघ्र मरण हो जाय तो बहुत अच्छा है।' इस प्रकारके विविध परिणामोंके होनेको मरणाशंसा नामका अतीचार कहते हैं।

(३) सुहृदनुराग—बाल्यकालमें अपने मित्रोंके साथ हमने ऐसे ऐसे खेल खेले हैं, हमारे अमुक मित्र विपत् पड़नेपर सहायता करते थे, अमुक मित्र हमारे उत्सवोंमें तत्काल उपस्थित होते थे, इस प्रकारसे बालमित्रोंके प्रति अनुराग भावोंका पुनः पुनः स्मरण करना सुहृदनुराग नामका अतीचार है। अथवा बाल्यादिक अवस्थामें साथ खेलनेवाले मित्रोंका अनुस्मरण करना, सुहृदनुराग नामका अतीचार है।

(४) सुखानुबन्ध—मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, मैं ऐसी शय्याओंपर सोता था, मैं ऐसा खेलता था, इत्यादि प्रकारसे प्रीतिविशेषका पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध नामका अतीचार है।

(५) निदान—इस दुद्धर तपके प्रभावसे मुझे भविष्य जन्ममें इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती-पदकी प्राप्ति होवे, इसप्रकारसे भविष्यमें अभ्युदयकी वांछाको निदान नामका अतीचार कहते हैं। इसप्रकार पांच प्रकारके अतीचारोंको छोड़कर (जन्मजरामृत्युजरानैका० इत्यादि) इसी अध्यायमें वर्णित १३ में श्लोकके अनुसार सल्लेखना विधिसे आचरण करे। 'चरेच्च' इस 'च' पदसे यह द्योतित किया है कि संस्तरगत क्षपक पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार भावना भावे और इस श्लोकके अनुसार वह अपनी प्रवृत्ति भी करे।

अब—इसप्रकार संस्तरपर आरूढ़ क्षपकके प्रति निर्यापकाचार्यको उपरोक्त विधि करके आगे क्या करना चाहिये यह बताते हैं—

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये यथार्हं गुणवत्तमान्।
सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात् स ह्यार्याणां महाक्रतुः ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(सूरिः) निर्यापकाचार्य (तत्कृत्ये) क्षपकके प्रति कर्तव्यमें (यथार्हं) यथायोग्य (गुणवत्तमान्) मोक्षके कारणभूत जो सम्यग्दर्शनादि गुण उनमें श्रेष्ठताके धारक (यतीन्) यतियोंको (नियुज्य) नियुक्त करके (तं) उस क्षपकको (भूरि संस्कुर्यात्) रत्नत्रयके संस्कारोंसे खूब संस्कृत करे। (हि) क्योंकि (सः) वह समाधिसाधनविधि (आर्याणां) आर्योंका—यतियोंका (महाक्रतुः) परम यज्ञ है।

भावार्थ—निर्यापकचार्य क्षपकके आमर्शनादि शारीरिक कार्योंके लिये, विकथा निवारणके लिये, धर्मकथा करनेके लिये, भक्त-पान और शय्या साधनके लिये तथा मलोत्सर्ग करनेके लिये यथायोग्य रीतिसे गुणीसे गुणी यतियोंकी नियुक्ति करे। और आराधकके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको खूब सुसंस्कृत करे। क्योंकि यतियोंके लिये यह समाधिसाधन विधि परम यज्ञ है।

अब—क्षपकको आहारविशेष प्रगट दिखाकर भोजनासक्तिके निषेधके लिये कहते हैं—

योग्यं विचित्रमाहारं प्रकाश्येष्टं तमाशयेत्।
तत्रासजन्तमज्ञानाज्ज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—('सूरि') निर्यापकाचार्य (योग्यं विचित्रं आहारं) योग्य नानाप्रकारके आहारको (तं प्रकाश्यं) क्षपकको दिखाकर (इष्टं) उसको जो इष्ट है वह (आशयेत्) जिमावे और (अज्ञानात्) अज्ञानसे (तत्र आसजन्तं) उसमें आसक्त होनेवाले क्षपकको (ज्ञानाख्यानैः) बोधप्रद प्रसिद्ध आख्यानों द्वारा (निवर्तयेत्) उस आसक्तिसे परावृत्त करे।

भावार्थ—निर्यापकाचार्य योग्य नाना प्रकारके आहारको क्षपकको दिखाकर उनमेंसे उसे जो इष्ट मालूम पड़े वह उसको खिलावे। कोई भोज्यविशेषोंको देखकर मैं भवसमुद्रके किनारे आचुका हूं, अब इन भोज्योंसे मुझे क्या प्रयोजन है, इस प्रकार भोज्य पदार्थोंको देखकर वैरागी होता है और उस दृष्ट भोजनसे संवेग भावनाको प्राप्त होता है। कोई उन दृष्ट भोज्य पदार्थोंमेंसे कुछका ग्रहण करके शेष सबको छोड़ देता है और कोई क्षपक उनका आस्वादन करके आसक्त भी हो जाता है। क्योंकि मोहलीला विचित्र है। इसलिये निर्यापकाचार्य तत्वज्ञानके अभावसे दृष्टभोजनमें आसक्ति रखनेवाले क्षपकको बोधप्रद संन्यासपूर्वक मरनेवालोंके आख्यानों द्वारा परावृत्त करे।

अब—आगे ९ श्लोकोंके द्वारा क्षपककी आहार-विशेषकी आसक्तिके निषेधपूर्वक आहारके परिहारके क्रमको बताते हैं—

भो निर्जिताक्ष विज्ञातपरमार्थ महायशः।
किमद्य प्रतिभान्तीमे पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(भो निर्जिताक्ष) अहो जितेन्द्रिय, ('अहो' विज्ञातपरमार्थ) 'अहो' परमार्थ तत्वके जाननेवाले ('अहो' महायशः) 'अहो' दश दिशाओंमें व्यापक कीर्तिके धारक अहो क्षपक-शिरोमणि! (अद्य) आज (किं) क्या (इमे पुद्गलाः) ये भोजन–आसन–शयनादि सम्बन्धी पुद्गल (तव) तुझे (प्रतिभान्ति) आत्माके उपकारक मालूम पड़ते हैं?

भावार्थ—यहां 'किम' शब्द वितर्क अथवा आक्षेपवाचक है। निर्यापकाचार्य भोजनादिकमें आसक्ति रखनेवाले संन्यासगत क्षपकको इन उत्साहवर्धक सम्बोधनोंसे सम्बोधित करके समझावें कि–भो सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाले, सर्वसाधारणके समझमें न आनेवाले, निश्चय तत्वके असली स्वरूपका निश्चय करनेवाले, सदैव दशों दिशाओंमें भ्रमणशील यशके धारक भो आराधकराज! क्या तुमको अब इस समय, कि जिस समयमें आत्मलीनता धारण करनी चाहिये, यह पुद्गल आत्महितकारक मालूम पड़ते हैं?

किं कोपि पुद्गलः सोऽस्ति यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया।
न चैष मूर्तोमूर्तस्ते कथमप्युपयुज्यते ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(किं) क्या (सः कः अपि पुद्गलः अस्ति) कोई वह पुद्गल संसारमें है कि (यो) जो इंद्रियोंके द्वारा (त्वया) तूने (भुक्त्वा) भोगकर (न उज्झितः) नहीं छोड़ दिया है। (न च) नहीं है। (एषः मूर्तः) यह मूर्त पुद्गल (अमूर्तः ते) अमूर्त तुम्हारे लिये (कथं अपि उपयुज्यते) क्या किसी भी प्रकारसे उपयोगी है? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ—अनादिकालसे संसारमें रहनेवाले जीवके लिये ऐसा कोई भी पुद्गल बाकी नहीं है जिसको जीवने इंद्रियोंके द्वारा भोगकर न छोड़ा हो। इसलिये हे उपासक! तुम्हें इन पुद्गलोंमें क्या आसक्ति करनी चाहिये? नहीं करनी चाहिये। क्यों कि तुम अमूर्त हो। पुद्गल मूर्त है। आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वभाव है। इसलिये यह अमूर्त स्वरूप आत्माके लिये किसी भी प्रकारसे उपकारक नहीं होसकता है। अर्थात् आकाशके प्रति पुद्गल कुछ नहीं करता वैसे ही अमूर्त आत्माके प्रति भी वह उपकारक नहीं है, केवल देहका उपकारक है।

केवलं करणैरेनमलं ह्यनुभवन्भवान्।
स्वभावमेवेष्टमिदं भुञ्जेऽहमिति मन्यते ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(करणैः) इंद्रियोंके द्वारा (एनं) इस पुद्गलको (अलं) विषय करके (हि) निश्चयसे (स्वभावं एव) अपने स्वभावका ही (अनुभवन्) अनुभवन करनेवाला (भवान्) तू "(इदं इष्टं अहं भुञ्जे)" इस सामने उपस्थित इष्ट वस्तुका मैं भोग कर रहा हूं (इति) यह (केवलं) केवल (मन्यते) समझता है।

भावार्थ—हे उपासक! मैं इस इष्ट पदार्थका उपभोग कर रहा हूं ऐसी जो तेरी समझ है

वह केवल कल्पना है। क्योंकि वास्तवमें पुरोवर्ति पुद्गलोंको विषय करके विषयी जो तेरा स्वभाव है उसका हीं तू वास्तवमें उपभोग करता है। और केवल " मैं पुरोवर्ति पुद्गलका उपभोग करता हूं " यह तू मानता है। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रमें अपने संकल्प विकल्पका ही भोग बताया है, पदार्थका नहीं, इसी बातको यहां दर्शाया है।

तदिदानीमिमां भ्रान्तिमभ्याजोन्मिषतीं हृदि ।
स एष समया यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(तत्) इसलिये (इदानीं) इस समय (हृदि) हृदयमें (उन्मिषतीं) उठती हुई (इमां भ्रान्ति) इस अभोग्य पुद्गलमें भोग्यताके भ्रमको (अभ्याज) छोड़। (सः एषः समयः) यह वह समय है (यत्र) जिस समयमें (बुधाः) तत्वज्ञानी लोग (स्वहिते) अपने हितके विषयमें (जाग्रति) सावधान होते हैं।

भावार्थ—पूर्वोक्त कथनानुसार पुद्गल वास्तवमें इंद्रियोंके द्वारा भोग्य नहीं है, केवल मैं पुद्गलोंका भोग करता हूं यह भ्रम है, इसलिये हे उपासक ! हृदयमें उठनेवाले इस भ्रमका तू अब त्याग कर। यह वह समय है कि जिसमें तत्वदृष्टा ज्ञानीजन अपने स्वहितके विषयमें सावधान होते हैं।

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्य इत्येकान्तेन चिन्तय ।
येनापास्य परद्रव्यग्रहवेशं स्वमाविशेः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(पुद्गलः अन्यः) पुद्गल मुझसे भिन्न है (अहं च अन्यः) और मैं पुद्गलसे भिन्न हूं (इति एकान्तेन चिन्तय) इसप्रकारकी सर्वथा भावना कर। (येन) जिस भेदज्ञानसे (परद्रव्यग्रहवेशं अपास्य) परद्रव्यकी आसक्तिको छोड़कर (स्वं आविशेः) तू अपने आत्म-द्रव्यके उपयोगमें तत्पर होवे।

भावार्थ—हे आराधक! तू " मैं पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूं और पुद्गल मेरेसे सर्वथा भिन्न है " इस प्रकारसे निश्चयपूर्वक चिंतवन कर। जिससे कि तू परद्रव्यकी आसक्तिको छोड़कर स्वद्रव्यके ही उपयोगमें तत्पर होवे।

काऽपि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः ।
तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटासक्तभिक्षुवत् ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि तू (क अपि पुद्गले) किसी भी पुद्गलमें (सक्तः 'सन्') आसक्त होता हुआ (म्रियेथाः) मरेगा (तत्) तो (सुस्वादुचिर्भटासक्तभिक्षुवत्) स्वादिष्ट चिर्भट=कचरिया=में आसक्त होनेवाले भिक्षुकके समान (तं कृमीभूय) उसी पुद्गलको उसका ही कीडा होकर (ध्रुवं चरेः) ध्रुवकाल तक भक्षण करनेवाला होगा।

भावार्थ—हे उपासक ! यदि तू किसी पुद्गलमें आसक्त होकर मरणको प्राप्त होगा तो चिर्भट-

(कचरिया) के भक्षणमें आसक्ति रखनेवाले भिक्षुके समान उसी पुद्गलमें जन्म लेकर उसका ही सदैव भक्षण करनेवाला प्राणी होगा। इसलिये परद्रव्यकी आसक्तिको छोड।

किं चाङ्गस्योपकार्यन्नं न चैतत्तत्प्रतीच्छति।
तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि त्वं देहाद् रुन्धि दुराश्रवम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(किंच) तथा दूसरी बात यह है कि (अन्नं अङ्गस्य उपकारी "अस्ति") अन्न अङ्गका उपकारी है। (च एतत्) और यह अंग (तत् न प्रतीच्छति) उस अन्नको अपने उपकारक रूपसे अब नहीं चाहता है। (तत्) इसलिये (त्वं) तू (तृष्णां छिन्धि) अन्नकी तृष्णाको छोड (स्वं देहात् भिन्धि) अपनेको देहसे भिन्न समझ। और (दुराश्रवं रुन्धि) आत्मामें आते हुये दुराश्रवको रोक।

भावार्थ—वास्तवमें मूर्तके द्वारा मूर्तका ही उपकार होसकता है, इसलिये अन्न देहका उपकारी है आत्माका नहीं। और तेरी इस अवस्थामें तेरा यह देह अन्नको उपकारक रूपसे ग्रहण नहीं कर रहा है। किन्तु उलटा अपकारक सिद्ध होरहा है। इसलिये हे आराधक ! अब अन्नकी तृष्णाको छोड़कर देहसे आत्मा भिन्न है, इस भावनामें तत्पर हो और तृष्णाजनित दुराश्रवको रोक।

इत्थं पथ्यपृथासारैर्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात्।
त्याजयित्वाऽशनं सूरिः स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(सूरिः) निर्यापकाचार्य (इत्थं) पूर्वोक्त प्रकारसे (पथ्यप्रथासारैः) हितोपदेशरूपी मेघवृष्टिसे (तं) क्षपकके (वितृष्णीकृत्य) तृष्णारहित करके (क्रमात्) क्रम क्रमसे (अशनं त्याजयित्वा) कवलाहारका त्याग कराके (स्निग्धं पानं विवर्धयेत) दुग्ध आदि स्निग्ध पेय पदार्थके आहारको बढ़ावे।

भावार्थ—इसप्रकार निर्यापकाचार्य क्षपकके हृदयमें उठनेवाली अन्न भक्षणकी तृष्णाको हितोपदेशकी वृष्टिसे शमन करके क्रमकमसे कवलाहारका त्याग कराकर दुग्ध आदि स्निग्ध पेयके आहारको बढ़ावे। अर्थात् खाद्य आहारको घटाकर पेय आहारकी वृद्धि करावे।

पानं षोढा घनं लेपि ससिक्थं सविपर्ययम्।
प्रयोज्य हापयित्वा तत् खरपानं च पूरयेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(पानं षोढा) पेय पदार्थके छह प्रकार हैं। (सविपर्ययम् घनं लेपि ससिक्थं) अपने विपरीतसे सहित घन-लेपि और ससिक्थ. अर्थात् घन—अघन, लेपि—अलेपि, ससिक्थ—असिक्थ। 'सूरिः' निर्यापकाचार्य (तत् प्रयोज्य) छह प्रकारके पेय पदार्थोंको क्षपकके लिये परिचारकोंसे देनेकी योजना करके (हापयित्वा) और क्रमक्रमसे उनका त्याग कराकर

(खरपानं च पूरयेत्) खरपानकी वृद्धि करे अर्थात् केवल शुद्ध काञ्जिक तथा उसके अनन्तर केवल गरम पानी देनेकी वृद्धि करे ।

भावार्थ—पहिले श्लोकमें स्निग्धपान बढ़ाकर आहारके त्यागका क्रम बताया है और इस पद्यके द्वारा निम्नलिखित स्निग्धपानके छह प्रकार बताये हैं—१—दही आदिकको घनपेय कहते हैं, २—इमली आदि फलोंका रस तथा सौवीरक (सार) आदिकको अघनपेय कहते हैं, ३—जो हाथोंसे चिपके उसको लेपि कहते हैं, ४—जो हाथोंसे न चिपके उसको अलेपि कहते हैं, ५—जो सिक्थ (फुटकी) सहित है उसको ससिक्थ कहते हैं, जैसे दहीके कणसहित तक्र, ६—और जो सिक्थसे रहित है उसे असिक्थ कहते हैं। जैसे दहीके ऊपरका पानी। निर्यापकाचार्य इन छह प्रकारके स्निग्धपानोंका भी क्षपकके लिये परिचारकों द्वारा दिलवाकर और क्रमक्रमसे उसका भी त्याग कराकर खरपानकी वृद्धि करे। अर्थात् शुद्ध कांजी और गरम जल अधिक मात्रामें दिलावे।

अब—निर्यापकाचार्य क्षपकको इसप्रकारकी शिक्षा भी देवें यह बताते हैं—

शिक्षयेच्चेति तं सेयमन्त्या सल्लेखनाऽर्यते ।
अतीचारपिशाचेभ्यो रक्षैनामतिदुर्लभाम् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—(हे आर्य) हे क्षपक ! (ते सा इयं अन्त्या सल्लेखना) तेरी यह मारणान्तिकी सल्लेखना है। (अति दुर्लभां एनां) तू अत्यंत दुर्लभ इस सल्लेखनाकी (अतीचारपिशाचेभ्यः) अतीचार रूपी पिशाचोंसे (रक्ष) रक्षा कर। (इति) इसप्रकार ('सूरि,') निर्यापकाचार्य (तं) उस क्षपकको (शिक्षयेत् च) शिक्षा भी देवे।

भावार्थ—'खरपानं च पूरयेत्' इस पूर्वपद्यका 'च' और 'शिक्षयेच्चेति तं' इस पद्यके 'च' को ग्रन्थकारने समान कक्षावाला माना है, इसलिये यहां दोनों पद्योंमें कथित दोनों वाक्योंका संबंध मिलाकर यह अर्थ होता है कि निर्यापकाचार्य स्निग्धपानका त्याग कराकर खरपानकी वृद्धि करावे तथा यह शिक्षा भी क्षपकको देवे कि हे उपासक! यह परमागमप्रसिद्ध वह मारणान्तिक सल्लेखना है जिसका कि आश्रय अनेक गुण और गुणीजनोंने किया है। इसकी तू अच्छी तरहसे अतीचाररूपी राक्षसोंसे रक्षा कर।

अब—पांच प्रकारके अतीचारोंके परिहारकी शिक्षा देते हैं—

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शंस स्थास्नु जीवितम् ।
भ्रान्त्या रम्यं वहिर्वस्तु हास्यः को नाऽऽयुराशिषा ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक ! (अस्यां प्रतिपत्तौ सजन्) इस दृश्यमान आचार्योंके द्वारा की जानेवाली अपनी परिचर्या विधिमें अथवा बड़े पुरुषोंके द्वारा प्राप्त आदर आदिकमें आसक्त होकर (स्थास्नु जीवितं मा शंस) स्थिरतर जीवनकी इच्छा मत कर। क्योंकि वास्तवमें देखा जाय तो (बहिः वस्तु) बाह्य सब वस्तु (भ्रान्त्या रम्यं) भ्रमसे रम्य दीखती हैं (आयुराशिषा

कः न हास्यः) 'मैं जयवंता होऊँ' इस आकांक्षासे हँसीके योग्य कौन नहीं होता ?

भावार्थ—हे उपासक ! आचार्यादि परिचारकों द्वारा की जानेवाली दृश्यमान परिचर्या विधि और महापुरुषों द्वारा अपना गौरव व आदरमें आसक्त होकर अधिक जीवनकी इच्छा मत कर। क्योंकि यह सब बाह्य वस्तु केवल भ्रमवश रम्य दीखती है। 'मे जीवितं भूयात्' मेरा जीवन हो, इस आकांक्षासे लौकिक और परीक्षकोंकी दृष्टिमें कौन हँसीके योग्य नहीं होता? ग्रन्थकारने इस पद्य-द्वारा सल्लेखनाके प्रथम उपपत्तिपूर्वक अतीचारके त्यागका स्पष्टीकरण किया है।

परिषहभयादाशुमरणे मा मतिं कृथाः।
दुःखं सोढा निहन्त्यंहो ब्रह्म हन्ति मुमूर्षकः॥ ५९॥

अन्वयार्थ—अहो क्षपक ! (परीषहभयात्) असह्य क्षुधा आदिककी वेदनाके भयसे (आशुमरणे) जल्दीसे मरणके विषयमें (मतिं मा कृथाः) इच्छा मत कर, क्योंकि (दुःखं सोढा) परीषहोंको विना संक्लेशके सहनेवाला (अंहः निहन्ति) पूर्व उपार्जित कर्मोंका क्षय करता है तथा (मुमूर्षकः) कुत्सित विधिसे मरनेकी इच्छा करनेवाला (ब्रह्म हन्ति) अपने सम्यग्ज्ञानका अथवा मोक्षका घात करता है।

भावार्थ—हे क्षपक ! तू इन क्षुधादि परीषहोंसे डरकर शीघ्र मरणकी इच्छाको अपने मनमें मत कर, कारण कर्म अपना फल अवश्य देते हैं, जो समता धरके परीषहोंको सह लेते हैं उनके नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है और संचित कर्मकी निर्जरा भी होती है तथा जो परीषहोंसे घबड़ा कर परिणामोंमें संक्लेश लाकर संक्लेशपूर्वक कुमरण करते हैं वे अपने सम्यग्ज्ञान अथवा मोक्षका नाश करते हैं। सारांश यह है कि आत्मघातसे दीर्घ संसार होता है।

सहपांशुक्रीडितेन स्वं सख्या माऽनुरञ्जय।
ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोहदुर्ललितैरलम्॥ ६०॥

अन्वयार्थ—अहो क्षपक ! (सहपांशुक्रीडितेन) बालकालमें जिनके साथ धूलमें खेल खेले हैं इसप्रकारके (सख्या) मित्रोंके अनुरागसे (स्वं) अपनेको (मा अनुरंजय) अनुराग युक्त मत करो। क्योंकि परलोककी सिद्धिमें तत्पर तुमको अब (बहुशो भुक्तैः) अनेकवार भोगमें आए हुए, अर्थात् अनेकवार उपभुक्त (ईदृशैर्मोहदुर्ललितैः अलम्) इसप्रकारके मित्रानुरागके स्मरण सम्बन्धी मोहनीय कर्मके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले अनुरागमय परिणामोंसे क्या करना है ?

भावार्थ—हे उपासक ! तू अपने सहपांशुक्रीडित बालमित्रोंसे अनुरक्त मत हो अथवा उनका पुनः २ स्मरण मत कर। क्योंकि मोहजनित इन अनुरागमय भावोंको तूने बहुवार भोगा है। अब तू परलोककी सिद्धिके उद्योगमें तत्पर है इसलिए इनसे अब तुझे क्या प्रयोजन है? क्योंकि यह अनुराग-मय सब ही भाव परलोक-सिद्धिके बाधक हैं, अब इन्हें पूरा कर अर्थात् इनके मोहको छोड़।

मा समन्वाहर प्रीतिविशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम्।
वासितोऽक्षसुखैरेव बम्भ्रमीति भवे भवी ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (कुत्रचित् प्रीतिविशिष्टे) पूर्व अनुभूत पंचेन्द्रियोंके विषयोंमेंसे किसी एक प्रिय विषयमें (स्मृतिं मा समन्वाहर) अपनी स्मृतिकी पुनः प्रवृत्ति मत कर। क्योंकि (अक्षसुखैः एव वासितः) इन्द्रियजनित सुखोंकी वासनासे ही वासित होकर यह (भवी) संसारी (भवे) संसारमें (बम्भ्रमीति) कष्टपूर्वक भ्रमण कर रहा है; पुनः पुनः जन्ममरणके चक्करमें फंस रहा है।

भावार्थ—हे क्षपक ! इस समय तू भुक्तपूर्व पंचेन्द्रियोंके विषयोंमेंसे जिससे तुझे अत्यधिक प्रीति है उस किसी इन्द्रियके विषयमें अनुरागानुबंध मत कर। अर्थात् मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, ऐसे खेल खेले हैं, हमारे सोनेकी शय्या ऐसी रहती थी, हमारी आसन वगैरह इस प्रकार थी, उनके भी भोग हमने इस प्रकारसे भोगे, इस प्रकारके सुखानुबन्धको मत कर, क्योंकि इन्द्रियासक्तिसे ही संसारी, चतुर्गति संसारमें भ्रमण कर रहा है।

मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान्।
वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (रोगादीन् इव) रोगादिकके समान दुरन्त दुःखके देनेवाले (भाविभोगादीन्) भावि भोगादिक इष्ट विषयोंकी (मा कांक्षीः) इच्छा मत कर (हि) क्योंकि (इष्टदेवताम् प्रसाद्य) किसी इष्टदेव वा देवीको वरदानके देनेके उन्मुख करके उससे (कालकूटं) तत्काल प्राण हरनेवाले विषकी प्रार्थना कौन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा।

भावार्थ—ज्वरादि व्याधि, तथा इष्ट वियोगादिक जैसे दुःखदायी हैं, वैसे ही इष्ट भावि भोगोंकी इच्छा भी दुःखदायी ही है। इसलिए हे क्षपक ! तू "मेरे इस तपके माहात्म्यसे मुझे परभवमें अमुक पदकी प्राप्ति होवे, अमुक भोग व आज्ञा ऐश्वर्य प्राप्त हो, इसप्रकार कांक्षा मत कर। क्योंकि मुक्तिप्रद तपसे रोगके समान दुखदायक भोगरूप फलकी प्राप्तिकी इच्छा करना, इष्टदेवताकी आराधना करके शीघ्र प्राणहारी विषकी वांच्छाके समान है। इसलिए निदान नामके अतीचारको अपनी सल्लेखनामें मत लगने दे।

अब—क्षपककी चतुर्विध आहारके त्यागकी विधिको दो पद्योंसे कहते हैं—

इति व्रतशिरोरत्नं कृतसंस्कारमुद्वहन्।
खरपानक्रमत्यागात् प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥ ६३ ॥
एवं निवेद्य संघाय सूरिणा निपुणेक्षिणा।
सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं यावज्जीवं त्यजेत् त्रिधा ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकारसे (कृतसंस्कारं) निरतिचाररूपसे पालनेके कारण

अतिशयरूपी संस्कारको प्राप्त (व्रतशिरोरत्नं) सल्लेखनाव्रत रूपी चूड़ामणि रत्नको (उद्वहन्) धारण करनेवाला (अयं) यह क्षपक (खरपानक्रमत्यागात्) गरम जलका भी क्रमक्रमसे त्याग कर देनेसे (प्राये) चतुर्विध आहारके त्यागमें (उपवेक्ष्यति) प्रवेश करेगा। (एवं) इस प्रकार (निपुणेक्षिणा सूरिणा) सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवाले निर्यापकाचार्यके द्वारा (संघाय निवेद्य) संघके लिये सूचना देकर (अनुज्ञातः सः) अनुमतिको प्राप्त क्षपक (अखिलाहारं) चतुर्विध आहारको (यावज्जीवं त्यजेत्) मन वचन कायसे यावज्जीवके लिये छोड़े।

भावार्थ—सल्लेखना सध जानेसे धारण किये हुवे सब व्रतोंकी सफलता होजाती है, इसलिये सम्पूर्ण आभरणोंमें जैसे चूड़ामणि रत्नका सर्वोत्कृष्ट स्थान है, उसी प्रकार सल्लेखनाका सब व्रतोंमें उच्च स्थान होनेसे उसको 'व्रतशिरोरत्न' कहा है। जैसे रत्नोंमें संस्कारसे विशेषता आती है, उसी प्रकार अतीचारोंको टालकर व्रतोंके पालनेसे व्रतोंमें अतिशयपना प्राप्त होता है। इसप्रकारसे 'प्रतिपत्तौ सजन्' इत्यादि पद्योंसे वर्णित अतिशयपनेको प्राप्त सल्लेखनारूपी चूड़ामणिको धारण करनेवाला यह श्रावक अब क्रमक्रमसे गरम जलका भी त्याग करके दृढ़-निश्चय होकर चतुर्विध आहारके प्रत्याख्यानमें प्रवेश करनेवाला है, इसप्रकारकी संघको सूचना देकर व्याधि, देश, काल, सत्व, बल, आहारकी सात्म्यता, परीषहकी क्षमता, संवेग, वैराग्यादिकका सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवाले निर्यापकाचार्यके द्वारा अनुमतिको प्राप्त क्षपक चतुर्विध आहारका मन वचन कायसे मरण पर्यंत त्याग करे।

अब—इसप्रकार जो परिषह सहनेमें पूरे समर्थ हैं उनके लिए चतुर्विध आहारके त्यागका यावज्जीवनके लिए उपदेश देकर जो परीषहोंके सहनेमें पूरे समर्थ नहीं है, उस क्षपकके लिए केवल गरम जलके लेनेका विकल्प रखकर, शेष तीन प्रकारके आहारके त्यागका उपदेश देते हुए, किस समय वह चारों ही प्रकारके आहारोंका त्याग करे, यह बताते हैं—

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत्।
भृशं शक्तिक्षये जह्यात्तदप्यासन्नमृत्युकः॥ ६५॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (व्याध्याद्यपेक्षया) व्याधि आदिकी अपेक्षासे (समाध्यर्थं) समाधिकी सिद्धिके लिए (अम्भः विकल्पयेत्) क्षपक गुरुकी संमतिसे पानीका विकल्प रख लेवे और (भृशं शक्तिक्षये) अतिशयरूपसे शक्तिके क्षय होनेपर (आसन्नमृत्युकः) मृत्युके समयको निकट आते हुए देखकर (तदपि जह्यात्) उस पानीका भी, जिसका व्याधि आदिकी अपेक्षासे पीनेका विकल्प रखा था, छोड़ देवे।

भावार्थ—पैत्तिक व्याधि, ग्रीष्मकाल, मरुस्थलादिक देश, पित्त प्रकृति, और भी ऐसे ही किन्हीं कारणोंसे परीषहोंके वेगको नहीं सह सकनेके जो कारण हैं उनकी अपेक्षासे गुरुकी आज्ञासे "मैं केवल जलमात्रका ही ग्रहण करूंगा" इसप्रकारके विकल्पको समाधिके लिए रखकर क्षपक शेष

तीन प्रकारके आहारको त्याग करे। और जिस समय शक्ति अत्यन्त क्षीण होजावे तथा मृत्यु अत्यन्त निकट आजावे तो उस समय उसका (पानीका) भी त्याग कर देवें।

अब—क्षपककी मृत्युके समय, उसके लिए हितकर, संघके द्वारा अवश्य करनेयोग्य कौनसे कर्तव्य हैं यह बताते हैं—

तदाखिलो वर्णिमुखग्राहितक्षमणो गणः।
तस्याविघ्नसमाधानसिद्ध्यै तद्यात्तनूत्सृतिम ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(**तदा**) क्षपककी मृत्युके समयके उपस्थित होते समय (**वर्णिमुखग्राहितक्षमणः**) किसी ब्रह्मचारीके द्वारा बुलवाई है क्षपकके प्रति क्षमा जिसने ऐसा (**अखिलः गणः**) सब संघ (**तस्य**) उस क्षपककी (**अविघ्नसमाधानसिद्ध्यै**) निर्विघ्न समाधिकी सिद्धिके लिए (**तनूत्सृतिं तद्यात्**) कायोत्सर्ग करे।

भावार्थ—निर्यापकाचार्य संघकी ओरसे किसी ब्रह्मचारीको खड़ा करके क्षपकके प्रति बुलवावे कि—हम अपने यथाकथंचितसम्भव अपने अपराधोंकी तुमसे क्षमा मांगते हैं और क्षमा भी करते हैं। इस प्रकार मन वचन कायसे क्षमा याचना और क्षमाप्रदान विधिको करके संघ उस क्षपककी निर्विघ्न समाधिकी सिद्धि हो, इस हेतुसे कायोत्सर्ग करें। यह सब कथन पूर्वोक्त पद्यमें वर्णित "एवं निवेद्य संघाय," इस सामान्य वर्णनका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण है।

अब—इसप्रकार आराधनाकी पताकाको हाथमें लेनेवाले क्षपकके प्रति निर्यापक फिर क्या करें यह बताते हैं—

ततो निर्यापकः कर्णे जपं प्रायोपवेशिनः।
दद्युः संसारभयदं प्रीणयन्तो वचामृतैः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(**ततः**) इतनी विधि करनेके अनन्तर (**निर्यापकाः**) समाधिकी सिद्धि करानेमें तत्पर मुनि (**वचोऽमृतैः प्रीणयन्तः**) अपने वचनरूपी अमृतसे क्षपकको संतृप्त करते हुए (**प्रायोपवेशिनः कर्णे**) उस संन्यासमरण करनेवालेके कानमें (**संसारभयदं जयं दद्युः**) संसारसे भय दिलानेवाले अर्थात् संवेग और निर्वेदजनक जयको देवें। अर्थात् उसके कानमें कहें।

भावार्थ—फिर क्षपककी समाधिको सिद्ध करानेमें तत्पर निर्यापक मुनि अपने वचनरूपी अमृतसे उसको संतृप्त करते हुए, क्षपकके कानमें संसारसे संवेग और वैराग्यके उत्पादक उपदेश करें।

अब—निर्यापकाचार्य क्षपकको जो महान् उपदेश देते हैं, अनुशासन करते हैं उसका वर्णन आगेके पद्योंसे करते हैं—

मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं भजोर्जय जिनादिषु।
भक्तिं भावनमस्कारे रमस्व ज्ञानमाविश ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—भो उपासक रत्न ! (मिथ्यात्वं वम) मिथ्यात्वका वमन करो, अर्थात् बिलकुल मृत रहने दो (सम्यक्त्वं भज) सम्यक्त्वकी भावना करो (जिनादिषु भक्तिं ऊर्जय) अरिहंत आदिकी भक्तिको बलवती करो (भावनमस्कारे रमस्व) अरिहंतादिके गुणानुरागरूप जो सानुराग अनुध्यान है उसमें रतिको प्राप्त हो तथा (ज्ञानं आविश) बाह्य व अन्तरङ्गरूप अपने शुद्ध ज्ञानमय उपयोगमें लवलीन हो ।

भावार्थ—हे आराधकराज ! अब तू पूर्ण रीतिसे मिथ्यात्वका वमन कर, तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्वकी भावनाओंको भा. अपनी पंचपरमेष्ठी तथा चैत्यादि और व्यवहार निश्चय रत्नत्रयकी भक्तिको बलवती कर. उनके गुणानुरागका सदैव चिन्तवन करनेरूप सानुराग ध्यानमें तत्पर हो । और बाह्य व आध्यात्मिकरूपसे तत्वबोधमें मर्क हो ।

महाव्रतानि रक्षोच्चैः कषायान् जय यन्त्रय ।
अक्षाणि पश्य चात्मानमात्मनात्मनि मुक्तये ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(मुक्तये) मुक्तिके लिये (महाव्रतानिं रक्ष) अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो (कषायान् उच्चैः जय) कषायोंको भलेप्रकार जीतो अर्थात् उनके विजयके लिये स्वयं भलेप्रकार यत्न करो (अक्षाणि यंत्रय) अपने २ इष्ट विषयोंमें दौडनेवाली इन्द्रियोंको अपने तावेमें करो (च) और (आत्मनि) अपनी आत्मामें (आत्मना) अपने द्वारा ही (आत्मानं) अपनेको (पश्य) देखो ।

भावार्थ—तथा हे उपासकराज ! तुम मुक्तिकी उपलब्धिके लिये अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो, पूर्णरीतिसे कषायों पर विजय प्राप्त करो, इन्द्रियोंका निरोध करो और अपनेमें अपने ही द्वारा अपनेको देखो अर्थात् स्वात्मोपलब्धिमें तत्पर होओ । मिथ्यात्वका वमन, सम्यक्त्वकी उपासना, जिनादिकका भक्तिभाव, नमस्कारमें लीनता, अपने ज्ञानकी ज्ञानोपयोगिता, महाव्रतोंकी रक्षा, कषाय विजय, इन्द्रिय निरोध और आत्मदर्शनका जो उपदेश उक्त दो पद्योंमे क्षपकको दिया है उसका खुलासा विस्तारसे ग्रंथकार स्वयं वर्णन करेंगे ।

अब—आगे उनमेंसे मिथ्यात्वके अपायकारकपनेका वर्णन दो पद्योंसे करते हैं—

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा ।
तद्दुःखं यन्न दीयेत मिथ्यात्वेन महारिणा ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—(अधोमध्योर्ध्वलोकेषु) अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोकमें (तत् दुःखं न अभूत्, न अस्ति, वा न भावि) वह दुःख न था, न है, और न होगा (यत्) जो (मिथ्यात्वेन महारिणा) मिथ्यात्वरूपी महा वैरीके द्वारा इस जीवको (न दीयेत) नहीं दिया जाता है ।

भावार्थ—इस जीवके अन्तरङ्गमें मिथ्यात्वके रहनेपर ही अन्तरंग और बहिरंग सब ही शत्रु अपकारक होते हैं इसलिए मिथ्यात्व ही जीवका महा शत्रु है । इसका खुलासा यह है कि ७ सातों

ही नरकोंमें, मध्यलोकमें व ऊर्ध्वलोकमें ऐसा कोई दुःख नहीं है जो मिथ्यात्वके कारण इस जीवको भूतकालमें प्राप्त न हुआ हो, वर्तमानमें प्राप्त नहीं होता हो, अथवा भविष्यमें प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् तीनों लोकमें मिथ्यात्वके कारण जीवको सदा सर्वत्र दुःख ही प्राप्त होता है, इसलिए यह मिथ्यात्व महा शत्रु है।

सङ्घश्रीर्भावयन्भूयो मिथ्यात्वं वन्दकाहितम।
धनदत्तसभायां द्राक्स्फुटिताक्षोऽभ्रमद्भवम् ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ—(वन्दकाहितं मिथ्यात्वं) वंदकके द्वारा मिथ्यात्वको (भूयः भावयन्) अपनेमें पुनः आरोपित करनेवाला अर्थात् मिथ्यात्वकी भावनाको अन्तरंगमें धारण करनेवाला (संघश्रीः) संघश्री नामका धनदत्त राजाका मंत्री (धनदत्तसभायाम् द्राक् स्फुटिताक्षः) धनदत्तकी सभामें जिसकी जल्दीसे आंखें फूट गई हैं ऐसा होता हुआ मरणको प्राप्त करके (भवं अभ्रमत्) चतुर्गति संसारमें परिभ्रमण करनेवाला हुआ है।

भावार्थ—धनदत्त राजाका संघश्री मंत्री पहले सम्यग्दृष्टि था परन्तु उसने वंदकके निमित्तसे धनदत्तकी सभामें पुनः मिथ्यात्वकी अन्तरंगमें भावना धारण की तथा उस पुनः भावित मिथ्यात्वके प्रभावसे उसकी आंखें फूटी और वह संसारचक्रमें भ्रमण करनेवाला हुआ। इस ग्रंथमें उदाहरणमें कही हुई सब कथाओंको कथाकोषादि कथाग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

अब—दो श्लोकोंसे सम्यक्त्वके उपकारकपनेको दिखाते हैं—

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा।
तत्सुखं यन्न दीयेत सम्यक्त्वेन सुबन्धुना ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—(अधोमध्योर्ध्वलोकेषु) तीनों लोकोंमें (तत्सुखं न अभूत् न अस्ति वा न भावि) वह सुख न तो था न है और न होगा (यत्) जो (सम्यक्त्वेन सुबन्धुना) सम्यक्त्वरूपी सच्चे बन्धुके द्वारा इस जीवको (न दीयेत) नहीं दिया जाता है।

भावार्थ—सम्यक्त्व सबका उपकारक है, सब दुराश्रवोंके रोकनेका प्रधान कारण है। इसलिये तीनों लोकमें ऐसा कोई सुख नहीं है, जो सर्वत्र और सदैव इस जीवको सम्यग्दर्शनरूपी बन्धुके कारण नहीं मिलता है।

महासितकुदृग्बद्धश्वभ्रायुःस्थितिरेकया।
दृग्विशुद्ध्याऽपि भाविता श्रेणिकः किल तीर्थकृत् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—(किल) आगममें ऐसा सुना आता है कि (अपि) अहो! आश्चर्य है कि (एकया दृग्विशुद्ध्या) केवल एक दर्शनविशुद्धिके प्रभावसे (श्रेणिकः) मगधदेशके महाराज श्रेणिक

(प्रहासितकुदग्रबद्धस्वभ्रायुःस्थितिः) मिथ्यात्वमें बांधी हुई ३३ सागरकी उत्कृष्ट आयुकी स्थितिको कम करके रत्नप्रभाकी ८४ हजार वर्षकी स्थिति की है जिसने, ऐसा होकर आगेके भवमें भी (तीर्थकृत् भविता) तीर्थंकर होगा।

भावार्थ—राजा श्रेणिकने अपनी अवस्थाके पूर्वार्द्धमें मिथ्यात्वके उदयमें ३३ सागर प्रमाण नरककी आयुका उत्कृष्ट बंध किया था। परन्तु अहो! आश्चर्य है कि केवल दर्शनविशुद्धिके प्रभावसे उनकी वह बद्ध नरकायु अत्यन्त कम होकर केवल ८४ हजार वर्ष ही रही। तथा उसीके कारण तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध भी महाराजा श्रेणिकको हुआ है. जिसके प्रतापसे वे आगेके भवमें तीर्थंकर भी होनेवाले हैं।

अब—अर्हद्भक्तिके माहात्म्यका वर्णन दो श्लोकोंसे करते हैं—

एकैवास्तु जिने भक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः।
या दोग्धि कामानुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः॥ ७४॥

अन्वयार्थ—(एका एव जिने भक्तिः अस्तु) एक ही जिनभक्ति प्राप्त होओ, वही परमार्थ सिद्धिमें समर्थ कारण है (अन्यैः स्वेष्टसाधनैः किम) उसके होने पर अन्य इष्ट सिद्धि साधक साधनोंका फिर क्या प्रयोजन है क्योंकि (या सद्यः) जो जिनभक्ति प्रगट होते ही (अशेषतः अपायान् उच्छिद्य) सब अभ्युदय निश्रेयसके घातक विघ्नोंको उच्छेद करके (कामान् दोग्धि) सब मनोरथोंको पूर्ण करती है।

भावार्थ—मुक्तिके लिये सर्व पुरुषार्थोंमें जिनभक्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसके विना शेष पुरुषार्थ पुरुषार्थ ही नहीं हैं, किंतु तदाभास है। इसलिये पुरुषार्थके रूपमें अकेली जिनभक्ति ही बहुत है।

वासुपूज्याय नमः इत्युक्त्वा तत्संसदं गतः।
द्विदेवारब्धविघ्नोऽभूत् पद्मः शक्रार्चितो गणी॥ ७५॥

अन्वयार्थ—(वासुपूज्याय नमः) वासुपूज्य भगवानको नमस्कार हो (इति उक्त्वा) इस प्रकारसे उच्चारण करते हुए (द्विदेवारब्धविघ्नः अपि) बीचमें पूर्वभवके वैरसे दो देवोंके द्वारा विघ्नोंका आरम्भ भी जिसके लिये किया गया है ऐसा (तत्संसदंगतः पद्मः शक्रार्चितः गणी अभूत्) भगवानके समवसरणको प्राप्त पद्मरथ नामका राजा इन्द्रादिकसे पूजित गणधर हुआ।

भावार्थ—पद्मरथ नामका मिथिला देशका राजा था। उसके पूर्वभवमें धन्वतरि और विश्वानुलोम नामके दो वैरी थे, वे मरकर देव हुए और उस पद्मरथको समवशरणमें जानेके लिये वे नानाप्रकारके विघ्न करने लगे, परन्तु राजा 'वासुपूज्याय नमः' इस तरह उच्चारण करता हुआ भगवानके समवसरणमें गया। भगवानके नाम उच्चारणके प्रतापसे उन देवोंके द्वारा किये गये उन उपसर्गोंका उसके ऊपर कुछ भी असर नहीं हुआ तथा भक्तिके प्रतापसे वह समवसरणमें पहुंच गया और वहां

जाकर उस पद्मरथने दीक्षा ली और शीघ्र ही वह गणधर हुआ । अर्हन् भक्तिका इतना बड़ा प्रताप है।

एकोऽप्यर्हन्नमस्कारश्चेद्विशेन्मरणे मनः ।
सम्पाद्याभ्युदयं मुक्तिश्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(मरणे) मरण समयमें (चेत्) यदि (एकः अपि) अकेला एक (अर्हन्नमस्कारः) अर्हन्त भगवानको भावरूपसे किया हुआ नमस्कार (मनः विशेत्) मनमें व्याप्त होजाय तो वह (अभ्युदयं संपाद्य) किसी महा ऋद्धिका संपादन करके (मुक्तिश्रियं) मुक्ति—लक्ष्मीको (द्रुतं उत्कयति) जल्दीसे उत्कंठित करता है ।

भावार्थ—मरणके एन समयपर यदि अरिहंत भगवानके प्रति किया गया भाव-नमस्कार क्षपकके अन्तःकरणमें व्याप्त होजावे तो उसके प्रतापसे क्षपक अनन्तर भवमें ही अथवा २—३ भवोंमें मुक्तिको प्राप्त होजाता है ।

स णमो अरहंताणमित्युच्चारणतत्परः ।
गोपः सुदर्शनीभूय सुभगाह्वः शिवं गतः ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(णमो अरिहंताणं इत्युच्चारणतत्परः) 'णमो अरिहंताणं' केवल इतनेहीके उच्चारणमें तत्पर (सः) वह आगमप्रसिद्ध (सुभगाह्वः गोपः) 'सुभग' नामका ग्वाल (सुदर्शनीभूय) 'सुदर्शन' सेठ होकर (शिवं गतः) मोक्षको प्राप्त हुआ ।

भावार्थ—सुभग नामका ग्वाल केवल 'णमो अरिहंताणं' इतने पदके उच्चारणको करके मृत्युको प्राप्त होनेसे 'वृषभदास' सेठके यहां सुन्दर रूपवाला (कामदेव) 'सुदर्शन' नामका सम्यग्दृष्टि पुत्र होकर मोक्षको प्राप्त हुआ ।

अब—तीन श्लोकोंसे ज्ञानोपयोगके माहात्म्यका वर्णन करते हैं—

स्वाध्यायादि यथाशक्ति भक्तिपीतमनाश्चरन् ।
तत्कालिकाद्भुतफलादुदर्के तर्कमस्यति ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(यथाशक्ति) अपने बल वीर्यको न छिपाकर (भक्तिपीतमनाः) भक्तिसे अनुरञ्जित है चित्त जिसका ऐसा होकर (स्वाध्यायादि चरन्) स्वाध्याय वंदना प्रतिक्रमण आदिक मुनियोंके आवश्यकोंका पालनेवाला (तात्कालिकाद्भुतफलात्) तत्कालमें होनेवाले अद्भुत फलकी प्राप्तिके योगसे (उदर्के) उत्तरकालमें (तर्कं अस्यति) अद्भुत फलके विषयमें संशयका नाश करता है।

भावार्थ—भक्तिसे मनको लगाकर और अपने बलवीर्यको न छिपाकर जो मुनियोंके स्वाध्याय वन्दना प्रतिक्रमण आदि षट्कर्म करता है वह अपने आवश्यक कर्मोंके करनेसे प्राप्त होनेवाले चिदानन्दरूप फलके द्वारा आगममें वर्णित स्वाध्यायादिकके फलके विषयमें किसीको भी संशय नहीं रहने देता है ।

शूले प्रोतो महामन्त्रं धनदत्तार्पितं स्मरन्।
दृढशूर्पो मृतोऽभ्येत्य सौधर्मात्तमुपाकरोत ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(शूले प्रोतः दृढशूर्पः) शूलीपर चढ़ाया गया 'दृढसूर्प' नामका चोर (धनदत्तार्पितं) 'धनदत्त' नामके सेठके द्वारा दिये गये (महामन्त्रं) महामंत्रको (स्मरन्) स्मरण करते हुए (मृतः) मरा और उसके प्रतापसे सौधर्म स्वर्गमें देव होकर (सौधर्मात् अभ्येत्य) वहांसे आकर (तं उपाकरोत) उसका उसने बहुत बड़ा उपकार किया।

भावार्थ—शूलीपर चढ़े हुए 'दृढसूर्प' नामके चोरको 'धनदत्त' सेठने महामंत्र दिया था उसका स्मरण करते हुए मरणको प्राप्त 'दृढसूर्प' चोर सौधर्म स्वर्गमें ऋद्धिधारक देव हुआ। तथा वहांसे आकर उसने उस सेठके (उपसर्ग निवारणपूर्वक) अनेक उपकार किये हैं।

इस पद्यमें स्वाध्यायका फल बताया है। क्योंकि महामंत्रका अनुचिंतन करना ही उत्कृष्ट स्वाध्याय माना है।

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयं कृतैः।
मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि यमः सप्तर्द्धिभूरभूत् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(मुनिनिंदाप्तमौग्ध्यः अपि यमः) मुनिनिंदासे प्राप्त हुई है मूढ़ता जिसको, ऐसा 'यम' नामका राजा मुनि होकर (स्वयंकृतैः त्रिभिः खंडश्लोकैः) स्वरचित तीन खंडश्लोकोंके द्वारा (स्वाध्यायादि कुर्वन्) स्वाध्याय-वगैरह करता हुआ (सप्तर्द्धिः अभूत्) सात ऋद्धिका धारक महामुनि हुआ है।

भावार्थ—"बुद्धि तवो वि य रिद्धी विउव्वणरिद्धी तहेव ओसहिया। रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता।" १—बुद्धि, २—तप, ३—विक्रिया, ४—ओषधि, ५—रस, ६—बल, और ७ अक्षीण ये सात ऋद्धियां हैं।

मुनिकी निंदासे मूढ़ताको प्राप्त भी 'यम' नामका राजा स्वयं रचित निम्नलिखित तीन खण्डश्लोकोंके द्वारा स्वाध्याय आदिके प्रभावसे सप्त ऋद्धियोंका धारक मुनि हुआ है।

१—कड्डसि पुणुणं खेवसि रे गद्दहा। जवं पत्थेसि खादिदुं ॥ १ ॥
२—अण्णत्थ किं फलोवहा तुम्हे इत्थ बुद्धिया छिद्दे अच्छइ कोणिय ॥२॥
३—अम्हादो णत्थि भयं दिहादो दिस्सदि भयं तुम्हं।

अब—अहिंसाके माहात्म्यको दो पद्योंमें बताते हैं—

अहिंसाप्रत्यपि दृढं भजन्नोजायते रुजि।
यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(अहिंसाप्रति अपि दृढं भजन्) थोड़ीसी भी अहिंसाके प्रति दृढ़ता धारण करनेवाला पुरुष (रुजि) उपसर्गके समय (ओजायते) ओजस्वीके समान आचरण करता है और (यः तु)

जो (अध्यहिंसासर्वस्वे) दृढ़तापूर्वक परिपूर्ण रीतिसे अहिंसाका धारक है तो वह उपसर्गके आनेपर (सर्वाः रुजः क्षिपते) सब प्रकारके उपसर्गोंको दुःखोंको दूर फेंक देता है।

भावार्थ—"स्तोके प्रतिना" इस सूत्रसे 'अहिंसाप्रति' इस शब्दमें अव्ययीभाव समास हुआ है। अहिंसायाः सर्वस्वं, अहिंसा सर्वस्वम् इस प्रकारसे तत्पुरुष समास करके "ईश्वरेऽधि" इस सूत्रसे अहिंसा "सर्वस्वे" इस पदमें सप्तमी हुई है। इसका अर्थ है सकल अहिंसाका अधीश्वर, जो थोड़ी भी अहिंसाके पालनेमें दृढ़ता धारण करता है वह उपसर्गके उपस्थित होने पर ओजस्वी पुरुषके समान आचरण करता है तथा जो अहिंसा पर पूर्ण रीतिसे आधिपत्य प्राप्त करलेता है वह सब प्रकारके उपसर्गोंको दूर फेंक देता है। इसका उदाहरण आगेके पद्यमें लिखा है।

यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽप्सुरैः।
धर्मस्तत्रैव मेण्ढ्रघ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः॥ ८२॥

अन्वयार्थ—(एकाहं अहिंसन् यमपालः) केवल एक दिन अहिंसा व्रतको पालनेवाला यमपाल नामका चांडाल (ह्रदे) शिशुमार नामके सरोवरमें (अप्सुरैः पूजितः) जलदेवताओंके द्वारा पूजा गया और (मेण्ढ्रघ्नः धर्मस्तु) राजाके मेंढ़ेको मारनेवाला धर्म नामका सेठका पुत्र तो (तत्रैव) उसी सरोवरमें (शिशुमारैः भक्षितः) शिशुमारोंके द्वारा भक्षण किया गया।

भावार्थ—बनारस नगरीमें चतुर्दशीके दिन एकदेशसे अहिंसाव्रतकी प्रतिज्ञाको पालनेवाला यमपाल नामका चांडाल वहांके शिशुमार सरोवरमें जलदेवोंके द्वारा पूजा गया और वहींपर राजाके मेंढू (गाड़र) का वध करनेवाला धर्म नामका सेठका बेटा तो शिशुमारोंके द्वारा भक्षण किया गया।

अब—असत्यकृत अपायोंको दो पद्योंसे बताते हैं—

मा गां कामदुघां मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीं कृथाः।
अल्पोऽपि हि मृषावादः श्वभ्रदुःखाय कल्पते॥ ८३॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (कामदुघां गां) कामधेनुरूपी अपनी वाणीको (मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीं मा कृथाः) मिथ्यावादरूपी व्याघ्रके सन्मुख मत कर (हि) क्योंकि (अल्पः अपि मृषावादः) स्वल्प भी मिथ्या भाषण (श्वभ्रदुःखाय कल्पते) नरक-दुःखोंके संपादनके लिये समर्थ होता है।

भावार्थ—वाञ्छनीय अर्थप्रद होनेके कारण पुरुषकी वाणी ही एक प्रकारकी-कामधेनु है। और व्याघ्र जैसे गायका भक्षक प्रसिद्ध है उसी प्रकार सत्य वचनका घात करनेवाला मिथ्या भाषण है। यहां प्रसंगवश मिथ्या भाषणको व्याघ्रका रूपक बनाया है। अतः हे क्षपक! तू अपने वचनको मिथ्या भाषणरूपी व्याघ्रके सन्मुख मत जानेदे। क्योंकि थोड़ासा भी मिथ्या भाषण नरकके दुःखोंका संपादक होता है। इसीका उदाहरण आगे बताया है।

अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति।
व्याख्यां छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसुः ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(वसुः) राजा वसु ("त्रैवार्षिकै" अजैर्यष्टव्यम् इत्यत्र) तीन वर्षके अजोंके द्वारा यज्ञ करना चाहिए इस आर्ष वाक्यमेंसे "अजैर्यष्टव्यम्" इतने वाक्यके (त्रैवार्षिकैः अजैः इति व्याख्यां) तीन वर्षवाले पुराने धान्यके द्वारा इस अर्थको (त्रैवार्षिकैः छागैः इति) तीन वर्षके बकरों द्वारा यज्ञ करना चाहिए इसप्रकारसे (परावर्त्य) बदल देनेके कारण (नरकं अगात्) नरकमें गया है।

भावार्थ—'त्रैवार्षिकैः अजैर्यष्टव्यम्' इसका वास्तवमें यह अर्थ होता है कि 'न जायन्ते इति अजाः' जो अंकुरित न होसकें उन्हें अज कहते हैं। ऐसे ३ वर्षके जो आदि (धान्य) के द्वारा शान्ति पौष्टिक कार्य जो क्रिया (यज्ञ) है वह करना चाहिए, यह क्षीरकदंबाचार्यका व्याख्यान था। परन्तु पर्वत और नारदके विवादके समयपर राजा वसुने (अजैर्यष्टव्यम) इसका अर्थ तीन वर्षके बकरोंसे यज्ञ करना चाहिए इस रूपमें बदल दिया और उसके कारण यज्ञयागादिकमें हिंसाकी प्रवृत्ति हुई। इसलिए राजा वसु इस थोड़ीसी झूठके कारण नरकको गया है।

"अजैर्होतव्यम्" इसप्रकार भी कहींपर पाठ है।

अब—दो पद्योंमें स्तेयके प्रभावको बताते हैं—

आस्तां स्तेयमभिध्याऽपि विध्याप्याऽग्निरिव त्वया।
हरन परस्वं तदसून् जिहीर्षन् स्वं हिनस्ति हि ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—हे समाधिमरणार्थिन्! (स्तेयं आस्ताम्) चोरी तो दूर ही रहो उसकी तो क्या कहना है, केवल (अग्निःइव) अग्निके समान तापका कारण होनेसे (अभिध्या अपि) परधनकी-इच्छा भी तुझे (त्वया विध्याप्या) अपने मनमें बुझा डालनी चाहिये (हि) क्योंकि (परस्वं हरन्) परधनको हरनेवाला (तदसून् जिहीर्षन्) उसके प्राणोंकी इच्छा करता है इसलिये वह (स्वं हिनस्ति) भाव हिंसाका करनेवाला होनेसे अपनी भी हिंसा करता है।

भावार्थ—हे उपासक! तू चोरीकी बात ही क्या है, अपने अंतःकरणमें परधनकी इच्छाको भी स्थान मत दे। क्योंकि जो परधनकी इच्छा करता है उस समय उसके मनमें पर प्राणोंकी हिंसाकी भी प्रवृत्ति अवश्य होजाती है और वास्तवमें इस भावहिंसा होनेपर ही द्रव्यहिंसा दुरन्त संसारके दुःखोंका कारण मानी है। इसका उदाहरण आगेके पद्यमें बताया है।

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बीं दिवा पञ्चतपश्चरन्।
शिक्यस्थस्तापसोऽधोगात् तलारकृतदुर्मृतिः ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(रात्रौ) रातमें (कौशाम्बीं मुषित्वा) कौशाम्बी नगरीमें चोरी करके (दिवा

पंचतपः चरन्) दिनमें पञ्चाग्नि तप तपनेवाला "परकी भूमिका भी मैं स्पर्श नहीं करूंगा" इसलिए (शिक्यस्थः) लम्बमान सीकेपर रहनेवाला (तापसः) भौतिक तापस (तलारकृतदुर्मृतिः) तलवरके द्वारा आर्तरौद्रध्यानमें मग्न होकर कुमरणको प्राप्त होकर (अधः अगात्) नरकको गया है ।

भावार्थ—भौतिक तापस, दिनमें पञ्चाग्नि तप तपता था तथा लोगोंको यह दिखानेके लिए कि मैं परधनका ऊँचा त्यागी हूं "पराई भूमिका भी मैं स्पर्श भी नहीं करता हूं" जो सदैव सींकेके ऊपर रहता था वह कोतवालके द्वारा पकड़ा जाकर आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक मरण होनेके कारण नरकमें गया है ।

अब—ब्रह्मचर्यकी दृढ़ताके विषयमें उपदेश देते हैं—

पूर्वेऽपि बहवो यत्र स्खलित्वा नोद्गताः पुनः ।
तत्परं ब्रह्म चरितुं ब्रह्मचर्यं परं चरेत् ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ब्रह्मचर्यके विषयमें (पूर्वे बहवः अपि) पहले बहुतसे रुद्रादिक (स्खलित्वा) अतीचार लगाकर (पुनः न उद्गताः) फिर अपनेको नहीं संभाल सके हैं । इसलिये (परं ब्रह्मचरितुं) शुद्ध ज्ञान और शुद्धात्माके अनुभवकी प्राप्तिके लिये हे क्षपक ! तू (परं तत् ब्रह्मचर्यं चरेत्) निरतिचारसे उस ब्रह्मचर्य नामके चतुर्थ महाव्रतका पालन कर ।

भावार्थ—जिसके विषयमें स्खलित होकर आजके मुनियोंकी तो बात ही क्या है, प्राचीन रुद्रादिक भी सातिचार प्रवृत्तिको प्राप्त होकर पुनः उदयको प्राप्त नहीं हुए हैं अर्थात् संभले नहीं हैं किन्तु उल्टे अनाचारके ही आचरण करनेवाले हुए हैं, अतः हे क्षपक ! शुद्ध ज्ञानानुभव और शुद्धात्मानुभवका कारण जो ब्रह्मचर्य है उसका उत्कृष्ट रीतिसे पालन कर ।

अब—अपरिग्रह महाव्रतकी दृढताके लिए उपदेश देते हैं—

मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः ।
मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद् ग्रन्थे मनो मूर्छन्मनागपि ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्येष्टस्य श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः स्मरन्) मिथ्या मनोरथवाले श्मश्रुनवनीतके कुमरणका स्मरण करते हुए हे क्षपक ! तू (क्वचिद् ग्रन्थे) किसी भी परिग्रहमें (मनाग् अपि मूर्च्छन् मनः) यह मेरा है इसप्रकारके कुछ भी संकल्पको करनेवाले अपने मनके प्रति (मा उपेक्षिष्ठाः) उपेक्षा मत कर ।

भावार्थ—हे उपासक ! केवल परिग्रहकी वांच्छाके कारण ही श्मश्रुनवनीतका दुर्मरण हुआ है इसको ध्यानमें रखकर "यह मेरा है, मैं इसका हूं" इसप्रकारके संकल्परूप भावपरिग्रहकी ओर यदि तेरे मनका झुकाव होवे तो तू सावधान हो उस मनको रोक, और उस ग्रंथकी तरफ झुकनेवाले मनकी किञ्चित् भी उपेक्षा मत कर ।

अब—निश्चयनयसे परिग्रहकी प्रतिपत्तिके लिये उपदेश देते हैं—

बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणामान्तरो विषयैषिता ।
निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ—वास्तवमें (बाह्यः ग्रंथः अंगम्) बाह्य परिग्रह यह शरीर है और (अक्षाणाम् विषयैषिता आन्तरः) इन्द्रियोंका जो विषयोंके प्रति अभिलाषीपना है वह अभ्यन्तर परिग्रह है। (तत्र) इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें (निर्मोहः) जो ममता नहीं रखता है वह (निर्ग्रंथः) निर्ग्रंथ है और वही (अर्थतः) सच्चा (शिवपुरे पान्थः) मोक्षमार्गमें प्रस्थान करनेवाला है ।

भावार्थ—शरीरको बाह्य और इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति अभिलाषीपनेको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं। इन दोनों प्रकारके परिग्रहका ही नाम ग्रन्थ है । जो इस ग्रन्थसे रहित है उसको निर्ग्रंथ कहते हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियोंकी ममतासे रहितको निर्ग्रंथ कहते हैं और ऐसे निर्ग्रंथ ही मोक्षके मार्गमें सच्चे प्रस्थान करनेवाले होते हैं ।

अब—कषाय और इन्द्रिय कृत अपायोंका अनुस्मरण करते हुए उपदेश देते हैं—

कषायेन्द्रियतन्त्राणां तत्तादृग्दुःखभागिताम् ।
परामृशन्मा स्म भवः शंसितव्रत तद्वशः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(शंसितव्रत) हे प्रशंसित व्रत! तू (कषायेन्द्रियतंत्राणां तत्तादृग्दुःखभागितां परामृशन्) कषाय और इन्द्रियोंके परतन्त्र व्यक्तियोंके अवर्णनीय दुःखानुभवनको देखकर (तद्वशः मा स्म भवः) इन कषाय और इन्द्रियोंके वश मत हो ।

भावार्थ—हे प्रशंसित रीतिसे व्रतके पालनेवाले क्षपक ! अनगार धर्मामृतके छट्ठे अध्यायमें जिसका विस्तारसे वर्णन किया है उस कषाय और इन्द्रियोंके वशमें जानेवालोंके दुःखभागिता अर्थात् दुःखानुभवनका स्मरण करके तू इन कषाय और इन्द्रियोंके वशमें मत हो ।

अब—इसप्रकारसे व्यवहार आराधनाकी निष्ठताको कराकर निश्चयआराधनाका उपदेश देते हैं—

श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वाऽक्षरमेव वा ।
यत्किंचिद्रोचते तत्रालम्ब्य चित्तलयं नय ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ—अहो व्यवहाराराधनातत्पर क्षपक ! तुझे (श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वा अक्षरं एव) श्रुतस्कंधका वाक्य, पद, अथवा केवल अक्षर ही (यत् किंचित् रोचते) जो कुछ भी रुचता हो (तत्र आलम्ब्य) उसमें आसक्त होकर (चित्तलयं नय) चित्तको तन्मय कर ।

भावार्थ—हे व्यवहार आराधनतत्पर उपासक ! तुम्हारी शक्ति अब क्षीण है इसलिये द्वादशांग अथवा प्रकीर्णक रूप श्रुतस्कंधके किसी वाक्यका चाहे वह अध्यात्मरूपसे हो अथवा चाहे वह बाह्य रूपसे हो, अवलम्बन करके उसीमें आसक्त होकर अपने चित्तको तन्मय करो अथवा " णमो अरिहंताणम् " इत्यादि पदका अथवा अ. सि. आ. उ. सा. इनमेंसे किसी भी एक अक्षरका अवलम्बन करके

अपने चित्तको तन्मय होकर भक्तिसे लीन करो। क्योंकि इन श्रुतज्ञान सम्बन्धी वाक्य पद व अक्षर रूप तीनोंके अवलम्बनको निश्चय आराधनाका साधन माना है।

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वाऽर्य स्वसंविदा।
भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(आर्य) हे आराधनतत्पर ! (श्रुतेन) "एगो मे सासदो आदा" इत्यादि श्रुतसे (शुद्धं) राग द्वेष और मोहरहित शुद्ध (स्वात्मानं) अपने चिद्रूप आत्माको (गृहीत्वा) ग्रहण करके तथा (स्वसंविदा भावयन्) स्वसंवेदन अनुभव करते हुए (तल्लयापास्तचिन्तः) शुद्ध स्वात्माकी तन्मयतासे सर्व प्रकारके संकल्पोंको दूर करते अर्थात् निर्विकल्प समाधिमें लीन होकर (मृत्वा) प्राणोंको छोड़कर (निर्वृत्तिं एहि) मुक्तिका लाभ करो।

भावार्थ—हे आराधकराज ! ऊपर जो श्रुतका अवलंबन बताया है उसका खुलासा यह है कि "एगो मे सासदो आदा" इत्यादि श्रुतसे आत्माके स्वरूपको ज्ञानदर्शनमय समझ तथा बाह्य सब पदार्थ संयोगलक्षण हैं तेरे नहीं हैं. यह समझकर अनन्तर स्वसंवेदनके द्वारा तदनुसार अनुभव करते हुए सब विकल्पोंको लय करके निर्विकल्प होकर इन प्राणोंको छोड़कर मुक्तिपदको प्राप्त होओ।

अब—उस ही उक्त अर्थको निश्चय समाधिमरणके उपदेशसे समर्थन करते हैं—

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवादिभिः।
यः स्वस्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (निर्विकल्पस्य योगिनः स्वस्वभावे विन्यासः) निर्विकल्प योगीका स्व स्वभावमें विन्यास है (स हि) वही (निश्चयवादिभिः) व्यवहारनयकी अपेक्षा रखनेवाले निश्चय-वादियोंके द्वारा (निश्चयनयेन सन्यासः उक्तः) निश्चयनयसे पूर्व प्ररूपित सन्यासमरण है।

भावार्थ—व्यवहारनयकी अपेक्षा रखकर निश्चयनयवादी निश्चयनयसे योगीके निर्विकल्प होकर मरणको ही निश्चय समाधिमरण कहते हैं।

अब—परीषह आदिके द्वारा चलायमान क्षपकके लिए निर्यापकाचार्य क्या करे यह बताते हैं—

परीषहोऽथवा कश्चिदुपसर्गो यदा मनः।
क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञानसारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (क्षपकस्य मनः) क्षपकके मनको (परीषहः) परीषह (अथवा) अथवा (कश्चिद् उपसर्गः) कोई उपसर्ग (क्षिपेत्) चलायमान करे (तदा) उस समय निर्याप-काचार्य (ज्ञानसारैः) ज्ञानके आख्यानों द्वारा (प्रत्याहरेत्) क्षपकके मनको इधर उधरसे हटाकर शुद्ध स्वात्माके उपयोगके सन्मुख करे।

भावार्थ—यदि उस समय किसी परीषह व उपसर्गके निमित्तसे क्षपकका मन शुद्धोपयोगसे

चलायमान होवे तो निर्यापकाचार्य सारभूत ज्ञानाख्यानों द्वारा संभाले, उसके मनको शुद्धोपयोगके सन्मुख करे।

अब—ज्ञानसारः इसकी व्याख्या विस्तारसे दिखाते हैं—

दुःखाग्निकीलैराभीलैर्नरकादिगतिष्वहो।
तप्तस्त्वमङ्गसंयोगात् ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(अहो) हे उपासक! (त्वम्) तू (ज्ञानामृतसरः अविशन्) शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है इस ज्ञानामृतके सरोवरमें अवगाहन न करनेवाला (अंगसंयोगात्) शरीरके सम्बन्धसे (नरकादिगतिषु) चारों ही गतियोंमें (आभीलैः) जिनका प्रतीकार शक्य ही नहीं है ऐसे (दुखाग्निकीलैः) शारीरिक व्याधि और मानसिक आधि रूपी दुःखकी ज्वालाओंसे (तप्तः) संतापको प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—हे संन्यासमरणोद्युक्त उपासक! तुमने मैं भिन्न हूं और शरीर भिन्न है इस प्रकारके भेदज्ञान रूपी अमृतके सरोवरको अवगाहन नहीं किया है और तू बहिरात्मा बना रहा है, इसलिये तू इस शरीरके सम्बन्धसे चारों ही गतियोंमें जिनका प्रतीकार नहीं किया जासकता है ऐसे दुःखोंसे संतप्त होरहा था।

इदानीमुपलब्धात्मदेहभेदाय साधुभिः।
सदाऽनुगृह्यमाणाय दुःखं ते प्रभवेत्कथम् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(इदानीं) और अब (उपलब्धात्मदेहभेदाय) प्राप्त हुआ है आत्मा और देहका भेद जिसको ऐसे तथा (साधुभिः) साधुओंके द्वारा (सदा) सदैव (अनुगृह्यमाणाय) अनुग्रहको प्राप्त हो अतः (ते) तुम्हारे लिए (दुःखं) दुःख (कथं) कैसे (प्रभवेत्) आक्रमण कर सकता है? किसी भी प्रकारसे तुम्हारे ऊपर दुःख आक्रमण नहीं कर सकता है।

भावार्थ—भेदविज्ञानके अभावमें ही चारों गतियोंमें दुःख होता है परन्तु इस समय तुमने भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है, साधुजन तुमारे ऊपर शाभकल्पसे सदा अनुग्रह करनेमें उद्यत हैं, फिर भला बताओ अब तुमारे ऊपर किसी प्रकारका भी दुःख अपना प्रभाव कैसे डाल सकता है? अर्थात् किसी भी तरहसे प्रभाव नहीं डाल सकता है।

दुःखं संकल्पयन्ते ते समारोप्य वपुर्जडाः।
स्वतो वपुः पृथक्कृत्य भेदज्ञाः सुखमासते ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—('ये') जो (वपुः समारोप्य) मेरा यह है, इस प्रकारसे शरीरके प्रति आत्माका संकल्प करके अर्थात् शरीरको आत्मा मानकर (दुःखं संकल्पयन्ते) मैं दुःखी ऐसा संकल्प करते हैं अर्थात् समझते हैं (ते जडाः) वे अज्ञानी हैं, बहिरात्मा हैं परन्तु (भेदज्ञाः) शरीर और

आत्माको भिन्न अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि (स्वतः वपुः पृथक्कृत्य) अपनेसे शरीरको भिन्न अनुभव करके (सुखमासते) सुख सहित रहते हैं अर्थात् स्वात्मोत्थ जो आनन्द है उसके अनुभव करनेवाले होते हैं। भय मृत्यु आदिको पुद्गलगत मानते हैं, आत्माको नहीं।

भावार्थ—जो शरीरमें आत्माकी बुद्धि रखनेवाले हैं, वे शरीरमें आत्मबुद्धिके कारण ही "मैं दुःखी हूं" ऐसा मानते हैं, वही बहिरात्मा हैं, जड़ हैं, अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु जो अपनेसे शरीर भिन्न है ऐसे भेदज्ञानी हैं वे सदैव आत्मोत्थ, चिदानन्दमय सुखका अनुभव करते हैं और वे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानी आदि शब्दसे कहे जाते हैं। उनके अन्तरङ्गमें मृत्यु आदिका भय नहीं होता है। कहा भी है—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवेतानि पुद्गले॥
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यादि॥

अर्थ—मुझे जब मृत्यु ही नहीं तो भय किसका, मुझे जब व्याधि ही नहीं तो पीड़ा कैसी, न मैं बालक हूं, न वृद्ध हूं और न युवा हूं; ये सब व्यवहार पुद्गलमें हैं, आत्मामें नहीं। जीव भिन्न है और पुद्गल भिन्न है, इत्यादि।

परायत्तेन दुःखानि बाढं सोढानि संसृतौ।
त्वयाऽद्य स्ववशः किञ्चित् सहेच्छन्निर्जरां पराम्॥ ९८॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (संसृतौ) अनादि संसारमें (परायत्तेन त्वया) पराधीन होकर तूंने (बाढं) बहुत ही (दुःखानि सोढानि) दुःख सहे हैं (अद्य) अब इस समय सल्लेखनाके करते समय तू (परां निर्जरां इच्छन्) उत्कृष्ट निर्जराकी इच्छा करता हुआ (स्ववशः) स्वाधीन होकर (किंचित् सह) स्वल्पकाल क्षुधादि परीषहको सहन कर।

भावार्थ—हे क्षपक! इस संसारमें अनादिकालसे तूंने पराधीन होकर बहुत दुःख सहे हैं परन्तु अब इस समयपर तू आसन्नमृत्यु है; जो पहले कभी नहीं मिली है ऐसी सल्लेखना कर रहा है, यदि इससमय परीषह उपसर्गजनित थोड़ेसे दुःखको सहन कर लेगा तो तेरी उत्कृष्ट निर्जरा होगी। इसलिये शांत परिणामसे स्वाधीन होकर किंचित्काल तक इन परीषह और उपसर्गोंको सहन कर।

यावद् गृहीतसंन्यासः स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः।
तावन्निहन्याः कर्माणि प्रचुराणि क्षणे क्षणे॥ ९९॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (यावत्) जबतक (गृहीतसंन्यासः) तू सन्यासको लेकर (स्वं ध्यायन्) आत्मध्यानमें लीन होता हुआ (संस्तरे वसेः) इस संस्तर पर आरूढ़ है (तावत्) तबतक (क्षणे क्षणे) प्रतिक्षण (प्रचुराणि कर्माणि निहन्याः) प्रचुर कर्मोंका नाश करे अर्थात् निर्जरा कर।

भावार्थ—हे आराधक ! संन्यासको लेकर जबतक तुम आत्मध्यान करते हुए इस संस्तरपर आसन्न हो तबतक प्रति समयमें असंख्यात कर्मोंकी निर्जरा करो।

पुरुभायान् बुभुक्षादिपरीषहजये स्मर।
घोरोपसर्गसहने शिवभूतिपुरःसरान् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ—(परीषहजये) परीषहोंके विजय करनेके समय (पुरुप्रायान् स्मर) श्री वृषभदेवादिकका स्मरण कर। और (घोरोपसर्गसहने) घोर उपसर्गोंके सहनके समय (शिवभूतिपुरःसरान् स्मर) शिवभूति आदि महामुनियोंका स्मरण कर।

भावार्थ—हे क्षपक ! परीषहके सहनेके समय श्री वृषभदेवादिकका स्मरण करो और घोरोपसर्गके सहनेके समयपर शिवभूति आदि मुनियोंका स्मरण करो।

तृणपूलबृहत्पुञ्जे संक्षोभ्योपरि पातिते।
वायुभिः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाऽभूदाशु केवली ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(वायुभिः) हवाके द्वारा अर्थात् आंधीके द्वारा (संक्षोभ्य) चलायमान करके (तृणपूलबृहत्पुंजे) घासकी गंजी (उपरि पातिते) ऊपर आपड़नेपर (शिवभूतिः) शिवभूति महामुनि (आशु स्वं ध्यात्वा) तत्काल आत्मध्यान करके (केवली अभूत) केवली हुए हैं।

भावार्थ—हे क्षपक ! शिवभूति महामुनिके ऊपर घासकी गंजी हवासे उड़कर आकर पड़ी थी। उस समय उन्होंने निर्विकल्प वृत्तिसे शुद्ध आत्माका ध्यान किया था। इसीलिए वे तत्काल ही निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। यह अचेतन कृत उपसर्ग सहन करनेवाले मुनिराजका उदाहरण है।

न्यस्य भूषाधियाङ्गेषु संतप्ताः लोहशृङ्खलाः।
द्विट्पक्ष्यैः कीलितपदाः सिद्धा ध्यानेन पाण्डवाः ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ—(द्विट्पक्ष्यैः) शत्रु पक्षवाले कौरवोंके भानेज आदिके द्वारा (संतप्ताः लोहशृङ्खलाः) तप्तायमान लोहोंकी सांकले (भूषाधिया) हे पांडवगण ! ये तुम्हारे लिये सुवर्णके आभरण हैं, इस कल्पनाको (अंगेषु निक्षिप्य) अंगोंमें पहनाकर (कीलितपदा) जमीनमें लोहेकी कीलोंसे जिनके पैर ठोक दिये हैं ऐसे (पांडवाः) पांडव (ध्यानेन सिद्धाः) केवल स्वात्मध्यानके प्रभावसे सिद्ध हुए हैं।

भावार्थ—हे क्षपक ! पांचों ही पांडव जब तपस्या कर रहे थे उस समय कौरवोंके भानेज आदिने पुरातन वैरके निकालनेके लिये गरम लोहेकी सांखलोंको "ये तुम्हारे लिये सुवर्णके आभरण हैं।" इस प्रकार कषायपूर्वक दुष्टबुद्धिसे पहना करके उनके पैरोंमें लोहेके बड़े २ कीले ठोके थे, परन्तु उस समयपर भी इस महान् उपसर्गकी उन्होंने कुछ भी परवाह नहीं की थी। किन्तु अपनी आत्माका ध्यान ही किया था। इस कारणसे युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन तीनों ही पांडव मुक्तिको

प्राप्त हुए हैं और नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। यह मनुष्यकृत घोरोपसर्गके सहनका उदाहरण है।

शिरीषसुकुमाराङ्गः खाद्यमानोऽतिनिर्दयम्।
शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथम्॥ १०३॥

अन्वयार्थ—(शिरीषसुकुमाराङ्गः सुकुमारः) सिरीषके फूलके समान सुकोमल शरीरवाले सुकुमार मुनि (शृगाल्या) शृगालिनीके द्वारा (अतिनिर्दयं) अत्यन्त निर्दयता पूर्वक (खाद्यमानः) खाए जाकर (असून् विससर्ज) प्राणोंको छोड़ते हुए (न सत्पथम्) परन्तु इस महान उपसर्गमें विचलित नहीं हुये अर्थात् उन्होंने अपने शुद्ध आत्मध्यानका सुमार्ग नहीं छोड़ा।

भावार्थ—सुकुमार महामुनि अत्यन्त सुकुमार थे। जब वे तपके लिए वनमें गये तब वहां उनकी पूर्वभवकी वैरिन माकी जीवन जो उसी वनमें शृगालिनी हुई थी अत्यन्त निर्दयता पूर्वक उनका भक्षण किया परन्तु सुकुमार स्वामी आत्मध्यान रूपी सिद्धिके मार्गसे रत्तीभर भी च्युत नहीं हुये। यह तिर्यंचकृत घोरोपसर्गके सहनका उदाहरण है।

तीव्रदुःखैरतिक्रुद्धभूतारब्धैरितस्ततः।
भग्नेषु मुनिषु प्राणानौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक्॥ १०४॥

अन्वयार्थ—(अतिक्रुद्धभूतारब्धैः तीव्रदुःखैः) अत्यन्त क्रुद्ध होकर अधम व्यन्तर देवोंके द्वारा दी हुई असह्य बाधाओंसे (मुनिषु इतस्ततः भग्नेषु) बहुतसे मुनियोंके इधर उधर चले जानेपर भी (विद्युच्चरः स्वयुक्) विद्युच्चर महामुनि आत्मलीन होकर (प्राणान् औज्झत्) प्राणोंको छोड़ते हुए।

भावार्थ—अतिक्रुद्ध अधम व्यन्तरोंके द्वारा प्रारम्भ किये गये अत्यन्त असह्य भयंकर बाधाओंसे इतर मुनिजनोंके इधर उधर चले जानेपर भी श्री विद्युच्चर महामुनि इस घोरोपसर्गसे विचलित नहीं हुए किन्तु आत्मलीन होकर मुक्त हुए। यह देवकृत उपसर्ग सहनका उदाहरण है।

अचिन्नृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः।
सुसत्त्वा बहवोऽन्येऽपि किल स्वार्थमसाधयन्॥ १०५॥

अन्वयार्थ—(किल) आगममें उल्लेख देखा जाता है कि (बहवः अन्ये अपि सुसत्त्वाः) उक्त महामुनियोंको छोड़कर अन्य और महासात्त्विक मुनि भी (अचिन्नृतिर्यङ्देवोपसृष्टा-संक्लिष्टमानसाः) अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च और देवोंके द्वारा उपसर्गको प्राप्त होकर भी मनमें संक्लेश परिणाम न करके (स्वार्थं असाधयन्) अपने मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर चुके हैं।

भावार्थ—अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत तथा देवकृत घोरोपसर्गके सहन करनेका एक २ दृष्टान्त दे दिया है। इनके सिवाय और भी अन्य महामुनियोंने इन चारों ही प्रकारके उपसर्गोंमेंसे किसी एकके आनेपर उनको, विना संक्लेशके सहन किया है तथा अपने मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि की है।

तत् त्वमप्यङ्ग सङ्गत्य निःसङ्गेन निजात्मना।
त्यजाङ्गमन्यथा भूरिभवक्लेशैर्ग्लपिष्यसे ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—(अंग) हे अंग! (तत् त्वमपि) इसलिये तू भी (निजात्मना निःसंगेन) कर्मसे व्यतिरिक्त चिद्रूप अपनी आत्मामें संयुक्त होकर (अंग त्यज) इस शरीरको छोड़ (अन्यथा) यदि चिद्रूपमें लीनताको छोड़कर संक्लेशपूर्वक शरीरको छोड़ेगा तो (भूरिभवक्लेशैः ग्लपिष्यसे) प्रचुर संसारके दुःखोंसे तू अपनी आत्माको आकुलित करेगा।

भावार्थ—जैसे भगवान् शिवभूति आदि मुमुक्षु महात्माओंने अत्यन्त घोरोपसर्गोंके आनेपर अपना सच्चा निज परम पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध किया है। अहो महात्मन्! तुम भी उनके ही समान अपनी शुद्ध आत्मामें उपयुक्त होकर परीषह उपसर्गोंसे विचलित न होते हुए इस शरीरका परित्याग करो तथा अपना परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है उसको साधो। अन्यथा अर्थात् यदि इस समय परिणामोंमें तुमने संक्लेशको स्थान दिया तो तुमको संसारके प्रचुर दुःखोंसे दुःखी होना पड़ेगा। कहा भी है कि—

'विराद्धे मरणे देव दुर्गतिर्दूरचोदिता।
अनन्तश्चापि संसारः पुनरप्यागमिष्यति॥'

हे देव! समाधिमरणके बिगड़ जानेपर दूरसे प्रेरित हुई दुर्गति प्राप्त होती है और अनन्त संसार पुनः आधमकता है।

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्याञ्जसी दृक्।
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित्॥
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या।
स्वात्मानं भेदरत्नत्रयपरपरमं तन्मयं विद्धि शुद्धम्॥ १०७॥

अन्वयार्थ—हे (भेदरत्नत्रयपर) भेद रत्नत्रयमें तत्पर आराधकराज! सद्गुरुने उपदेश दिया है कि (प्रमदवपुः) आनंदमय (शुद्धः) द्रव्य और भावकर्मोंसे रहित (स्वात्मा एव) केवल निज आत्मा ही (उपादेयः) मुमुक्षुओंके द्वारा उपादेय है (इति) इस प्रकारसे (श्रद्धा) शुद्धस्वात्मरूप अभिनिवेश ही (दृक्) निश्चय सम्यग्दर्शन है (च) और (तस्यैव) और उस शुद्ध स्वात्माका ही (स्वानुभूत्या) स्वानुभूतिके द्वारा (विग्रहादादेः) मन वचन कायसे (पृथगनुभवनम्) पृथक् चिंतवन करना (संवित्) परमार्थभूत सम्यग्ज्ञान है। तथा (तत्रैव) उस शुद्ध निजस्वरूपमें ही (अत्यन्त तृप्त्या) अत्यन्त वैतृष्ण भावसे (मनसि लयमिते) मनको लय करके (अवस्थितिः) अवस्थान करना (चर्या) निश्चय चारित्र है अतः तू (शुद्धं परमं तन्मयं विद्धि) अपनेको परम शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमय समझ।

भावार्थ—भेदरत्नत्रयतत्पर हे क्षपकराज! सद्गुरुका उपदेश है अर्थात् आगममें कहा है कि— आनंदमय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है पर पदार्थ नहीं, इसप्रकारकी परमार्थभूत श्रद्धा निश्चय

सम्यक्त्व है, तथा उसी शुद्ध आत्माका मन, वचन, काय आदि परपदार्थसे पृथक् चिन्तवन करना परमार्थभूत निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उस परमार्थभूत शुद्धात्माके साथ जो स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान किया है उसका ही अपनी आत्मामें अत्यन्त तृप्तिपूर्वक अवस्थित करना। अर्थात् तन्मय होना ही= आत्मलीन होना ही निश्चयचारित्र है। अतः तू अपनेको इन निश्चयरूपसे परम शुद्ध रत्नत्रयात्मक समझ। कहा भी है कि—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥

अर्थ—आत्माका विनिश्चय ही सम्यग्दर्शन है, आत्माका परिज्ञान ही बोध है और अपनी आत्मामें आत्माकी स्थिति निश्चयचारित्र है, इसप्रकारसे इन तीनोंके होनेसे जीवको बन्ध भला फिर कैसे हो सकता है? अर्थात् निश्चय रत्नत्रयके होनेपर आत्माको बन्ध नहीं होता है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन आराधनाको बताकर अब—आगे तप आराधनामें तत्परताका उपदेश देते हैं—

मुहुरिच्छामणुशोऽपि प्रणिहत्य श्रुतपरः परद्रव्ये।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं प्रतपसि तदसि ध्रुवं तपसि॥ १०८॥

अन्वयार्थ—हे क्षपक! (श्रुतपरः सन्) श्रुतज्ञान भावनामें तत्पर होकर (परद्रव्ये) परद्रव्यमें होनेवाली (अणुशः अपि इच्छाम्) अणुके बराबर भी इच्छाको (मुहुः) वारंवार (प्रणिहत्य) नाश करके (यदि) यदि (निर्विघ्नं) निर्विघ्न रूपसे (स्वात्मनि प्रतपसि) अपनी आत्मामें दीप्यमान होगा (तद्) तो (ध्रुवं) अवश्य ही तू (तपसि असि) निश्चयरूपसे साक्षात् मोक्षके साधनभूत तप आराधनामें तत्पर है।

भावार्थ—हे आराधकराज यति! तू श्रुतज्ञान भावनामें तत्पर होकर परद्रव्य संबंधी इच्छाओंका पूर्ण त्याग करके पुनः पुनः अपनी आत्मामें निर्विघ्न रीतिसे देदीप्यमान है तो निश्चयसे तू साक्षात् मोक्षके साधनभूत तप आराधनमें तत्पर है ऐसा समझ। इस प्रकार ग्रन्थकारने चार प्रकारकी आराधनाओंका कथन किया है यह समझना चाहिये।

अब—व्यवहार और निश्चय आराधनाओंके द्वारा साध्य जो परमानंदका लाभ है वह क्षपकमें प्रगट होवे। इस प्रकारके आशीर्वादसे निर्यापकाचार्य क्षपकका उल्लास बढ़ाते हैं—

नैराश्यारब्धनैसंग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः।
निरुपाधिसमाधिस्थः पिबानन्दसुधारसम्॥ १०९॥

अन्वयार्थ—अहो व्रतशिरोरत्न धारक! तू (नैराश्यारब्धनैसंग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः) परद्रव्यकी आशाके परित्यागसे प्रारब्ध जो बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग उससे धारण की है सिद्ध परमेष्ठीकी समानता जिसने ऐसा होकर (निरुपाधिसमाधिस्थः) ध्यान ध्याता और ध्येयके विकल्पसे

रहित जो निर्विकल्प समाधि उसमें स्थिर रहकरके (आनंदसुधारसं पिव) आनन्दरूपी सुधारसका पान कर।

भावार्थ—हे क्षपकराज! अब तुम जीवन धनादिककी आकांक्षासे रहित होनेके कारण प्रारब्ध किये गये अपरिग्रहपनेसे सिद्धके समान निःपरिग्रहताको धारण करनेवाले होते हुये तुम ध्यान ध्याता और ध्येयके विकल्पसे रहित निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर चिदानंदमय सुधारसके पान करनेवाले होओ।

अब—इस अध्यायमें वर्णित कथनका उपसंहार करते हुए आराधकके आराधनापूर्वक मरणके फलविशेषको बताते हैं—

> संलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मीणनिर्यापक-
> न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयंल्लिंगं तदीयं परः।
> सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधर-
> स्त्यक्त्वा पञ्चनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥११०॥

अन्वयार्थ—(शिवाशाधरः श्रमणः) मोक्षके लिए आशाका धारक अर्थात् मुमुक्षु मुनि (अलङ्कर्मीणनिर्यापकन्यस्तात्मा 'सन्') निश्चयनयसे संसाररूप समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ शुद्ध स्वभावानुभूतिरूप परिणाममें संमुख अपनी आत्माके प्रति अर्पण की है अपनी आत्माको जिसने ऐसा अर्थात् स्वयं निर्यापकाचार्यरूप और व्यवहारनयसे संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ जो निर्यापकाचार्य उनको समर्पित कर दी है अपनी आत्माको जिसने ऐसा होकर (इति) इसप्रकारसे (कषायवत् वपुः संलिख्य) कषायके समान शरीरको कृश करके (तदेव लिङ्गं कलयन्) पूर्वमें गृहीत औत्सर्गिक मुनि लिङ्गको धारण करता हुआ (सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः) यथासम्भव गुणस्थानोंके अनुसार निश्चय रत्नत्रयके अभ्याससे चरमगुणस्थानवर्ती योगी होकर (प्राणान् त्यक्त्वा) प्राणोंको छोड़कर (शिवी स्यात्) मुक्त हो। यह उत्कृष्ट सल्लेखनाके पक्षका व्याख्यान है। मध्यम आराधनाके पक्षमें (सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः शिवी स्यात्) सद् रत्नत्रय भावना परिणतका अर्थ समीचीन संवर और निर्जरामें समर्थ जो रत्नत्रय भावना उससे उपयुक्त होकर शिवी अर्थात् इन्द्रादिक अभ्युदयोंका अधिकारी होता है। और सब कथन पूर्ववत् समझना चाहिए। और जघन्यपक्षमें आधुनिक मुनियोंकी अपेक्षा वह श्रमण (पंचनमस्क्रियास्मृति प्राणान् त्यक्त्वा) पंच नमस्कार मन्त्रका उच्चारण व स्मरण करते हुये प्राणोंको छोड़कर (अष्टजन्मान्तरे शिवी स्यात्) आठ भवोंमें मुक्त होता है यह संयतोंकी उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य फल देनेकी अपेक्षासे सल्लेखनाका फल है और श्रावकके पक्षमें (परः) श्रावक "तदेव लिङ्गं कलयन्"की जगह (तदीयं लिंगं कलयन्) मुनिके लिंगको धारण करते हुए समीचीन रत्नत्रयकी भावनामें परिणत होता हुआ पञ्च नमस्कारपूर्वक प्राणोंको छोड़कर (शिवी

स्यात्) यथायोग्य अभ्युदयपूर्वक यथायोग्यकालमें मुक्तिको प्राप्त करता है ऐसा अर्थ करना चाहिए ।

भावार्थ—सल्लेखना धारक मुनि और श्रावक दोनों होते हैं। मुनिकी अपेक्षा इस पद्यके शब्दोंके थोड़े हेरफेरसे तीन अर्थ किए हैं । उत्तम आराधना करनेवाला मुमुक्षु मुनि कषायोंके समान शरीरको कृश करके अपनेको निश्चयनयसे सर्व क्रियाओंमें समर्थ अपनी आत्माको अपनेके लिए समर्पण करके और व्यवहारनयसे निर्यापकाचार्यको समर्पण किया है जिसने ऐसा होता हुआ मुनिलिंगका धारक होकर समीचीन प्रकारसे संवर और निर्जरामें समर्थ यथाक्रमसे गुणस्थानोंको चढ़कर १४ में अयोग-केवली गुणस्थानवर्ती परमयोगी होकर प्राणोंको छोड़ करके उसी भवमें मुक्तिको प्राप्त होता है और मध्यम पक्षमें और सब पूर्ववत् अर्थ लेना चाहिए । केवल चरम गुणस्थानकी जगह समीचीन रत्नत्रयकी भावनामें परिणत होता हुआ मुनिलिंगका धारक यथायोग्य संवर निर्जरापूर्वक प्राणोंको छोड़कर "शिवी" अर्थात् इन्द्रादिक पदका धारक होता है यह अर्थ किया है । और जघन्य आराधनाकी अपेक्षासे "पञ्चनमस्क्रियास्मृतिप्राणान् मुक्त्वा अष्टजन्मांतरे शिवी स्यात्" पञ्चनमस्कारपूर्वक प्राणोंको छोड़ता हुआ मरकर अष्टभवमें मुक्त होता है यह अर्थ किया है कि उत्तम और मध्यम पक्षमें सल्लेखनावाला यथायोग्य आत्माके उपयोग सहित प्राणोंको छोड़ता है, मुक्त तथा इन्द्रादि यथाक्रमसे होता है और जघन्य आराधक पञ्चनमस्कारके उच्चारण अथवा स्मरणपूर्वक मरण करता है और कल्पवासी देव होता है ।

जो मुनि होकर सल्लेखना करते हैं उनकी अपेक्षा इस पद्यमें "तदेव लिङ्गं कल्यन्" यह विशेषण है, अर्थात् अपने मुनि लिंगको धारण करते हुए मुनि प्राणोंका त्याग करते हैं, परन्तु जो साधक सम्यग्दृष्टि व श्रावक हैं उनकी अपेक्षासे इस पदके स्थानमें "तदीयं लिङ्गं कल्यन्" यह विशेषण लगाना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टि और श्रावक सल्लेखना करते समय मुनि सम्बन्धी लिंगकी भावनाको धारण करते हुये प्राणोंको छोड़कर यथायोग्य कालमें अभ्युदयके और निश्रेयसके फलोंको पाते हैं। ऊपर जो ग्रन्थकारने निश्चयनयसे अपनी आत्माको निर्यापकाचार्य बताया है उस सम्बन्धमें यह पद्य पाया जाता है कि—

> स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञायकत्वतः ।
> स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ १ ॥

आत्मा ही सच्ची अभिलाषाओंका कर्ता है. इष्टका ज्ञापक है और हितका प्रयोक्ता है । इसलिये आत्मा ही वास्तवमें आत्माका गुरु है ।

आगममें आराधनाके फल बतानेवाले कुछ पद्य पाये जाते हैं—

> कालाई अहिऊण च्छित्तूणं अट्ठकम्मसंखलयं ।
> केवलणाणपहाणा केई सिज्झंति तहि भवे ॥ १ ॥

आराधना धारण करके यथाकाल आठ कर्मोंकी शृंखलाको तोड़कर कोई आराधक उसी

भवमें केवलज्ञानप्रधान होकर मुक्तिको पाते हैं (यह उत्तम आराधनाका फल है)।

> आराहिऊण केई चउव्विहाराहणावि जं सारं।
> उव्वरियसेसपुण्णो सव्वट्ठणिवासिणो होंति ॥ ३ ॥

कोई चार प्रकारकी आराधना धारण करके सर्वार्थसिद्धि निवासी होते हैं (यह मध्यम आराधनाका फल है)।

> जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु भवियाणं।
> सत्तट्ठभवे गंतुं ते विय पावंति णिव्वाणं ॥ ३ ॥

जो जघन्य रीतिकी आराधना साधते हैं वे भी ७–८ भवमें निर्वाण प्राप्त करते हैं।

और भी आगममें कहा है कि—

> येपि जघन्या तेजोलेश्यामाराधनामुपनयंति।
> तेपि च सौधर्मादिषु भवंति देवाः सुकल्पस्थाः ॥ १ ॥

जो तेजो लेश्यायुक्त जघन्य आराधनाको सिद्ध करते हैं, वे सौधर्मादि कल्पोंमें देव होते हैं।
और भी कहा है कि--

> ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः।
> चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात ॥ २ ॥

जो ध्यानके अभ्यासके प्रकर्षसे मोहके तोड़नेवाले चरम शरीरवाले योगी हैं, उनके उसी भवमें मुक्ति होती है। जिनके ध्यानके अभ्यासका पूरा प्रकर्ष नहीं होता है, जो चरम शरीरी नहीं हैं वे आराधनाके फलसे परम्परासे मुक्तिके अधिकारी होते हैं।

> तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
> निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ ३ ॥

सदा ध्यानका अभ्यास करनेवाले अचरमशरीरीके अशुभ कर्मोंकी संवर और निर्जरा होती है।

> आस्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं।
> यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ ४ ॥

और प्रतिक्षण बहुतसे शुभ कर्मोंका आश्रव होता है जिससे वह कल्पवासी देव होता है।

> तत्र सर्वेन्द्रियाह्लादि मनसः प्रीणनं परं।
> सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥ ५ ॥

हां पर वह चिरकाल तक देवोंसे सेवित होकर सर्व इन्द्रियोंके आह्लादकारक और मनको आह्लाद देनेवाले सुखामृतका पान करता हुआ रहता है।

> ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
> चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगम्बरीं श्रितः ॥ ६ ॥

फिर स्वर्गसे चय चक्रवर्ती आदिकी संपदाका भोग करके और उन संपत्तियोंसे स्वयं विरक्त होकर त्याग भी करके जिनदीक्षा लेता है।

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं।
विधूयाष्ट च कर्माणि श्रयते मोक्षसम्पदम् ॥ ७ ॥

और उत्तम संहननवाला वह ४ प्रकारके शुक्लध्यानको ध्याय कर अष्टकर्मोंको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त होता है।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी श्रावककी सल्लेखनाके विषयमें कहा है कि—

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनु त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ ८ ॥

अपनी शक्तिके अनुसार खरपानके त्यागक्रमसे त्याग करके अर्थात् स्निग्धपानादिकका जैसा क्रम इस ग्रन्थमें बताया है तदनुसार त्याग करके तथा इकदम उपवास भी करके सर्व प्रयत्नसे मनमें पञ्च नमस्कार मन्त्रको धारण करते हुए शरीरको छोड़े।

भद्रम्।

इसप्रकार आशाधर विरचित भव्यकुमुदचन्द्रिका नामकी स्वोपज्ञ धर्मामृत सागारधर्मकी टीकामें आदिसे १७ और सागारके प्रकरणकी अपेक्षा आठवां अध्याय पूर्ण हुआ।

× × ×

इस प्रकार बरूवासागर (झांसी) निवासी—वर्तमानमें कारंजा निवासी देवकीनन्दनकृत सागारधर्मामृतका अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



प्रशस्ति ।

[श्री० पं० आशाधरजीके परिचयमें श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमीने अनगारधर्मामृतकी प्रशस्ति और उसका अर्थ दिया है । उसमें सागारधर्मामृतकी प्रशस्तिके २० श्लोक ज्योंके त्यों आ जाते हैं । शेष ४ श्लोक ही ऐसे हैं जिनका संबंध सागारधर्मामृतसे ही है । इसलिए यहाँपर सागारधर्मामृतकी संपूर्ण प्रशस्ति देकर उसमेंसे मात्र अंतिम ४ श्लोकोंका ही अर्थ दिया जाता है । शेषका अर्थ ग्रन्थके प्रारम्भमें पं० आशाधरजीके परिचयसे ज्ञात हो जायगा ।]

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत् ।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीमल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत् ।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रञ्जितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥३॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुंजोऽसी ति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि ।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ॥ ६ ॥

इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
सत्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः,
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के॥ ९॥
स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात्॥ १०॥
सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं,
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोहनमयं स्वश्रेयसेऽरीरचत्।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं,
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि॥ ११॥
आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम्।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः॥ १२॥
यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम्।
व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ॥ १३॥
रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालंकारस्य निबन्धनम्।
सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम्॥ १४॥
सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत्।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात्॥ १५॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम्॥ १६॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णनम्।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः॥ १७॥
सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम्।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम्॥ १८॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नाऽवन्तीनऽवत्यलम्॥ १९॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥

षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २१ ॥

संवत १२९६ पौष वदी ७ शुक्रवारको यह टीका पूर्ण हुई है ।

श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिदं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखनोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥

जिसके अनुरोधसे यह सागारधर्मके लिए दीपकके समान सागारोंके धर्मका प्रकाशक यह ग्रन्थ पं० आशाधरजीने लिखा है तथा इस ग्रन्थकी प्रथम पुस्तक भी जिसने लिखी है वह पौरपाट जातिके कुलमें उत्पन्न समुदुर सेठका पुत्र महीशचंद चिरकाल आनंदित रहो ।

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेश्छिन्दानमन्तस्तमः
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुतः पुंसां दृशामुत्सवम् ।
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानाऽनिशम्
भव्यानां पुरतोऽत्र देशविरताचारप्रचारोद्धुरा ॥ २३ ॥

जब तक संसारमें जिनशासन भव्योंके मनके अन्धकारको नाश करेगा, चन्द्र और सूर्य लोगोंकी आंखोंको आनन्द देवेंगे तब तक भव्योंके लिए धर्माचार्योंके द्वारा इस टीकाका व्याख्यान होता रहे, अर्थात् इस टीकामें जो श्रावकाचार वर्णन है उसका प्रचार होता रहे ।

अनुष्टुप्छन्दसां पञ्चशताग्राणि सतां मता ।
सहस्राण्यस्य चत्वारि ग्रन्थस्य प्रमितिः किल ॥ २४ ॥

यह टीका ४५०० हजार श्लोकप्रमाण है ।



अकारादि क्रमसे श्लोकोंकी अनुक्रमणिका।